मुक्तिबोध के काव्य में सामाजिक चेतना

SOCIAL CONSCIOUSNESS IN THE POETRY OF MUKTHIBODH

Thesis submitted to
THE COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
for the Degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By
SADANANDAN. V. S.

Prof. & Head of the Department
Dr. P. V. VIJAYAN

Supervising Teacher
Dr. M. SHANMUGHAN

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

1991

DECLARATION

I hereby declare that the thesis entitled "MUKTHIBODH KE KAVYA ME SAMAJIK CHETANA" has not previously formed the basis of the award of any degree, diploma, associateship, fellowship or other similar title or recognition.

SADANANDAN.V.S.

Department of Hindi,

Cochin University of Science & Technology

Kochi-682022.

Date: 11. 11. 91

C E R T I F I C A T E

This is to Certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by Shri. SADANANDAN.V.S. under my supervision for Ph.D. and no part of this has hitherto been submitted for degree in any University.

Dr.M.SHANMUGHAN

(Supervising Teacher)

Department of Hindi,

Cochin University of
Science & Technology

Kochi-682022

Date: 11· 11·91

ACKNOWLEDGEMENT

This work was carried out in the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Kochi-22 duringthe tenure of fellowship awarded to me by the Cochin Universityof Science and Technology. I sincerely express my gratitude to the Cochin University of Science and Technology for its help and encouragement.

SADANANDAN.V.S.

Department of Hindi

Cochin University of
Science & Technology

Kochi-682022.
11. 11. 91

पुरोवाक्

कोई भी "कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचना" है । यह स्वानुभूति कलाकार को सामाजिक जीवन से ही उपलब्ध होती है । याने किसी भी कलाकृति का आधार समाज है । लेकिन सिर्फ स्वानुभव की अनुभूति व कल्पना के सहारे पुनर्सृष्टि करके प्रस्तुत करने से रचना युग की सीमाओं को लांघकर सर्वकालीन नहीं बनती है । जिस रचना में भविष्य को पकडने और प्रस्तुत करने की सक्षमता होती है वही कालजयी बनती है । इसके लिए रचनाकार को समाजोन्मुख होने के साथ -"समाज-चेता" भी रहना चाहिए । समाज चेता कवि ही युगीन समाज के अन्तर्विरोधों को समझने की कामयाबी हासिल करते हैं और उन्हें तिरस्कार करते हुए नए समाज की संरचना के लिए राह भी दिखा सकते हैं । वही युग प्रवर्तक कवि बन जाते हैं ।

गजानन माधव मुक्तिबोध को इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त है । उन का काव्य सारे वादों से अलग और परे है । उनकी दृष्टि वर्तमान जीवन के संघर्ष पर ही रही और जो देखा, जाना, समझा, सोचा वही लिखा और वही उनका काव्य बन गया । इसी प्रकार जब हिन्दी कविता भिन्न वादों और पतनशील प्रवृत्तियों से ग्रसित थी तब मुक्तिबोध ने अपनी प्रखर सामाजिक दृष्टि से नयी चेतना भर दी ।

लेकिन मुक्तिबोध अपनी मृत्यु के समय तक साहित्य क्षेत्र में तिरस्कार और उपेक्षा का पात्र बने रहे । उन को छोडकर कोई ऐसा कवि नहीं होगा जिसने आजीवन वैयक्तिक और साहित्यिक स्तर पर इतने अधिक तिरस्कारों को एक साथ झेल लिया था । लेकिन मृत्यु के बाद वे एकदम लोकप्रिय बन गये । पत्र-पत्रिकाओं में उनकी प्रतिभा की सराहना करते हुए लेख छपने लगे । साहित्यिक और आलोचक लोग उसके द्वारा नामी हो गए । कई आलोचकों ने उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की गहराई तक उतर कर उसके विभिन्न आयामों को प्रस्तुत किया । इस दौरान अनेकों ने अपनी दृष्टि के अनुसार मुक्तिबोध की व्याख्या की । अपनी दृष्टि से व्याख्या करने की वजह

उनकी महान् प्रतिभा के कई महत्वपूर्ण तत्वों की उपेक्षा हुई । कई लोगों ने उन्हें किसी न किसी वाद विशेष से बांध दिया है तो कई लोगों ने उन्हें कवि मानने को भी इनकार कर दिया ।

उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विभिन्न आयामों को उजागरित करनेवाले निम्नलिखित शोध ग्रंथ प्रकाशित हो गए हैं - "गजानन माधव मुक्तिबोध व्यक्तित्व एवं कृतित्व" [डा. जनक शर्मा], "मुक्तिबोध की काव्य-चेतना और मूल्य संकल्प" [डा. हुकुमचन्द राजपाल], "मुक्तिबोध की कविता में यथार्थबोध" [शशिबाला शर्मा], "गजानन माधव मुक्तिबोध जीवन और काव्य" [डा. महेश भटनागर] "मुक्तिबोध युग चेतना और अभिव्यक्ति" [डा. आलोक गुप्ता]

सामाजिक चेतना से संबद्ध एक ही शोध-प्रबन्ध प्रकाश में आया है - "तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना" [डा. राजेन्द्र प्रसाद] । इस में तो मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना का अवलोकन ही हुआ है समग्रतः मूल्यांकन करने की कोशिश नहीं हुई है । जैसे कि मैं ने शुरु में ही सूचित किया है कि किसी भी साहित्यकार का सही मूल्यांकन उसके परिवेश के संदर्भ में होना चाहिए, परिवेश और युग का अतिक्रमण करते हुए भविष्य की ओर बढ़ने चाहिए और आलोक दिखाने में वे कितने कामयाब हुए हैं इस आधार पर होना चाहिए । मुक्तिबोध पूर्णतः समाज चेता हैं और उनके समूचे काव्य इस समाज चेतना का प्रलंबन रहा है, इस ओर प्रकाश डालना ही मेरे इस विषय चुनाव के पीछे का सही तर्क है ।

इस शोध निबन्ध में छः अध्याय हैं ।

पहले अध्याय में साहित्य और सामाजिक चेतना का विश्लेषण हुआ है । इसके अन्तर्गत साहित्य और समाज के गहरे अन्तः संबन्ध पर प्रकाश डाला गया है ।

दूसरे अध्याय में कवियों की सामाजिक चेतना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों के कवियों की सामाजिक चेतना का विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है । इसके अतिरिक्त इस अध्याय में मुक्तिबोध के समकालीन कवियों का विश्लेषण किया है और उनकी तुलना में मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना किस प्रकार अलग होती है, उसकी विशेषता क्या है आदि बातों का भी जिक्र किया गया है ।

तीसरे अध्याय में छायावाद से यथार्थवाद की ओर मुक्तिबोध के काव्य के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला गया है । इसमें उनके प्रखर यथार्थबोध का परिचय मिलता है ।

एक समाज चेता कवि के रूप में मुक्तिबोध के काव्य में अभिव्यक्त मूल्य-दृष्टि और मानवतावादी दृष्टि का विवेचन हुआ है चौथे अध्याय में ।

पांचवें अध्याय में मुक्तिबोध की कविताओं के दार्शनिक प्रभाव की चर्चा के द्वारा उनके सामाजिक प्रतिबद्ध कवि व्यक्तित्व को ऊपर उभारने की कोशिश की है ।

छठे अध्याय में तो मुक्तिबोध के शिल्प पक्ष का विवेचन हुआ है ।

प्रस्तुत शोध की पूर्ति कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्व विद्यालय, हिन्दी विभाग के प्रवक्ता डा. एम. षण्मुखन के निर्देशन में हुई है । उनके बहुमूल्य निर्देशनों तथा सुझावों के बिना मेरा यह कार्य अधूरा ही रह जाता । उनकी निरंतर प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही मैं इस शोध कार्य की पूर्ति में सफल हो सका हूँ । मैं उनके प्रति अत्यन्त आभार प्रकट कर रहा हूँ ।

विभाग के अध्यक्ष डा. पी. वी. विजयन तथा भूतपूर्व अध्यक्ष डा. एन. रामन नायर के प्रति मैं आभारी हूँ । उन्होंने इस शोध कार्य की संपूर्ति के लिए हमेशा अनुकूल वातावरण प्रदान करते हुए निरंतर प्रोत्साहित किया है ।

मैं उन लेखकों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी पुस्तकों का उपयोग मैं ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से इस शोध प्रबन्ध में यत्र-तत्र किया है ।

हिन्दी विभाग के पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमति कुंञ्जिक्कावुट्टि तंपुरान तथा सहायक पी. ओ. ऑटणी के प्रति तहे दिल से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ । वे समय-समय पर आवश्यक पुस्तक देकर इस शोध कार्य की संपूर्ति में सहयोग देते रहे हैं ।

मैं अपनी स्वर्गीया बहिन मृणालिनी की पुण्य-स्मृति में श्रद्धांजली अर्पित करता हूँ, जिसकी प्रेरणा मेरी पढ़ाई के प्रत्येक चरण में हो रही थी ।

कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के अधिकारियों के प्रति मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। क्योंकि उन्होंने अथ से इति तक छात्रवृत्ति देकर मुझे आर्थिक संकट से बचाते हुए इस शोधकार्य की पूर्ति में सहायता की है। मेरे इस शोध-कार्य की सफलता के लिए अनेक व्यक्तियों ने मदद की है। उन सभी के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

हिन्दी विभाग,
कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्व विद्यालय, कोचि
पिन - 682 022

तारीख

सदानन्दन. वी. एस.

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

अध्याय - एक 1 - 44

साहित्य और सामाजिक चेतना

साहित्य और समाज का अन्तः संबन्ध - साहित्य-समाज संबन्धी मार्क्सवादी धारणा - साहित्य-सृजन और समाज चेतना - सामाजिक परिवर्तन में सामाजिक चेतना का योगदान - साहित्यकार-नये सृजन का दावेदार - कविता की सामाजिक-दृष्टि का महत्व - सामाजिक चेतना के आधार तत्व - समसामयिक जीवन - यथार्थ की पहचान -मूल्य और मानवीयता - सामाजिक दायित्व और प्रतिबद्धता - राजनीति ।

अध्याय - दो 45 - 100

सामाजिक चेतना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आदिकाल - धार्मिक रचनाएँ - लोकाश्रित काव्य - राजाश्रित काव्य - भक्तिकाल - निर्गुण भक्ति काव्य - सगुण भक्ति काव्य - रीतिकाल - आधुनिक काल - भारतेन्दु युग - द्विवेदी युग - छायावाद - प्रगतिवाद -
मुक्तिबोध के समकालीन कवियों की सामाजिक चेतना -
मुक्तिबोध की विशिष्टता ।

अध्याय - तीन 101 - 175

मुक्तिबोध की कविता में जीवन-यथार्थ की पहचान

मार्क्सवाद का प्रभाव - बर्गसों का प्रभाव - मार्क्सवाद की ओर झुकाव - छायावाद से यथार्थवाद की ओर मुक्तिबोध की

पृष्ठ संख्या

कविता की ऊर्ध्वगमन - मुक्तिबोध और दुख - नया सौन्दर्यशास्त्र और यथार्थ - अनुभव और यथार्थ - यथार्थ और कवि व्यक्तित्व - यथार्थ के विभिन्न आयोगों की अभिव्यक्ति - मध्यवर्ग का यथार्थ चित्रण - वर्ग-वैषम्य जनित यथार्थ का चित्रण - शोषित जनता का चित्रण - आर्थिक व्यवस्था का उन्मीलन - सहचर मित्र की मौजूदगी - नारी का शोषण ।

अध्याय - चार 176 - 247

मुक्तिबोध की कविता में मूल्य-संबन्धी दृष्टिकोण और मानवीयता

मूल्य परिवर्तन के मौलाधार कारण - पूंजीवाद - वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति - भ्रष्ट राजनीति - स्वार्थपरता - भ्रष्टाचार - मुक्तिबोध की कविता की मानवीयता - मुक्तिबोध की कविता की मूल्य-दृष्टि ।

अध्याय - पाँच 248 - 290

मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता

सशस्त्र क्रांति का समर्थन - मानव-मानव के बीच समता की स्थापना - मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता ।

अध्याय - छः 291 - 314

मुक्तिबोध का शिल्प-सामाजिक चेतना का संवाहक

मुक्तिबोध की भाषा - शब्द-प्रतीक-बिंब - फैंटसी ।

उपसंहार 315 - 321

संदर्भ-ग्रंथ-सूची 322 - 333

अध्याय - एक

साहित्य और सामाजिक चेतना

क. साहित्य और समाज का अन्तः संबन्ध

मानव जीवन एक महान सत्य है। साहित्य एक ऐसा माध्यम है, जो जीवन के सत्य से अधिक निकट है। लेकिन साहित्य में सत्य आनन्द का रूप धारण कर लेता है जो अनुभूतियों से संबंधित है।[1] याने साहित्य या कला अनुभूतियों पर आधारित हैं और अनुभूति मनुष्य की मूल वृत्तियों का परिवेश के साथ तादात्म्य होना या अनुकूलित होना है।

साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है जो समाज में जन्म लेता है और विकास पाता है। उसका अपना अलग व्यक्तित्व होने पर भी वह सामाजिक जीवन से संपृक्त रहता है। साहित्यकार के व्यक्तित्व के निर्माण में भी सामाजिक जीवन का योगदान है। उसकी अनुभूति और कल्पना भी सामाजिक देन ही है। असल में मानव-प्रकृति सामाजिक है। इसलिए कला और साहित्य के विभिन्न उपकरणों से अभिव्यक्त उसकी भावना और अनुभूति भी मूल रूप से सामाजिक और सामाजिक देन ही है।[2] फिर भी साहित्य-सृजन का कार्य वैयक्तिक होने के कारण साहित्य और समाज के रिश्ते के मूलभूत तत्व के रूप में व्यक्ति को स्वीकार करना होगा। असल में रचनाकार साहित्य रचना के तीन घटकों में एक है। अन्य दो घटक हैं - कृति और पाठक या श्रोता। इन तीनों का संबन्ध समाज से है। इसलिए "साहित्यकार की कल्पना, उसके विचार और उसकी अनुभूति सामाजिक-आर्थिक जीवन से प्रतिक्षण नियंत्रित होते हैं। उसका कृतित्व वस्तुतः सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं है।"[3]

कलाकार या साहित्यकार समाज से अपने को अलग नहीं कर सकता है । साहित्यकार सामाजिक उपादानों द्वारा चेतन मन में पड़े संस्कारों की उपेक्षा नहीं कर सकता है । कुछ क्षणों तक कल्पना-लोक में विचरने पर भी जल्दी उसे ठोस यथार्थ की भूमि पर उतरना पड़ता है । साहित्यकार अपनी अनुभूति का चयन समाज से करता है और "सुरसरि सम सब का हित" करने के लिए अभिव्यक्त करता है । अतः सचमुच कला एक सामाजिक प्रक्रिया है । "कला की उत्पत्ति समाज से होती है, जैसे मोती की उत्पत्ति सीपी से होती है ।"[4]

कला स्वयं ही एक सामाजिक घटना होती है । इसलिए कला और समाज के संबन्ध की उपेक्षा नहीं कर सकते । इसके तीन कारण हैं । जैसे कि पहले ही सूचित किया गया है कि साहित्यकार की मूल अनुभूति व्यक्तिगत होने पर भी वह एक सामाजिक प्राणी है । दूसरा कारण है साहित्य सृष्टि में रचनाकार की अनुभूति की गहरी छाप पड़ने पर भी वह साहित्यकार और समाज के बीच की कड़ी है । तीसरा कारण है कि रचना का जो प्रभाव सामाजिकों पर पड़ता है उससे वे अपने आचार-विचार, उद्देश्यों तथा मूल्यों का परिष्कार कर सकते हैं ।[5]

इस प्रकार कला और समाज का संबन्ध अटूट है । यह संबन्ध युग युगों से होकर चला आ रहा है । इसलिए ही अदाल्फो सकेज़ बाज़केज़ ने कहा "कला का इतिहास प्रायः उतना ही पुराना है जितना मनुष्य का - अर्थात् समाज का ।"[6]

लेकिन साहित्य और समाज के बीच का संबन्ध सीधा और सरल नहीं है ।[7] वह अनिश्चित एवं जटिल है । इसका एक ऐतिहासिक कारण है । वह यह है कि कलाकार और समाज एक दूसरे के प्रति अपनी दृष्टि को बदलता रहता है । जिस समाज में रहकर साहित्यकार अपनी रचना करता है वह समाज बदलते मूल्य और आदर्शों के साथ स्वयं बदल जाता है । अतः साहित्य और समाज का परस्पर संबन्ध इतिहास के साथ बदलता है । दूसरा कारण तात्विक है वह कला की मूल प्रकृति में निहित सामंजस्य की भावना है जो कला का प्राण तत्व है । इस सामंजस्य के मूल में विशेष और सार्वभौम का द्वन्द्व निहित है जिसके कारण कला की मूल प्रकृति अनिश्चित एवं

परिवर्तनशील बन जाती है - "जिस प्रकार साहित्य तथा साहित्यकार का संबन्ध ऋजु-सरल न होकर प्रायः आड़ातिरछा, जटिल एवं अप्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार, साहित्यकार और उसके सामाजिक परिवेश का संबन्ध भी प्रायः जटिल एवं अप्रत्यक्ष ही होता है ।"[8] इसलिए साहित्य और समाज के रिश्ते के अनेक रूप हैं । उनमें कुछ अनुलोम और विलोम हैं ।

साहित्य का "समाज के दर्पण" के रूप में मूल्यांकन हुआ है । यह साहित्य और समाज के संबन्ध की सब से पुरानी मान्यता है । "दर्पण" शब्द बिंब-प्रतिबिंब भाव को सूचित करता है । इससे तात्पर्य यह है कि साहित्य में समाज उसी तरह प्रतिबिंबित होता है जिसप्रकार आईने में कोई वस्तु । प्लेटो तथा अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत इससे जुड़ा हुआ है । अठारहवीं और उन्नीसवीं शति में इस सिद्धांत का परिष्कृत रूप यथार्थवाद रहा था ।

इस सिद्धांत में साहित्य में मानव जीवन के सामाजिक पक्ष का यथातथ्य चित्र की प्रमुखता होती है । इसके प्रवर्तकों के अनुसार जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश डालनेवाली चीज़ नहीं क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिंब होता है । भाव यह है कि साहित्य में उसके रचयिता के अनुभवों का प्रतिफलन अनिवार्य है और साहित्यकार अपने सामाजिक परिवेश से अपनी रचना के लिए अनुभवों को ग्रहण करता है । इससे साहित्यकार के निजी व्यक्तित्व का निराकरण तो नहीं होता किन्तु उसके व्यक्तित्व को समाज की उपज माना जाता है ।

लेकिन साहित्य और समाज का संबन्ध इसप्रकार यांत्रिक नहीं है । वह समाज का प्रतिबिंब मात्र नहीं है । इसलिए कतिपय साहित्य को जीवन की आलोचना[9] मानते हैं । इसके अनुसार साहित्य का संबन्ध अपने समकालीन समाज से अवश्य है लेकिन साहित्य समाज का यथावत् चित्रण मात्र नहीं करता है । वह समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि भी रखता है । वह मौजूदा समाज का विरोध और कटु आलोचना भी कर सकता है । लेकिन वह समाज से निर्लिप्त नहीं रह सकता ।[10] अतः साहित्य जन-जीवन का चित्रण करने के साथ-साथ सामाजिक विसंगतियों की आलोचना करता है और वह

सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम बन जाता है । जैसे बैलेंस्की ने सूचित किया है "कला या साहित्य का ध्येय जन-जीवन का चित्रण करना तथा शोषण अथवा दासता के विरुद्ध छेड़े गये जनता के संग्राम में उसका अस्त्र बनना है ।"[11] यह विचार साहित्य की उपयोगिता में निहित है ।

साहित्य-समाज संबन्धी मार्क्सवादी धारणा

मार्क्सवादी विचारधारा साहित्य एवं कला की उत्पत्ति सामाजिक जीवन से मानती है ।[12] उसके अनुसार साहित्य सामाजिक जीवन से पृथक अथवा निरपेक्ष नहीं है । मार्क्सवाद यह स्वीकार नहीं करता है कि साहित्य सिर्फ "समाज का दर्पण"है ।[13] वह कलाकार का धर्म सिर्फ यह नहीं मानता कि साहित्यकार जीवन और समाज का हूबहू वर्णन करे । मार्क्सवाद, साहित्य का महत्व उससे समाज पर पड़े प्रभावों के आधार पर मानता है । साहित्य की समूची सत्ता को सामाजिक जीवन से उत्पन्न मानते हुए मार्क्सवादी विचारकों ने साहित्य एवं सामाजिक जीवन को घनिष्ट संबन्धों को स्वीकार किया है । मार्क्स के अनुसार साहित्यकार की चेतना समाज सापेक्ष होती है ।[14] इस सन्दर्भ में डा. रामविलास शर्मा ने लिखा है - "साहित्य का पौध चूकि हमारे सामाजिक जीवन की धरती पर ही उगता है, अतः साहित्य का इतिहास सामाजिक इतिहास से अलग न होकर उसका अंग है ।"[15]

आर्थिक व्यवस्था को महत्व देने पर भी मार्क्स यह नहीं मानता है कि आर्थिक परिस्थितियाँ ही एकमात्र सर्जक शक्ति है और अन्य सब सर्वथा निष्क्रिय हैं । अन्तिम निर्णायक घटक आर्थिक आधार है । लेकिन कलाकृतियों में सीधे आर्थिक संबन्धों का विश्लेषण नहीं होता है । उनमें संश्लिष्ट सामाजिक यथार्थ का चित्रण होता है और उनमें धर्म, दर्शन, परंपरा आदि भावगत तत्वों का भी भारी योग रहता है । मार्क्स ने साहित्य और समाज के परस्पर संबन्ध को यों वाणी दी है - "यह नहीं कि आर्थिक परिस्थितियाँ ही एकमात्र कारणभूत और सक्रिय सर्जक शक्ति है शेष "सब कुछ" सर्वथा निष्क्रिय हैं । सत्य तो यह है कि आर्थिक परिस्थितियाँ यदि कलाओं की उत्पत्ति और उनके विकास के लिए जिम्मेदार है तो वे स्वयं भी इन {कलाओं} से प्रभावित हैं ।"[16]

मानव जीवन अत्यन्त विशाल और जटिल है । इसलिए कालांतर में समाज कई कारणों से पतनोन्मुख हो जाता है । साहित्यकार समाज के अधिक प्रतिभा संपन्न और सजग सदस्य होने के कारण वह समाज की अधोगति से उसका त्राण करने तुल हो जाता है । जैसे कि सूचित किया गया है, "साहित्य जीवन और समाज का केवल चित्र ही नहीं उपस्थित करता, बल्कि सुधारक की भांति उनकी त्रुटियों का संकेत कर उन्नति का मार्ग प्रदर्शन भी करता है ।"[17]

<u>साहित्य-समाज के प्रति विद्रोह</u>

साहित्य और समाज के संबन्ध का एक अन्य दृष्टिकोण है, साहित्य समाज के प्रति विद्रोह है । कभी कभी कलाकार और समाज के बीच वैमनस्य और टकराव उत्पन्न हो जाता है । ऐसी नाजुक परिस्थितियों में साहित्यकार को समर्पण, पलायन और विद्रोह इनमें किसी एक को चुनना पडता है । जिस कलाकार की प्रतिभा सजग और सप्राण होती है वह विद्रोह के मार्ग को अपनाता है । जब कभी समाज में अमानवीय वृत्ति और मूल्यहीनता बढ जाती है तब साहित्यकार सर्जनात्मक संकल्प के प्रति निष्ठावान होने के कारण समाज की वणिग्वृत्ति के विरोध में विद्रोह करता है । इस प्रकार विद्रोह सृजन का पर्याय बन जाता है ।[18] कला या साहित्य सृजनात्मक मूल्यों से रहित होकर क्रय वस्तु बन जाता है । इससे साहित्य और समाज के बीच का संबंध अमानवीय बन जाता है । लेकिन ऐसी स्थिति में जागृत साहित्यकार विद्रोह का मार्ग अपनाता है ।[19] समाज चेता साहित्यकार का यही लक्ष्य होता है कि अमानवीयता का विरोध करके मानवीय कल्याण की स्थापना करना । आदर्शवाद से प्रेरित साहित्य व्यक्ति और समाज के भौतिक उत्थान और आत्मिक उन्नमन के लिए विद्रोह करता है । द्वन्द्वात्मक भौतिकवा से प्रेरित साहित्य स्वस्थ मानवीय मूल्यों से युक्त प्रगतिशील समाज केलिए विद्रोह करता है ।[20]

साहित्य को "समाज से पलायन" माननेवाले भी हैं । कई परिस्थितियों के कारण निरुपाय और विवश होकर और सामाजिक बंधनों से घुटन होने के कारण समाज और साहित्यकार के बीच विसंगति उभर आती है । साहित्यकार अपने को अकेला और

असहाय पाता है । समाज के यथार्थ चित्रण की गुंजाईश न मिलने पर वह समाज से विमुख होकर कल्पना की सुनहली दुनिया में बस जाता है । वास्तव में यह पलायन का मार्ग है ।[21] समाज से पलायन वृत्ति भी दर असल सामाजिक परिवेश की प्रेरणा से होती है ।

इस सिद्धांत को हम मान्यता नहीं दे सकते हैं क्योंकि साहित्य मात्र काल्पनिक लोक की सृष्टि नहीं है । साहित्यकार रचना करते समय कल्पना की सहायता लेता है अवश्य । लेकिन ऐसे करते समय भी उसका आधार मानव का यथार्थ जीवन है । अर्थात उसका दैनंदिन जीवन । दैनंदिन जीवन संघर्षपूर्ण होने के कारण साहित्य भी संघर्ष युक्त है । कॉडवेल ने सूचित किया है - "कला संघर्षमूला है , क्योंकि समाज में निरंतर कल्पना और आदर्श के विरुद्ध वास्तविकता का संघर्ष बना रहता है । यह संघर्ष कोई दिमागी फितूर नहीं है, बल्कि समाज की आर्थिक विषमताओं का परिणाम है । कलाकार का यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह पूरे समाज के कल्याण के लिए इन विशेषताओं का सही निदान और हल निर्दिष्ट करे ।"[22]

ख. साहित्य-सृजन और समाज-चेतना

साहित्य और समाज के गहरे संबन्ध का विश्लेषण हो चुका है । अब हमें यह देखना चाहिए कि सामाजिक चेतना क्या है और साहित्य-सृजन की प्रक्रिया में समाज-चेतना का क्या काम है और कैसे इसका निर्वाह होता है ।

सामाजिक चेतना

मानव की विशिष्टता यह सर्वविदित है कि मानव सामाजिक प्राणी है समाज रूप में रहने की मानव की सिद्धि की वजह से ही असल में अन्य जीवों से वह अलग दीखता है । जानवर झुंड के झुंड रहते हैं । जानवरों का झुंड और मानवों का समाज अलग है । जब मानव एक साथ रहने लगे, एक साथ काम करने लगे तभी से उसकी चेतना का विकास होने लगा । अर्थात् चेतना समाज सापेक्ष होती है ।[23] चेतना सामाजिक वातावरण के संपर्क से विकसित होती है । इसी के प्रभाव से व्यक्ति, नैतिकता और उचित व्यावहारिता प्राप्त करता है । चेतना और मनुष्य के सामाजिक चरित्र में मौर्य संबन्ध है । किसी मनुष्य की चेतना उसकी अपनी संपत्ति न रहकर सामाजिक

उपक्रम का परिणाम होती है ।[24] हरेक व्यक्ति कई कारणों से समाज से बंधित है । सामाजिक इकाई होने के नाते वह समाज में रहकर ही अपनी वास्तविक प्रकृति का विस्तार कर सकता है । वह सामाजिक क्रियाओं द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने के साथ साथ अपनी चेतना को व्यक्त कर देता है । चेतना का विकास परिवेशगत क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा होता है । इसलिए चेतना को समाज की थाती मानने में कोई हानि नहीं है । अतः चेतना का कोई अलग अस्तित्व नहीं है । उसका अस्तित्व समाज के कारण निर्धारित होता है । मार्क्स और एंगलस ने लिखा है - "चेतना मानव की प्रतिष्ठा नहीं करती, इसके विपरीत, मानव की सामाजिक सत्ता ही मानवीय चेतना का निर्माण करती है । अतः यह स्वतः समाज सापेक्ष है ।"[25] जिस प्रक्रिया से मनुष्य की मानसिकता और मनोवृत्ति समाज से प्रभावित होकर सामाजिकीकरण बौद्धिकीकरण की ओर उन्मुख हो जाती है उसे व्यक्ति की चेतना कहलाती है । इसकी पहचान ज्ञान से होती है और यह व्यक्ति और समाज से संपृक्त होकर पैदा होती है । सामाजिक चेतना वैयक्तिक अनुभवों से स्थापित होती है । समूचे सामाजिक कार्यकलापों और गतिविधियों से सतर्क और सजग रहने के कारण और समाज के साथ जुडे रहने से वैयक्तिक अनुभव व्यापक धरातल, प्राप्त कर सकता है । अतः सामाजिक चेतना का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है । इस सन्दर्भ में डा. देवराज पथिक ने लिखा है - "सामाजिक चेतना एक व्यापक परिदृश्य का कारक भी है, जिसमें राजनीति, धर्म, साहित्य आदि अनेक तत्वों का समावेश निहित है ।"[26] पथभ्रष्ट एवं पतनग्रस्त समाज को तहस-नहस करके एक नवीन समाज की संरचना सामाजिक चेतना का अंग है ।

साहित्यकार सामाजिक संरचना की इकाई है । इसलिए उसे अपने समाज के गतिशील संदर्भों से सहभागी होना पड़ता है । इसके लिए समाज संपृक्ति अनिवार्य बन जाती है । इस सामाजिक सरोकार के मूल में तत्कालीन समाज की ही सही पहचान योग देता है । इसलिए साहित्य में समाज की छाप अनिवार्य हो जाती है । एहरेन बुर्ग ने लिखा है कि साहित्यकार की भीतरी वृत्तियाँ और भाव-विचार और बाह्य दुनिया से प्राप्त अनुभव और जीवन उसे लिखने केलिए मजबूर बना देते हैं । इस प्रकार रचना एक आन्तरिक विवशता है । लेकिन यह यांत्रिक न होकर लेखक के मन पर पडे जीवन के प्रभाव का स्वाभाविक परिणाम के रूप में अभिव्यक्त होता है । सामाजिक जीवन और परिवेश

बहुत मात्रा में साहित्यकार की मानसिक चेतना को प्रभावित करने के कारण वह वास्तविक जीवन से अलग नहीं हो सकता है ।[27]

साहित्य-सृजन जटिल और रोचक कार्य है । वह साहित्यकार को सामान्य जन से भिन्न बनाता है । सामान्य व्यक्ति अनुभव कर सकता है, घटना के साथ तादात्म्य भी प्राप्त कर सकता है, रोता-हँसता भी है । किन्तु उस घटना को रूप देने की शक्ति मात्र कलाकार में ही है ।[28] लेकिन कलाकार के मन में रचना की जो प्रेरणा उत्पन्न होती है उसका प्रभाव वैयक्तिक मात्र न होकर सामाजिक भी है । साहित्यकार में निहित प्रतिभा को समाज से आधारभूमि मिलती है । अर्थात् साहित्य-सृजन सामाजिक अवबोध से संबंधित है । लेकिन यह अवबोध समाज का परिचय मात्र नहीं है बल्कि समाज की वर्तमान स्थिति की आलोचनात्मक दृष्टि और उससे समाज के भविष्य को निर्धारित करने की क्षमता है । कलाकार मात्र आलेखक नहीं है, स्वीकृत विचारों और मांगों का अनुगामी मात्र नहीं है, बल्कि एक व्यक्ति है, जिसमें स्पर्श और आकांक्षाएँ जागती हैं जो नवीनता की गंध लेता है, यथार्थ का अन्वेषण करता है, और अज्ञात में गोते लगाता है । साहित्यकार बिना देखे या अनुभव करके जीवन की पुनर्रचना नहीं कर सकता है । इसलिए उसे समाज की आत्मा का निर्माता मानते हैं ।

इसमें दो राय नहीं कि साहित्य सामाजिक को भावमयी अनुभूतियों की रागात्मक अभिव्यक्ति है । यह साहित्यकार का आन्तरिक भाव है । लेकिन साहित्यकार के मन में यह अनुभूति शून्य के प्रति जागृत नहीं होती है । किसी वस्तु, परिस्थिति या क्रिया के संबन्ध में ही मानसिक प्रतिक्रिया सक्रिय होकर अनुभूति को जन्म देकर अभिव्यक्ति की ओर प्रेरित करती है । इसप्रकार साहित्य का सत्य आन्तरिक होते हुए भी समाज का आश्रय ग्रहण करता है, वह हृदय के सत्य के साथ-साथ समाज का सत्य भी है । मुक्ति-बोध ने लिखा है - "साहित्य के विषयों को सक्रिय करनेवाली मनोवृत्तियाँ तत्कालीन-स्थिति-सापेक्ष्य हैं । इन मनोवृत्तियों को सक्रिय करने का श्रेय भले ही महान साहित्यकार को प्रदान किया जाए, वह साहित्यकार उन्हीं मनोवृत्तियों का संचय होता है, जो उसे समाज से प्राप्त होती हैं ।"[29]

इसप्रकार साहित्यकार को अपने समकालीन समाज से अनुभव प्राप्त होते हैं । इन अनुभवों को प्रतिभा या सर्जनशक्ति की अनुभूति में परिवर्तित करके पुनः अपनी कृति में लिपिबद्ध करता है । सर्जना के समय उसे यह सब नितांत वैयक्तिक प्रतीत होगा, किन्तु उसकी संवेदनाओं का वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विवेचन करने से उस साहित्य का पूर्ण सामाजिक पृष्ठभूमि दिखाई देगी । ऐसे सर्जक अपनी रचनाओं से हमें प्रभावित करता है जिनकी संवेदनाओं की जडें सामाजिक चेतना की धरती में समाई हुई हों । इस बात को नामवरसिंह ने यों स्पष्ट किया है "साहित्य तथा उसके नियमों की जडें स्वयं साहित्य में ही नहीं, बल्कि उसके बाहर भी हैं, और इस बाहर का अर्थ है वातावरण, परिस्थिति और समाज ।"[30] अतः साहित्य में प्रयुक्त कोई भी प्रतीक सामूहिकता के कारण हमारे मन में प्रभाव डाल सकता है ।[31]

लेकिन समाज से प्राप्त अनुभूतियों को लिपिबद्ध करना आसान कार्य नहीं है । साहित्यकार के हृदय या आन्तरिक सत्य के साथ समाज सत्य या बाह्य संघर्ष चलता रहता है । यह बाह्य सत्य वास्तव में सामाजिक चेतना ही है । सामाजिक चेतना युक्त साहित्यकार इस संघर्ष से गुज़रता है । साहित्यकार को तीन प्रकार के संघर्षों का सामना करना पड़ता है । सबसे पहले सुन्दर कला-सृष्टि के वास्ते उपयुक्त अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करना पडता है । दूसरा जीवनानुभवों को भोगते-रमते समय भी अपने को निजबद्धता से मुक्त और अधिक मानवीय बनाने के लिए आत्म संघर्ष करना पडता है । तीसरा संघर्ष प्रखर जीवनानुभवों के लिए है ।[32]

साहित्य को जीवित रखनेवाली शक्ति है सामाजिक चेतना । साहित्यक रचना में समाज जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद और अच्छे-बुरे को प्रस्तुत करता है । इसमें जनता की आत्मा की ध्वनि गूंज उठती है । वास्तव में मनुष्य के द्वारा बनायी गयी सामाजिक समस्याओं और भाव-विचारों से रचनाकार की सामाजिक चेतना सजीव हो जात है । इससे हम कह सकते हैं कि साहित्य सामाजिक चेतना में सांस लेता है । लेनिन ने कहा है - "जनता के लेखक केलिए अपने वतन की हवा में सांस लेना, अपने दिल की प्रत्येक धडकन से अपने देश को महसूस करना, अपनी आंखों से उसकी गतिविधि को देखना बहुत ज़रूरी है ।"[33]

चेतना यथार्थबोध की संवाहिका होती है । रचनाकार अधिक चेतना युक्त प्राणी है । वह अपनी रचना में समाज से प्राप्त यथार्थ को चित्रित करता है । अतः यह यथार्थ समाज सापेक्ष है । लेकिन यह यथार्थ यांत्रिक रूप से नहीं चित्रित किया जाता है । रचना में सौन्दर्य तत्व को भी महत्व देता है । इस केलिए कभी कवि वास्तविकता में कुछ हेर-फेर भी अवश्य करता है । एहरेनबुर्ग के मत में इस हेर-फेर के कारण यथार्थ की आत्मा को कोई हानि न होगी ।[34] लेकिन यह तब संभव हो सकता है जब साहित्यकार समाज के प्रति अपना दायित्व संपन्न करता है । यह दायित्व निश्चित रूप से ईमानदार, प्रतिबद्ध जन-संवेदना-संपृक्त लेखक का परिचायक होता है । प्रतिबद्धता वास्तव में कोई दर्शन विशेष पर आधारित नहीं है । बल्कि उपेक्षित, तिरस्कृत वर्ग की समस्त संवेदनाएँ मूल्य और संकल्प चेतना के स्तर पर रचनाकार से सार्थक ईमानदारी और दायित्व की मांग करती है । जब रचनाकार अपनी प्रतिबद्धता को आरोपित न करके उसका सार्थक दायित्व निभाता है तब रचनाकार की चेतना विकसित हो जाती है । रचनाकार वास्तविक अर्थों में बोध, भाव एवं कर्म के त्रिकोणात्मक पक्षों को एकमेव करता हुआ चेतना की व्यापकता को अग्रसारित करता है । सर्वप्रथम वह अपने बोध को रचनात्मक धरातल पर जन-संवेदना सापेक्ष करता है । उसका यही सामाजिक-बोध सृजन के धरातल पर उसके चिन्तन को गहराता है । असल में "साहित्य मनुष्य की सामाजिक चेतना और सामाजिक चिन्तन की देन है, इसलिए उसमें मानव जीवन की वास्तविकता और संभावना की अभिव्यक्ति होती है । वह यथार्थ और चेतना के संबन्ध-बोध का माध्यम नहीं, सामाजिक चेतना के निर्माण और सामाजिक जीवन की रूपान्तरशीलता का साधन भी है ।"[35]

युग सापेक्ष परिस्थितियाँ रचनाकार की रचना-प्रक्रिया को निरंतर परिवर्तित करती रहती है । उसका सृजनात्मकबोध कभी परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए विजयी होता है कभी पराजित होता है । जब लेखक मूल्यहीन संस्कारों से मुक्ति पा लेता है तो उसकी सामाजिक चेतना प्रौढ परिपक्व समृद्ध रचना-धर्म के लिए सर्वथा वर्द्धक हो जाती है । जब समाज के समस्त मूल्य धराशायी होते हैं तब समाज के प्रतिभासंपन्न अपनी सृजनात्मक दायित्व के प्रति सचेत हो जाते हैं । सामाजिक चेतना न केवल उसके संस्कारों को बदलता है अपितु उसके सुषुप्त भावों को जगाने का उर्वर धरातल भी है ।

साहित्यकार अपने निजी जीवन की उपेक्षा करके जीवन पर्यन्त संघर्ष करता हुआ सामाजिक दायित्वों को निभाता है । वैयक्तिक स्वार्थों से विमुख होकर पीडित और उपेक्षित जनता की मानसिकता को स्वीकार करता हुआ अपनी रचना-प्रक्रिया को उनका पक्षधर बनाता है । रचनाकार की एकांतता में भी संग या सहचरता का बोध है । इसलिए हम कह सकते हैं कि सृजन की एकांतिकता में भी सहचरता होती है, संग होता है । यह संग या सहत्व के बिना सृजन संभव नहीं है ।[36]

सामाजिक परिवर्तन में सामाजिक चेतना का योगदान

सामाजिक चेतना किस सीमा तक और कैसे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में योगदान देती है, यह बात साहित्य के उद्देश्य और समाज पर उसका प्रभाव जैसे कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं से संबंधित है ।[37] इसके अतिरिक्त यह साहित्य का स्वभाव और चरित्र की ओर भी हमारा ध्यान खींच लेती है । बहुत पुराने काल से होकर काव्य-शास्त्र साहित्य के उद्देश्य और प्रयोजन के बारे में चर्चा कर रहे हैं और निष्कर्षों को प्रस्तुत कर रहे हैं । लेकिन सामाजिक परिवर्तन में सामाजिक चेतना को योगदान जैसे गंभीर प्रश्न का साहित्य में समाधान ढूँढना बिलकुल आधुनिक प्रवणता है ।[38] जैसे शिवकुमार मिश्र ने सूचित किया है - साहित्य की गहरी सामाजिक संपृक्ति, सामाजिक परिवर्तन में उसका योग-दान, समाज के दीन-दुःखी जनता के साथ संबन्ध आदि बातें नये युग की दृष्टि है जिसमें मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव है ।[39]

भारतीय साहित्य की परंपरा का गहरा विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि साहित्यकार की सामाजिक चेतना को परिवर्तन की भूमिका के साथ जोडकर देखने की प्रवृत्ति बहुत कम है । हमारे प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने साहित्य को आनन्द प्राप्ति उपदेश देने और धनोपार्जन के माध्यम के रूप में देखा है ।[40] यह दृष्टि व्यक्ति केन्द्रित है पुराने जमाने में समाज पर धर्म का नियंत्रण था और साहित्य का रूप मूलतः धार्मिक था ।[4] यह धार्मिक शिक्षा देने का माध्यम था । प्रचलित समाज और व्यवस्था की आलोचनात्मक दृष्टि के विकास को योग देने में यह बिलकुल असमर्थ था । असल में "किसी भी रचना को सामाजिक संदर्भ उस समय प्राप्त होता है जब वह व्यक्ति के मन में स्थापित मान्यताओं परंपराओं और आदर्शों के प्रति शंका, प्रश्न और नकार उत्पन्न करती है ।"[42] लेकिन प्राचीन कवियों में यह भाव परिलक्षित नहीं था ।

इसके साथ ही साथ कलावादी विचारधारा भी प्रचलित थी । "कला कला के लिए" माननेवाले इसके प्रवर्तक कला या साहित्य को समाज से संबंधित नहीं मानते हैं । सौन्दर्य की साधना के द्वारा विशुद्ध एवं आत्मा को तुष्टि देनेवाले आनन्द की सृष्टि करना महान साहित्य का लक्षण है । वे साहित्य को समाज की नैतिकता और उपयोगिता की दृष्टि में रखकर देखने के समर्थक नहीं है । वे उत्कृष्ट शैली और भावना की अभिव्यक्ति को कला या साहित्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं । कलावादियों के अनुसार समाज या किसी आदर्श के प्रति सरोकार होने से साहित्य अपने सीमाक्षेत्र से बाहर हो जाता है ।[43]

लेकिन यह मानना ठीक नहीं है कि समाज में साहित्य की कोई उपयोगिता नहीं है और वह कल्पना का खिलवाड मात्र है । इसलिए साहित्यकारों का एक पक्ष साहित्य को जीवन का महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार करता है और "कला जीवन के लिए" मानता है । इन साहित्यकारों के मतानुसार साहित्य सामाजिक उन्नयन का एक महत्वपूर्ण अंग होने से वह केवल कला मात्र न होकर जीवन के लिए वरदान ही है । इसलिए साहित्यक के सामाजिक चेतना से युक्त होना अनिवार्य है । वह अपने युग, समाज और परिस्थिति से विमुख होकर शून्य में विचरण नहीं कर सकता । वास्तविकता के प्रति वह मुँह नहीं मोड सकता । वह समाज के यथार्थ चित्रण करके सामाजिकों को सजग बनाता है और समाज के परिवर्तन में सहयोग देता है । इसप्रकार कुछ विद्वान यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि साहित्य या कला को उपयोगिता की तुला पर तौलना चाहिए ।[44]

प्रेमचन्द साहित्य की उपयोगिता को माननेवाले साहित्यकार थे । वे मानते थे कि समाज-सुधारक और नेता लोग अपने विचारों और आदर्शों से सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाते हैं वही परिवर्तन साहित्यकार ला सकते हैं । उन्होंने 1935 में शिवरानी से कहा - "वह (गांधीजी) भी मज़दूरों किसानों की भलाई के लिए आन्दोलन चला रहा है और मैं भी कलम से यही कुछ कर रहा हूँ ।"[45] सामाजिक चेतना युक्त साहित्यकार की कलम जवान की बन्दूक के समान शक्तिशाली है । साहित्यकार अपनी लेखनी से समाज के सच्चे चित्र प्रस्तुत करके उसे परिवर्तन की दिशा में ले जाते हैं । इसलिए प्रेमचन्द ने स्वयं को "कलम का सिपाही कहा" है ।

मार्क्सवादी विचार

मार्क्सवाद किसी भी साहित्य का मूल्यांकन समाज पर पड़े उन प्रभावों के संदर्भ में करता है जो सदैव समाज को विकासोन्मुख वृत्ति की ओर बदलने की प्रेरणा दे। साहित्य का मुख्य प्रयोजन संसार तथा समाज को समझने में सहायता देना, और उनके परिवर्तन में काम करना है। इसके अतिरिक्त जीवन को अधिक जीने-योग्य बनाने में योग देता है।[46] स्वयं मार्क्स काव्य या साहित्य का उद्देश्य क्रांति को प्रोत्साहित करना मानते थे। क्रांति का उद्देश्य एक समूल और सार्थक परिवर्तन है। उन्होंने कहा है "जन सामान्य को सामाजिक-क्रांति के प्रति सजग करना, और ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में समाज का यथार्थ चित्रण"[47] करना ही साहित्य का लक्ष्य है। लेनिन ने केवल यथार्थ चित्रण को पर्याप्त नहीं माना। वे मानते हैं, साहित्यकार की सामाजिक चेतना नये समाज के निर्माण के लिए वर्ग संघर्ष और सामाजिक क्रांति को प्रोत्साहित करे ताकि समाज की सत्ता पूंजीपतियों के हाथों से निकलकर किसान मज़दूर के अधीन आ जाये। सामाजिक बदलाव के संबन्ध में उनका दृष्टिकोण टालस्टाय की कृतियों के संबन्ध में किये परामर्श से स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने कहा है कि टालस्टाय अपने समसामयिक परिवेश का सूक्ष्म और यथार्थ चित्रण करने के कारण वे महान साहित्यकार के रूप में विख्यात हुए। लेकिन उन्हें इसका पता नहीं था कि शोषित और पीड़ित मनुष्य कैसे मुक्त हो सकते हैं और अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकते हैं।[48]

साहित्यकार - नये सृजन का दावेदार

दरअसल कवि या साहित्यकार समाज के पारखी हैं। समाज के वर्तमान स्थिति को विवेचनात्मक दृष्टि से देखने पर साहित्यकार उसकी कमियों से असंतुष्ट हो जाते हैं और उसके पुनर्संगठन और परिवर्तन के लिए लालायित हो उठते हैं। कवि सामाजिक जीवन की प्रत्येक असंगति को चित्रित करते हैं और सामाजिकों को सजग बनाते हैं। इस संदेश का, समाज के बुद्धिजीवी वर्ग, प्रचार करते हैं इसके फलस्वरूप सामाजिकों के मन परिवर्तन के लिए तैयार हो जाते हैं। "कवि और साहित्यकार समाज की मानसिकता का नेता होता है - विचारशील और संवेदनशील मनुष्य होने के नाते कवि सामाजिक जीवन में हो रहे

परिवर्तन का निरीक्षण करता है और उसके मूल्यवान तत्वों को ग्रहण कर उन्हें जो अभिव्यक्ति सामाजिक जीवन के विकास के नए मार्ग संकेतित करती है फलस्वरूप काव्य अथवा साहित्य नये परिवर्तन का प्रेरक बन जाता है ।"[49]

सामाजिक परिवर्तन अधिकांशतः समाज के आर्थिक भौतिक तत्वों से संबंधित है । ये भौतिक और आर्थिक तत्व समाज के धर्म, दर्शन, कानून, राजनीति और साहित्य जैसे घटकों को अनुकूलित तथा नियमित करते हैं । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कलाकार या साहित्यकार की सामाजिक चेतना की सामाजिक परिवर्तन में कोई भूमिका नहीं है । स्वयं आर्थिक-भौतिक तत्वों से प्रभावित होते ही साहित्य सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करता है और सामाजिक परिवर्तन में सजीव रूप से भाग लेता है - "अतएव यह कहना कि सामाजिक परिवर्तन में साहित्य और साहित्यकार की कोई भूमिका नहीं होती, सरासर गलत है । साहित्यकार स्रष्टा, रचयिता और प्रजापति इस अर्थ में कहा गया है कि विधाता द्वारा रची गयी सृष्टि से असंतुष्ट होकर उसका समानान्तर एक नयी सृष्टि की रचना करता है । इस नई सृष्टि की रचना वह सामाजिक बदलाव के लिए प्रयासरत और संघर्षरत शक्तियों के साथ मिल-जुलकर करता है, और अपने ढंग से उन्हें अपने इच्छित लक्ष्य तक पहुँचने में मदद करता है ।"[50]

साहित्यकार अपने परिवेश की निर्मिति मात्र न होता है बल्कि उसका नियामक भी है । इसका कारण साहित्यकार का सामाजिक अवबोध है । साहित्य हमारे भावों और विचारों को रूप देता है और परिष्कार करता है । इस प्रकार साहित्य हमारे विचारों की गुप्त शक्ति को जगाकर उसे कार्यरत बनाता है और हमारे सामाजिक संगठन और जातीय जीवन की वृद्धि में निरंतर योग देता रहता है । साहित्यकार समाज के रथ के पीछे बन्धा हुआ नहीं है और उसके पीछे-पीछे रास्ते देखकर डगमगाते पैरो से नहीं चलता । लेखक सारथी है जो अपनी सामाजिक चेतना का बागडोर संभलकर उसे उचित मार्ग पर ले चलता है । कोई भी साहित्यकार समसामयिक परिवेश से अलग नहीं होता है । साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है । अपने द्वारा निर्धारित आदर्शों के अनुसार समाज परिवर्तन साहित्य का ध्येय है - "समाजशास्त्र की भांति साहित्य भी मुख्यतः मानव समाज से संबंधित है, वह समाज के उसके अनुकूलन और उसके परिवर्तन की आकांक्षा से संबंधित है ।"[51]

इतपर्यंत सारे संसार में हुए सारे परिवर्तनों के मूल में कोई-न-कोई विचारधारा निहित रही है ।[52] साहित्य द्वारा जिस विचारधारा का अंकन होता है उसका असर धीरे-धीरे समाज पर पडता है । यह असर एक विस्फोटक रूप धारण लेता है जो सामाजिकों के मन में जाकर फूटता है । यह स्थिति सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान करती है । इसलिए वह कवि या साहित्यकार महान है जिसमें समाज को बदलने की क्षमता निहित हो - "हर महान साहित्यकार इसी अर्थ में महान होता है कि उसने अपने युग को प्रभावित किया है, उसकी परिस्थितियों को बदला है, समाज को बदला है ।"[53]

मानव की भलाई के लिए स्थापित संस्था है समाज । लेकिन कई अवसरों पर विभिन्न कारणों से वह अपने लक्ष्य से पथभ्रष्ट हो जाता है और प्रतिगामी तत्वों के साथ चलता है । तब समाज चेता साहित्यकार अपनी कृतियों द्वारा समाज में हलचल मचा देता है और लोगों को स्वप्न से जगा देते हैं । धीरे-धीरे सामाजिकों के मन में वर्तमान स्थिति के प्रति असंतोष भर जाता है और वे बलपूर्वक समाज को, शासन को, अर्थव्यवस्था को बदलने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं । इसलिए साहित्यकार समाज का नेता और नियामक भी है । समाज के जीवन-प्रवाह में आई बाधाओं की चट्टानों को चकनाचूर करने की सामर्थ्य भी उसमें होती है । जीवन के इस उबड-खाबड, टेढे-मेढे मार्ग पर अंधकार में मार्ग खोजने में तत्पर सामाजिक प्राणी को साहित्यकार अपने साहित्य में निहि समाज-चेतना रूपी मशाल से मार्ग भी दिखलाता है ।"[54]

साहित्यकार कभी चेतना के बिना सृजन नहीं कर सकता । जब रचनाका की प्रतिबद्धता झूठी न होकर अपना दायित्व निभाती है तब उसकी चेतना व्यापक बन जाती है । रचनाकार सामाजिक विसंगतियों, कुरीतियों को अपनी चेतना की प्रतिक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त करता है । ऐसे समय वह अपनी निजता से जूझते हुए अन्तर्विरोधों, द्वन्द्वों में सामाजिक मूल्यों के प्रति अपने सार्थक दायित्व का पालन करता है । इसके लिए उसे अपने पारिवारिक जीवन को ठुकराने पडेगा । लेकिन वह इससे अचंचल होकर सामाजि परिवर्तन के लिए अपना कार्य करता है । यहाँ साहित्यकार की संवेदना कालांतर में सामाजिक चेतना में परिवर्तित होकर सामाजिक बदलाव की ओर उन्मुख हो जाती है ।

साहित्यकार अपनी सामाजिक चेतना से भरी दृष्टि को समाज का पक्षधर बनाता है । प्रत्येक समाज की अपनी विशेषताएँ होती हैं और अपनी जीवन मूल्य और आदर्श होते हैं । साहित्यकार इनको परखकर उसमें आवश्यक बदलाव का संदेश देता है । वह मनुष्य को सतानेवाली निराशाओं, कुंठाओं की उपेक्षा करके नये जीवन की प्रतीक्षा से भरता है । वह मानव व्यक्तित्व का उन्नयन करके उसे व्यक्ति के संकीर्ण दायरे से ऊपर उठाकर सामाजिकता से जोड देता है । इसप्रकार नये संस्कार और मूल्यों की स्थापना के द्वारा समाज को परिवर्तित करता है - "समाज और साहित्य में एक चेतना चक्र निरंतर चलता रहता है । इसलिए साहित्य-समाज दोनों ही उस चेतना तरंग से अखंड रूप से संबद्ध है । यह चेतना चक्र निरंतर घूमते हुए समाज से कुछ चेतना-प्रतिक्रिया लेकर साहित्य को प्रदान करता है और साहित्य से नई चेतना-प्रतिक्रिया लेकर समाज को प्रदान करता है । इस प्रक्रिया से साहित्य और समाज नवीन चेतना से प्राणान्वित, आलोकित और उत्कर्षित होते रहते हैं ।"[55]

सामाजिक परिवर्तन और आन्दोलन निरंतर नहीं हो रहे हैं और न आकाश से एक दम नीचे नहीं फूट पडते हैं । क्रांति का विस्फोट अचानक प्रतीत होता है किन्तु यह दीर्घकाल से आर्थिक और सामाजिक जीवन में चली आ रही प्रक्रिया और उसके फलस्वरूप एक विशेष प्रकार परिपक्व होनेवाली स्थितियों का परिणाम होती है । इस अवस्था तक पहुँचने में अन्य शक्तियों के साथ सामाजिक चेतना का भी अपना महत्व पूर्ण स्थान है । "मनुष्य का मूल्यांकन उसे सामाजिक संबन्धों और वास्तविकताओं के बीच रखकर ही किया जा सकता है । यही बात साहित्य के मूल्यांकन पर भी लागू होती है हम इस बात को जानते हैं कि सामाजिक परिवर्तन साहित्यकार की भूमिका निर्णायक न होने पर भी, एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि वह कला के माध्यम से जनमानस को झकझोर कर प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध प्रगतिशील शक्तियों को बल प्रदान करता है

सामाजिक परिवर्तन की प्रकिया में साहित्यकार अपनी सामाजिक-चेतना का उपयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कर सकता है ।[57] जो भी स्थिति हो उसकी प्रेरक शक्ति अपरिमेय है । इसका सबूत हमें प्लेटो की विश्वप्रसिद्ध कृति "गणराज्य" में मिलता है । उनके मत में, कविता मानव के संवेगों को जगाकर उन्हें पुष्ट करती है । यह

प्रवृत्ति हृदय में चंचलता और विभक्तता को जन्म देती है जो नागरिकों के लिए अवांछनीय है । प्लेटो अपने आदर्श राज्य में उन्हीं कवियों या साहित्यकारों को रहने देने के लिए सहमत हैं जो जनता में महान गुणों को जगाने की शैली अपना करें और सैनिक प्रशिक्षण के लिए निर्धारित प्रतिमानों को स्वीकार करें ।[58]

यह बात प्लेटो ने शताब्दियों के पहले कही थी । आज भी स्थिति नहीं बदली है । ऐसे लेखकों और कवियों को समाज और सत्ताधारी स्वागत करते हैं जो उनके इच्छा और निदेश को स्वीकार कर रचना करें । जो समाज चेता साहित्यकार समाज की विसंगतियों और सत्ताधीशों के अनाचारों के विरुद्ध सृजन करते हैं और समाज में नये मूल्यों की स्थापना और परिवर्तन की कोशिश करते हैं उन्हें या तो जेल में डालते हैं या उनकी किताबों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और देश से बाहर निकालते हैं या फांसी की सजा देते हैं । इससे स्पष्ट है कि साहित्यकार की सामाजिक परिवर्तन में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है ।

सामाजिक जीवन का आधारभूत तत्व विनिमय है जो जीवन के सभी क्षेत्रों में होता रहता है । समाज की संस्कृति, कला या साहित्य को उपज है । संस्कृति समाज के मूल्यों के द्वारा सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है । वस्तुतः साहित्य और कला, विचार तथा आदर्श सांस्कृतिक रूप धारण कर सामाजिक परिवर्तनों के निमित्त बन जाते हैं । फ्रेंच लेखक रूसों के विचारों ने राजनीतिक क्रांति और समाजिक परिवर्तन की गति को तीव्रता दीथी|रूसी क्रांति में मार्क्स की और अमरीकी विप्लव में जॉन लॉक की रचनाओं का प्रभाव सुविदित है । इसलिए हम को मानना पडता है - "साहित्य समाज के संवेदन में परिवर्तन लाता है, उसका संस्कार करता है अतः समाज बदलता है ।"[59]

कविता की सामाजिक दृष्टि का महत्व

समाज चेता कवि को ही सामाजिक दृष्टि होती है । साहित्य की प्रभावशालिता और स्थायित्व का मापदण्ड यह सामाजिक दृष्टि है । कविता की सामाजिक दृष्टि की जड़ें प्राचीन समय में भी किसी न किसी रूप में दिखाई देती है । लेकिन आज की तुलना में यह अधिक अस्पष्ट और धुंधली थी । उस ज़माने में कतिपय साहित्यकार ही यह मानते थे कि कविता का लक्ष्य जीवन और समाज का हित और गति है । तुलसीदास ने कविता का लक्ष्य समाजहित स्वीकार किया था जिसके मूल में उसकी सामाजिक दृष्टि काम करती थी । कविता का आदर्श उन्होंने "सुरसरिसम सब कहँ हित होई " स्वीकार किया था । सामाजिक प्राणी होने के नाते कवि समाज की गतिविधियों के प्रति सजग हो जाता है और समाज से अपनी रचना का विषय स्वीकार करता है । कविता को सजीवता के लिए केवल प्रतिभा मात्र पर्याप्त नहीं है । उसके लिए सामाजिक दृष्टि अनिवार्य है । एफ. आर. लीविस के शब्दों में - "कवि अपने समय में अपने समाज का सर्वाधिक सचेत व्यक्ति होता है । किसी विशेष युग की मानवीय अनुभूतियों को ग्रहण करने की क्षमता कुछ थोडे से व्यक्तियों में होती है और कोई महत्वपूर्ण कवि महत्वपूर्ण इसलिए होता है कि वह भी उन्हीं थोडे से व्यक्तियों में से होता है । निश्चित ही उसकी अनुभूति की क्षमता और अभिव्यक्ति की शक्ति, ये दोनों अविच्छेद्य होती है ।"[60]

कविता का लक्ष्य संसार तथा समाज को समझने में आदमी को सहायता देना है । इसके साथ उसे बदलने, संपन्न तथा पूर्ण बनाने और अधिक जीने योग्य बनाना है । इसके लिए कवि में प्रखर सामाजिक दृष्टि की आवश्यकता होती है । केवल रचना प्रक्रिया में पडकर कोई कवि नहीं होता, बल्कि उसे वास्तविक जीवन की पहचान और मनुष्यता के महान लक्ष्यों से तादात्म्य की शक्ति को प्राप्त करते रहना है ।[61] सामाजिक दृष्टि साहित्य के सौन्दर्य के लिए अनिवार्य है । अतः सामाजिक दृष्टि के बिना सौन्दर्य प्रतीति असंभव है ।[62] इसप्रकार लोकानुभूति से कवि में जो आत्मानुभूति उत्पन्न होती है वह वैयक्तिक प्रक्रिया से फिर सामाजिक रूप लेकर कविता में प्रस्तुत होती है । इसलिए कविता की महिमा इस बात में है कि वह पाठक को अपनी अनुभूति से तादात्म्य करा सकती है ।[63]

आधुनिक काल आते-आते कविता की सामाजिक दृष्टि का महत्व बढता गया । इसमें मार्क्सवाद के प्रभाव ने प्रचुर मात्रा में काम किया । मार्क्सवाद भाववादी या आदर्शवादियों के अनुसार कला को सामाजिक और भौतिक जीवन से निरपेक्ष नहीं मानता है । मार्क्स के अनुसार "विचारधारा का अपना कोई स्वतंत्र इतिहास नहीं है, वह मूलतः सामाजिक जीवन का ही इतिहास है । इसी बिन्दु से विचार करने पर साहित्य या कलाएँ कोई दैवी विधान अथवा प्रतिभा का विस्फोट न होकर अनेक प्रकार के संघर्षों एवं अन्तर्विरोधों से भरे-पूरे तथा उनके माध्यम से विकसित होनेवाले सामाजिक जीवन का मूर्त रूप साबित होती हैं । ये विशुद्ध मानवीय उपलब्धियाँ हैं जिन्हें सामाजिक जीवन के साथ अपने दीर्घकालीन साहचर्य और विकासक्रम में मनुष्य ने अर्जित और विकसित किया है ।"[64] सामाजिक वास्तविकता के कारण कविता या साहित्य प्राणवान हो जाता है । इसलिए मार्क्सवादी साहित्य चिंतन व्यक्तिवादी एवं कलावादी साहित्य या कला को प्रतिक्रियावादी और पूंजीवाद से संबंधित मानता है । वह स्थापित करता है कि व्यक्तिवाद पूंजीवाद की आत्मा है । इससे उत्पन्न अहं व्यक्ति को स्वयं-संपूर्ण समझते हुए समाज के विरुद्ध काम करने प्रेरित करता है । इसके संबंध में कॉडवेल ने कहा है - "सामाजिक - आर्थिक जीवन से कटकर कवि कवि नहीं रह सकता । और जो कवि व्यक्तिवाद का अंचल थाम रहकर पूंजीवाद का अस्त्र बना रहता है - समाज स्वतः उसका बहिष्कार कर देता है ।"[65]

सामाजिक जीवन से घनिष्ठ संबन्ध को जीवन्त कविता या रचना को स्रोत मानने के कारण कविता की सामाजिक दृष्टि को प्रखर बनाना कवि का कर्तव्य है । जितनी मात्रा में सामाजिक जीवन से कवि का संबंध कम हो जाता है उसकी कृति की प्रभावशालिता भी उतनी मात्रा में कम हो जाएगी । जो रचनाकार सामाजिक जीवन को उसकी समग्रता से और निकटता से अनुभव करता है उसकी कविता उतनी प्रभावशाली बन सकती है । कविता का सामूहिक संसार यथार्थ सामाजिक जीवन द्वारा पोषित होता है - "काव्य की अनुभूति जीवन की अन्य अनुभूतियों की तरह है, और कविता या कला हमें सौन्दर्य तत्व के कारण नहीं, अपने में व्यक्त अनुभवों और उन अनुभवों में निहित मूल्यों के कारण प्रभावित करती है ।"[66]

समाज से अलग रहने से कवि का व्यक्तित्व धीरे-धीरे अहंवाद में रूपांतरित हो जाता है । ऐसी स्थिति में उसके लिए "अहं" ही एकमात्र यथार्थ बन जाता है । ऐसा एकाकीपन में जीना मंगलकारी नहीं है । इसके लिए समाज के साथ तादात्म्य की आवश्यकता है ।[67] अपने समाज के मुक्तिदायी विचारधाराओं के साथ कवि का तादात्म्य जितना अधिक होगा उसमें उतनी प्रखरता और क्षमता आ जाएगी । लेकिन यह तादात्म्य तभी संभव है जब ये मुक्तिदायी विचार उसकी नसों में समा जाएँ । इसलिए शुद्ध कलावादी दृष्टि से "कविता कविता के लिए" कहते हुए समाज से अलग होकर अपनी कविता की आन्तरिक रिक्तता को ढकने के लिए कल्पना और शिल्प का सहारा लेना कवि को शोभा नहीं देता । "कला कला के लिए" या कविता कविता के लिए मानना "कला मेरे लिए" का ही पर्याय है, जो विशुद्ध रूप से असामाजिक है ।"[68]

मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण आधुनिक प्रगतिशील कवि कलावादी दृष्टि को प्रश्रय नहीं देते हैं । वे सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूक हैं । "प्रगतिशील लेखक संघ" के पहले अधिवेशन में प्रेमचन्द ने साहित्यकार की सामाजिक दृष्टि और समाज की उपयोगिता को प्रश्रय देते हुए अपने भाषण में रसवादी आनन्दवादी साहित्य का तिरस्कार किया था । उन्होंने उच्च चिन्तन, स्वाधीनता का भाव, गति, संघर्ष और बेचैनी उत्पन्न करनेवाला साहित्य की सृष्टि का आह्वान किया ।[69] ये प्रगतिशील कवि या साहित्यकार मार्क्सवाद से प्रेरणा पाते थे । प्रगतिवाद का सैद्धांतिक पक्ष स्पष्ट रूप से मार्क्स के दर्शन पर आधारित है ।[70] इसलिए उनकी दृष्टि अधिक सामाजिक बन गयी है । प्रगतिशील कवि कलावादी या रसवादी दृष्टि का विरोध इसलिए करता है कि वह पूंजीवाद की उपज है । पूंजीवादी समाज में कविता क्रयवस्तु के रूप में उत्पन्न होती है । डा. नामवर सिंह ने लिखा है - "ये नितांत शुद्धकलावादी अवधारणाएँ एक विशेष प्रकार की अर्थ व्यवस्था की देन है और एक निश्चित समाज व्यवस्था के आर्थिक नियमों के अन्तर्गत उत्पन्न और प्रचलित हुई हैं ।"[71]

कवि की सामाजिक दृष्टि में उसके व्यक्तित्व का प्रभाव नगण्य नहीं है व्यक्तित्व का विकास केवल अपना ही प्रभाव से मात्र नहीं बल्कि परिस्थितियों के प्रभाव से होता है । जब वह अपनी परिस्थिति में प्रतिलोम शक्तियों को सजीव होते देखता है

तब वह जनशक्ति का सहयोग लेकर उससे लडने लगता है । इससे उसका व्यक्तित्व युगानुरूप प्रभावशाली होता है और उसकी रचना में सामाजिक दृष्टि अधिक प्रभावशाली रूप धारण करती है - "समाज और साहित्य के बीच की महत्वपूर्ण कडी है लेखक का व्यक्तित्व । साहित्य के रूप में समाज की जो छाया प्रकट होती है वह लेखक के व्यक्तित्व के ही माध्यम से आती है । साहित्य के निर्माण में इसबीच की कडी - लेखक के व्यक्तित्व का महत्व है और यह महत्व इस बात में है कि एक ओर उसका संबन्ध समाज से है तो दूसरी ओर साहित्य से, साहित्य-रचना की प्रक्रिया में समाज, लेखक और साहित्य परस्पर एक दूसरे को इस तरह प्रभावित करते हैं कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः परिवर्तित और विकसित होता रहता है - समाज से लेखक, लेखक से साहित्य और साहित्य से पुनः समाज ।"[72] इससे स्पष्ट होता है कि अपने में सीमित रहकार साहित्यकार श्रेष्ठ रचना नहीं कर सकता है । उसके लिए सामाजिक दृष्टि की मज़बूत नींव चाहिए ।

कवि की सामाजिक दृष्टि की गहराई प्रतिभा एवं कल्पना की उपज नहीं होती है । यह समाज की सच्ची पहचाना और तदनुसार पुष्ट होनेवाली समाज संपृक्ति से हो सकती है । जिस कविता में तत्कालीन समाज किसी आवरण के बिना प्रकट होता है वह रचना स्थायी और श्रेष्ठ मानी जाएगी और उसकी सामाजिक दृष्टि हमें प्रभावित करेगी । मुक्तिबोध के अनुसार किसी साहित्य रचना की सामाजिक दृष्टि की परख करने के लिए उसे तीन दृष्टियों से देखना है - "किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए - एक तो यह है कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है अर्थात् वह किन सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है, दूसरा यह कि उसका अन्तः स्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उनका आन्तरिक तत्व स्थापित किए हैं, तीसरे इसके प्रभाव क्या है, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया है और क्यों' साधारण जनता के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है ।"[73]

कवि भविष्यद्रष्टा होता है । उसमें अतीत और वर्तमान की स्थितियों के विश्लेषण से भविष्य को देखने की शक्ति है । कवि यह ताड़ लेता है कौन-सी शक्तियाँ अतीत में सामाजिक जीवन की स्वच्छन्द गति में बाधाएँ डालती रही थीं और

वर्तमान में समाज को पतन की ओर ले रही हैं । कवि की सामाजिक दृष्टि सजग होने के कारण उसके मन में वर्तमान स्थिति के प्रति एक प्रकार की असंतुष्टि जागृत हो जाती है । यह असंतुष्टि उसे सृजन के लिए विवश कर देती है जो समाज के बदलाव का आह्वान देती है । जिस कवि की कविता में समकालीन संकट का बोध जितना ही गहरा और व्यापक होता है, वह अपने युग का उतना ही समर्थ प्रतिनिधित्व होता है ।[74] इस संदर्भ में हमें यह भी ध्यान रखना है कि समकालीन होने का मतलब समकालीनता से संपृक्ति, उसकी पहचान और उसका निषेध ही नहीं है बल्कि इन सब के होते हुए भी भविष्य का उज्ज्वल नमूना प्रस्तुत करना भी है । इसके लिए कवि और कविता में सामाजिक दृष्टि की सख्त ज़रूरत होती है ।

आज की दुनिया में मानव जीवन की जटिलताएँ बहुत बढ गयी हैं । समाज के प्रत्येक क्षेत्र में वर्ग-भेद बहुत बढ गया है । चारों ओर नैतिक ह्रास के दृश्य दिखाई दे रहे हैं । शोषण और उत्पीडन पहले से बहुत बढ गया है । अवसरवाद और भ्रष्टाचार से समाज का जीवन असह्य बन गया है । मानव-संबन्ध टूट फूट गये हैं । इसलिए कविता का दायित्व महत्वपूर्ण हो जाता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूचित किया है - "इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है । इसीसे अन्तः प्रकृति में मनुष्यता को समय समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी । जानवरों को इसकी आवश्यकता नहीं है ।"[75]

अतः आज का कवि एक असाधारण, असमान्य युग में जीवित रहता है जहाँ मानवसभ्यता संबन्धी प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठे हैं । इस नाज़ुक परिस्थिति में कवि का दायित्व भी बढ गया है । प्रखर सामाजिक दृष्टि के कारण आज का कवि जीवन की यथार्थता से कतराकर पलायन नहीं करता और न संघर्षों से विमुख होना चाहता है । वह इन परिस्थितियों से काव्य की आधारभूमि का निर्माण करता है । ऐसे करते समय समाज की प्रगतिशील शक्तियों से संबन्ध स्थापित करता है - "जीवन की परिस्थितियाँ काव्य की भावभूमि को दिशा देती हैं, और काव्य जीवन को अनुप्राणित करता है ।

काव्य में जीवन के सभी तत्व प्रकट होते हैं, प्रगतिशील और प्रतिगामी तत्व भी, किन्तु भावप्रवण होने के कारण कवि ने अपना संबन्ध समाज की अग्रगामी शक्तियों से ही जोडा है ।"[76]

सामाजिक चेतना के आधार तत्व

(अ) समसामयिक जीवन-यथार्थ की पहचान

अपनी ज़िन्दगी में रचनाकार अवश्य समाज से प्रभावित रहता है । वैसे ही सृजन के दौरान भी उस पर सामाजिक परिवेश का प्रभाव व दबाव कम नहीं रहता । इसलिए समाज के यथार्थ का अनुभव रचनाकार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण शर्त है - "अनुभव सृजनात्मक जिजीविषा का उपजीव्य है ।"[77] लेकिन इसके लिए यह अनिवार्य है कि साहित्यकार सजग और प्रबुद्ध हो और सामाजिक यथार्थ का अनुभव करते समय रचनाकार किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से युक्त रहना अभिकाम्य भी नहीं है । ऐसे करने से उनकी दृष्टि विकल हो जाएगी और अनुभव की प्रामाणिकता नष्ट हो जाएगी । दरअसल सामाजिक परिवेश से प्राप्त यथार्थ से प्रभावित होनेवाला साहित्यकार अपने अनुभव यथार्थ की पुनर्रचना रचना के माध्यम से ही करता है - "बोध में कलाकार जिन प्रभावों को समेटता है वे ही उसकी कला को देश-कालगत यथार्थ से जोडते हैं, बशर्ते अपनी कला में वह जाने हुए यथार्थ की पुनर्रचना की सामर्थ्य रखता हो । साहित्य की मूल समस्या यथार्थ को स्थापित करने की नहीं होती, अपितु यथार्थ को रचने की होती है । इसलिए यथार्थबोध की आवश्यकता भी यहाँ यथार्थ को रचने केलिए ही है ।"[78]

साहित्यकार अपनी सृजन प्रतिभा को छोडकर अन्य सारी बातों में समाज के अन्य लोगों के समतुल्य है । मनुष्य की सारी समस्याओं का वह स्वयं द्रष्टा होता है और स्वयं जीवन की सारी समस्याओं से प्रभावित भी होता है । अतः साहित्यकार समाज की समस्याओं से विमुख नहीं हो सकता है । अन्य लोगों की तुलना में अधिक जागृत, संवेदनशील और प्रतिभासंपन्न होने के कारण इन समस्याओं को निकट से देखने और समझने की कोशिश करता है । फलस्वरूप समाज के प्रति उसकी दृष्टि अत्यन्त विशाल और जागृत हो जाती है ।

इसप्रकार समाज की समस्याओं से परिचित रचनाकार के मन में समाज और जीवन के प्रति एक लगाव उत्पन्न होता है । वह अपने जीवन और प्रश्नों के आधार पर दूसरों की समस्याओं की कल्पना कर सकता है । इसप्रकार उसे अपने और समाज के साथ सामंजस्य का एहसास हो जाता है । यह भाव उसके मन में एक प्रकार की बेचैनी उत्पन्न कर देता है और उसे रचना के लिए बाध्य बना देता है ।

सृजन के दरम्यान साहित्यकार को अनेक स्थितियों से गुज़रना पडता है समाज से जो कुछ अनुभव उसे प्राप्त होता है वही वह अभिव्यक्त करता है । इसलिए उसकी रचना में तत्कालीन समाज का बिंबित होना स्वाभाविक है । लेकिन यह फोटोग्राफिक प्रतिबिंब मात्र नहीं रह जाता । अत: हम कह सकते हैं कि रचनाकार अपने समय के सामाजिक जीवन के यथार्थ से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । जैसे डा. शिवकुमार मिश्र ने सूचित किया है - "साहित्यकार को जो रचयिता, स्रष्टा या प्रजापति कहा गया है, वह इसी कारण है कि वह यथार्थ की अनुकृति न करके उसका अपनी कृति में सृजन करता है । फोटोग्राफिक यथार्थ चित्रण की पद्धति से सच्ची कलाकृति का कोई संबन्ध नहीं है , सच्ची कलाकृति यथार्थ का दर्पण न होकर यथार्थ की सर्जिका होती है ।"[79]

अत: साहित्यकार सामाजिक प्राणी होने के नाते अपने समाज से सामग्री तो ग्रहण करता है । लेकिन यह ग्रहण अपनी दृष्टि व व्यक्तित्व के अनुसार होता है और उसे अपनी भावना की आग में तपाकर अधिक ठोस और सुन्दर बना देता है । अत: "साहित्यकार की वस्तुपरक दृष्टि जब जीवन जगत् से साक्षात्कार करती है तो सर्वप्रथम उसका ध्यान उन अन्त: संबन्धों पर जाता है जिससे सामाजिक यथार्थ निर्मित होता है ।"[80]

सामाजिक यथार्थ कोई बनी-बनाई चीज़ नहीं है जिसे हम किसी भी वक्त अपना करके उपयोग कर सकते हैं । वह हमारी चारों ओर फैली हुई वास्तविकता का नाम है । आशा और निराशा, प्रीति और घृणा, हर्ष और विषाद, संपन्नता और अभावग्रस्तता, स्वस्थता और रुग्णता आदि मनुष्य की यथार्थता का अंग हैं । दरअसल, "सामाजिक यथार्थ उस ज्वलन्त वास्तविकता का नाम है, जो नाना रूप और रंगों में, कहीं एकदम साफ-सीधी, कहीं बेतरह उलझी, हमारे चारों ओर के विराट प्रसार में हमारी समूची ज्ञानेन्द्रियों तथा इन्द्रिय-बोध को, बुद्धिप्राण जीव के रूप में

हमारी भावात्मक और विचारात्मक सत्ता को चुनौती देती हुई, हमारी अपनी इच्छा और खुशी-नाखुशी से स्वतंत्र निर्बाध फैली हुई है ।"[81]

यह वास्तविकता स्थिर न होकर गतिशील होती है । मौजूदा सामाजि स्थिति में आमूल परिवर्तन करने की बलवती आकांक्षा तथा सक्रियता के साथ इसके सूत्र जुडे हुए भी हैं । इस ज्वलन्त और गतिशील वास्तविकता को स्वीकार करना खतरे से खाली नहीं है । अतः इसे स्वीकार करने का अर्थ है जीवन और समाज की समस्याओं और उतार-चढावों से जूझने का निर्णय कर लेना । ऐसे करने से रचनाकार जीवन में प्रवेश कर, समस्याओं से जूझते हुए रास्ता बता दे सकता है । ऐसी वास्तविकता को स्वीकार करने से साहित्यकार की सामाजिक चेतना ठोस बन जाती है । "परंतु सवाल वास्तविकता की तेज़, आंच से घबरा कर प्राप्त की जानेवाली इस क्षणिक सुरक्षा का नहीं, बाहर निकलने और जोखिम उठाने का है, खुले दिल और दिमाग से वास्तविकता के साक्षात्कार का है, समाज और जीवन के भीतर प्रविष्ट होकर सारे उलझावों के बीच रास्ता ढूँढने, रास्ता बनाने और रास्ता बताने का है ।"[82]

सामाजिक यथार्थ की पहचान के कारण समसामयिक समाज की विसंगतियों और विद्रूपताओं के प्रति साहित्यकार के मन में विद्रोह, विक्षोभ असंतोष और तनाव का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है । इन्हें दूर करने के लिए विद्रोही भावना से भर जाने में कोई दोष नहीं । लेकिन यह विद्रोही भावना विध्वसंकारी न होनी चाहिए । जिस रचनाकार में यह भावना अधिक सच्ची और फैशन की वस्तु नहीं है उसकी सामाजिक चेतना अप्रतिम सिद्ध हो जाएगी । ऐसी समाज चेता कलाकार की रचना अनश्वर कला की सृष्टि कर सकता है । "साथ ही महान कला जीवन के यथार्थ से तादात्म्य स्थापित करती है । महान कला में हम जीवन के संश्लिष्ट और विराट यथार्थ का अंकन पाते हैं ।

साहित्य में अभिव्यक्त यह जीवन यथार्थ जीवन के यथार्थ से कुछ भिन्न प्रकार का होता है । क्योंकि "जीवन की वास्तविकताओं को कल्पना, भावना और चिन्तन से रंगना साहित्य-सृजन की अपरिहार्य प्रक्रिया है ।"[84] अतः अनेक प्रकार की विकृतियों से भरे हुए यथार्थ को साहित्यकार कल्पना शक्ति और अनुभूति प्रवणता के द्वारा जीवन-यथार्थता का उद्घाटन करता हुआ उस में रागात्मक सत्ता प्रतिष्ठित करता है और

जीवन को ऐसी स्थिति प्रदान करता है कि वह अपनी विकृति को संस्कृति, क्लांति को क्रिया-शीलता और पाशविकता को मानवीयता में परिणत करने की ओर सचेष्ट है ।

अब तक की बहस से स्पष्ट है कि किसी भी साहित्यकार की सामाजिक चेतना का महत्वपूर्ण आधार समसामयिक जीवन यथार्थ की पहचान है । दरअसल इसके द्वारा साहित्यकार की सामाजिक चेतना प्रखर होने के साथ-साथ उसकी रचना भी सार्थक बन जाती है । जीवन यथार्थ की पहचान जितनी अधिक होगी, रचनाकार को समाज के प्रति अपने दायित्व को पूरा करने में उतनी सफलता भी मिलेगी । वह समाज के लिए, मानवहित के लिए नये-नये मूल्यों का निर्माण कर सकता है । लेकिन ये सब कार्य तब तक संभव नहीं हो जाते हैं जब तक रचनाकार को जीवन यथार्थ की पहचान का गहरा साक्षात्कार न हो । अतः हम कह सकते हैं कि जिस रचनाकार में जीवन यथार्थ की पहचान अधिक ठोस होगी वह अपनी आत्मबद्धता का परित्याग कर सामाजिकता को अपनाता है । उसकी यह पहचान उसे सामाजिक जीवन की समस्याओं के निकट संपर्क में ले जाती है । वह अपनी जीवन-समस्याओं को भी सामाजिक समस्याओं के रूप में बदल कर साहित्य में अभिव्यक्त सकता है ।

अतः साहित्य का आधार मानव जीवन के वैयक्तिक, धार्मिक, सामाजि आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ हैं । साहित्यकार जीवन और उसकी समस्याओं से पलायन नहीं कर सकते । जो साहित्यकार अपनी रचना के सन्दर्भ में जीवन यथार्थ और उसकी समस्याओं से विमुख हो जाता है उसकी रचना दो कौडी की रह जाएगी ।

§आ§ मूल्य और मानवीयता

मूल्य मानव से संबंधित एक धारणा है ।[85] यह कोई मूर्तवस्तु नहीं है, फिर भी अनुभवगम्य है याने "मूल्य सदा अनुभव होता है, वस्तु या विषय नहीं है ।" इसलिए इसकी सर्वसम्मत परिभाषा देना आसान कार्य नहीं है । मूल रूप से "मूल्य" अर्थशास्त्र का एक शब्द है । इसका संबन्ध मनुष्य के भौतिक जीवन से है । लेकिन मानव जीवन भौतिक सीमाओं से सीमित नहीं रहता । इस भौतिक जगत की तुलना में मनुष्य की आन्तरिक जगत अधिक व्यापक है । इस अन्तर्जगत् की सहायता से मानव ने जिन विकासों को अर्जित किया वे सांस्कृतिक विकास हैं । इसप्रकार का विकास भौतिक

उपलब्धियों से महत्वपूर्ण और मूल्यपरक है । "अपने इस अन्तर्जगत् को अनुरूपता में ही मनुष्य ने भावात्मक और बौद्धिक स्तर पर दर्शन, साहित्य एवं विज्ञान इत्यादि क्षेत्रों में अपना विकास किया है और कर रहा है । उसका यह समस्त विकास सांस्कृतिक विकास है । इन सांस्कृतिक उपलब्धियों को मनुष्य अत्यंत महत्वपूर्ण और मूल्यपरक मानता है । यह मूल्यपरकता उसकी उपलब्धियों की अर्थवत्ता और गुरुता के लिए एक व्यंजनात्मक शब्द है ।"[87]

अतः स्पष्ट है कि मूल्यों का संबन्ध मानव जीवन से है । उनकी स्थिति वस्तु में न होकर मानव में है । इसलिए मानव के पूर्ण अस्तित्व को स्वीकार किए बिना मूल्य की कल्पना नहीं कर सकते हैं । वह अपनी आवश्यकता के अनुसार मूल्य का निर्माण और संचालन करता है । "मानवीय संवेदनाओं को केंद्र में रखे बिना मूल्य की कल्पना नहीं की जा सकती ।"[88] सामाजिक जीवन को सुख और शांतिपूर्ण बनाने के लिए मानवद्वारा स्थापित करनेवाले तत्वों को मूल्य कह सकते हैं - "स्पष्ट है कि निश्चित उद्देश्य जो समाज में व्यक्तियों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं - सामाजिक मूल्य तथा सामाजिक मूल्यों का मापदण्ड दोनों ही हैं ।"[89]

प्रत्येक युग में साहित्यकार अपने समसामयिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार करते समय मूल्य दृष्टि से उसकी परख करता है । इसलिए साहित्य में मूल्य का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रत्येक रचनाकार का कर्तव्य है कि अपने समाज जीवन को गति देन और सुरक्षित रखना । उसका संबन्ध मनुष्य के अन्तर्बाह्य जगत् से है । हमें यह मान लेना चाहिए कि साहित्य मानव की सांस्कृतिक उपलब्धियों की लेखा-जोखा है । अतः साहित्य में मूल्य का महत्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है । और "समाज-शास्त्री, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक की तुलना में साहित्यकार का दायित्व अधिक गुरु होता है । साहित्यका से भिन्न अन्य सभी विद्वानों का संबन्ध जीवन अथवा संस्कृति के किसी एक पहलू विशेष से होता है जब कि साहित्य का दायित्व पूरी संस्कृति के मूल्यात्मक विकास का दायित होता है ।"[90]

साहित्य साहित्यकार के द्वारा अनुभूत वास्तविकताओं की शब्दबद्ध अभिव्यक्ति है । इसप्रकार साहित्यकार को समाज के निकट संपर्क का अवसर मिलता है । तब साहित्यकार समाज में प्रचलित मूल्यों को समझने की कोशिश करते हैं । उन्हें पता चलता है कि प्रत्येक मूल्य सामाजिक जीवन की गति में क्या कार्य कर रहा है । यदि मूल्य रूढि बनकर या कुरूप धारण कर समाज के यथार्थ के प्रति विमुख बन जाते हैं तो साहित्यकार उन मूल्यों से संघर्ष करता है और उपयुक्त मूल्यों को साहित्य में स्थापित करता है । इसलिए "वह मूल्यद्रष्टा और मूल्यस्रष्टा दोनों रूपों में जीवन का साक्षात्कार करता है । उसकी दृष्टि में जीवन की महत्ता सैद्धांतिक की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण में अधिक रहती है ।"[91] इसप्रकार लेखक की निजी अनुभूति अपनी श्रेष्ठता के कारण समाज को भी स्वीकार्य बन जाती है । "...साहित्य में जीवन-मूल्य ऊपर से आरोपित नहीं होते हैं जो उसकी आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया में स्थापित होकर अपनी सुन्दरता, उदात्तता और महत्ता के कारण समाज द्वारा जीवन मूल्यों के रूप में स्वीकृत किए जाते हैं ।"[92]

साहित्यकार अधिक संवेदनायुक्त प्राणी है । इसलिए समाज की सांस्कृतिक ह्रासशीलता और मूल्यगत विघटन उनके मन में संघर्ष को उत्पन्न कर देते हैं । यह आत्मसंघर्ष उसे समूची मानवता और परिवेश से तादात्म्य कर देता है । ऐसे करने से उनकी चेतना अधिक सामाजिक बन जाती है । यह प्रक्रिया उसे और उसके व्यक्तित्व को समष्टि के साथ जुडा देती है । इस स्थिति में रचनाकार अपनी अनुभूति के आधार पर मानवीय जीवन को बनाये रखने के लिए प्रयत्नरत हो जाता है । इस प्रकार वह मानवमूल्यों की स्थापना करता है - "अनुभूति और जीने को अधिकार-वांछा को कलाकार (या साधारण जन) किसी भी कर्म-श्रृंखला के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करता है तो वहीं वह मानव-मूल्यों की स्थापना करता है ।"[93]

किसी भी साहित्य की प्रासंगिकता उसमें प्रस्तुत मानव-मूल्यों पर आंका जा सकते हैं । यदि साहित्यकार रचना करते समय मूल्यों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देता है तो अवश्य उसका तिरस्कार हो जाता है । धर्मवीर भारती स्पष्ट करते हैं - "सार्थकता का पहलू सबसे बडा मानवमूल्य है ।"[94] इसलिए साहित्यकार कभी भी अपनी रचनाओं में मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता । अतः रचना करते समय उसको यह तय कर लेना चाहिए कि कौन-कौन से मूल्य आज प्रासंगिक हैं - चाहे वे पुराने हों या नये ।

अन्ततः डा० रघुवंश के अनुसार मूल्यबोध का प्रश्न साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया का प्रश्न है । इसपर विचार वास्तव में इस रूप में होना चाहिए कि कला की रचना-प्रक्रिया क्या है और उसके भीतर मानव-मूल्यों का कितना गहन और ठोस विस्तार समाहित है ।[95]

साहित्यकार अपनी रचना-प्रक्रिया में मानवीय जीवन से किसी प्रकार अलग नहीं रह सकता है । साहित्यकार अपने को समूची मानवता और अपने समकालीन समाज से जोडकर रचना करता है । इसप्रकार कला या साहित्य का लक्ष्य मानवीयता को जगाकर समाज में सुख और शांति की स्थापना करना है । इसलिए हम यह नहीं मान सकते हैं कि "कला-कला के लिए" है । जैसे अन्यत्र कई बार कह चुके हैं कि मानव सामाजिक प्राणी है । उसकी प्रकृति अनेक बातों में पशुकोटि से भिन्न कर देती है । मानवीयता उसका विशेष गुण है । यह मानव की गरिमा का केन्द्र बिन्दु है । मानव से श्रेष्ठ कुछ भी इस संसार में नहीं है । अपनी मानवीयता के सहारे वह सब के हित सोचता हैं और करता है । वह अपनी स्वार्थ-सिद्धियों अर्थिक-लाभों को त्याग कर नैतिक और आदर्शपूर्ण जीवन जीना चाहता है । देश-कालातीत सब के मैत्री और बन्धुत्व की भावना मानवीयता के कारण पनप रहे हैं ।

साहित्य इस मानव के अन्तर्बाह्य जगत का चित्रण है । साहित्यकार अपनी दृष्टि समाज और मानव की ओर फिराकर उसकी गतिविधियों और कार्यकलापों का विश्लेषण करता है । तब साहित्यकार का समाज जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा, मूल्य-विघटन, सांस्कृतिक अधःपतन आदि सारे व्यापारों साक्षात्कार होता है । वह अपनी रचना के द्वारा उन सब का संप्रेषण भी करता है । याने मानवीय विचारों के संप्रेषण का सर्वाधिक सशक्त माध्यम साहित्य ही है । साहित्य-सृजन के आरंभकाल से ही मानवीयता साहित्यकार की सामग्री रही है । मनुष्य और उसके जीवन को सुखमय बनाने के लिए प्रेरणा देना साहित्यकार का काम रहा है । आज मानव-संसार कई टुकडों में बांटे गये, युद्ध और आपसी झगडे महानाश के कारण बन गये, सारे सांस्कृतिक मूल्य उजडे जा रहे हैं । इस सन्दर्भ में साहित्यकार की भूमिका और महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि समाज के अन्य सदस्यों की तुलना में अधिक सजग और संवेदनशील होने के कारण

वह अधिक मानवीय भी होता है। साहित्यकार का लक्ष्य तो मनुष्य और संसार को समझना और वर्तमान को अच्छे भविष्य में बदलना है।

किसी भी काल के किसी भी साहित्यकार ने मानवीयता की उपेक्षा नहीं की है। पुराने ज़माने में जब साहित्यकार समाज और मानव की दुर्दशा देखकर दुखी हो उठता था तब उसकी मानवीयता आध्यात्म में शरण लेती थी। लेकिन आज का लेखक अधिक मानव निष्ठ होने के कारण मानव की समस्याओं से नहीं भाग जाता है, उसकी मानवीयता उसे प्रश्नों से सीधा साक्षात्कार करने का साहस प्रदान करती है। इसप्रकार जागृत सामाजिक चेतना से युक्त साहित्यकार कभी कभी जीवन व्यापी विषाद और बुराइयों का चित्र प्रस्तुत करता है। यह चित्रण जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए है। "मानव की पाशविकता तथा अवसादमयी भावनाएँ सत्य हैं तथा इनका साहित्य में नियोजन भी हो सकता है। किन्तु यह ध्यान में रखना होगा कि मानव-व्यक्तित्व का यह पक्ष साहित्य के क्षेत्र में लक्ष्य के रूप में चित्रित न हो अपितु साहित्य में इसकी सार्थकता मानवीय व्यक्तित्व की पूर्णता दिखाने तथा मानवीय पतन की ओर घृणा उत्पन्न करके उसे उच्चतर मनोभावों की ओर आकर्षित करने में निहित है।"[96]

जिस कवि या साहित्यकार में मानवीयता सतही और चंचल न हो वह कभी भी निराश नहीं हो सकता। वह कभी भी मानव के शौर्य एवं गरिमा के प्रति अनास्था नहीं रखता है। वह हमेशा मानव-हित में दिलचस्पी लेता है। इसलिए व्यवस्था-हीनता और पाशविकता को वह अस्वीकार कर देता है। मानववादी साहित्यकार का विचार है कि मनुष्य वस्तुस्थितियों को अनुकूल और समाज को अधिक न्यायपूर्ण बनाने का प्रयत्न करेगा। इसलिए आज साहित्य में दिव्य और महान का स्थान आम आदमी को मिल गया है। साहित्य में उसकी विजय और पराजय का चित्रण करना साहित्यकार अपना कर्तव्य मानता है।[97]

साहित्य के द्वारा समाज और व्यवस्था को पूर्ण रूप से बदल सकता है, यह विचार पूर्ण रूप से युक्तिसंगत नहीं है। एक सीमा के परे साहित्य पर आश्रित होना उचित नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि समाज और

व्यवस्था के परिवर्तन में साहित्य का आश्रय लेना मूर्खता है । यह बात निर्विवाद है कि मानवीय संस्कृति के निर्माण में साहित्य एक महत्वपूर्ण घटक होता है । जो साहित्यकार मानवनिष्ठ और दायित्वबोध से युक्त होता है कला या साहित्य को दुनिया को बदलने का निमित्त मानता है । उसकी सामाजिक चेतना मानवीय सर्जनात्मक सामर्थ्य को प्रदर्शित करती है । ऐसे रचनाकार के लिए अभीष्ट है मनुष्य का लौकिक सुख और शांति न कि मरणोत्तर आनन्द या अलौकिक सत्ता के साक्षात्कार से मिलनेवाली आध्यात्मिक अनुभूति ।[98]

यों स्पष्ट हो जाता है कि समाज चेता साहित्यकार का सबसे कारगर हथियार मानवीयता की नींव पर बनी मूल्य दृष्टि है जिससे उसका साहित्य संपूर्ण समाज को भी पलटने में कामयाब होता है ।

{इ} सामाजिक दायित्व और प्रतिबद्धता

एक बेहतर इनसानी रिश्ते की तलाश ही साहित्य का लक्ष्य है । इसलिए सामाजिक प्रश्नों से पलायन साहित्यकार के लिए अनुचित है । उसकी सार्थकता प्रश्नों का हल करने के लिए कोशिश करना है, चाहे उसमें उसे सफलता मिले या असफलता । अपने वर्तमान और भविष्य के समाज को विभीषिकाओं से बचाना साहित्यकार का दायि है । समाज की करुण व त्रासद स्थिति से अवगत होकर भी चुप रहना उसके लिए असंभव है । स्वयं मानव होने तथा सभी धरातलों पर मानव से सपृक्त होने के कारण मानवीय मूल्यों अथवा सामाजिक आदर्शों का संप्रेक्षण ही साहित्यकार का वास्तविक दायित्व है । अतः साहित्यकार के विषयों का संबन्ध मानव के साथ है, उस मानव के साथ जो भौतिक यातना से, शोषण से और अस्तित्व की रक्षा की लडाई से तहस-नहस हुआ है । मार्क्सवादी इसे सर्वहारा कहते हैं । जैसे कि शिवकुमार मिश्र ने सूचित किया है - "ऐसी स्थिति में संबद्धता का यदि मानवता के संदर्भ में कोई भी अर्थ हो सकता है, तो वह उस मनुष्यता से संबद्ध होने में ही है, जो आज भी भौतिक यातनाओं के बीच से गुज़र रही है, मानवीय शोषण का शिकार है, और अपने समूचे अस्तित्व को दाँव पर लगाए उसके खिलाफ लड रही है । मार्क्सवादी शब्दावली में इसी मनुष्यता को सर्वहार कहा गया है ।"[99]

साहित्य को आत्माभिव्यक्ति माननेवाले भी साहित्य को निरुद्देश्य नहीं मानते । उसके सामने एक भाव या विचार अभिव्यक्ति के लिए है । अपनी यह आत्माभिव्यक्ति लक्ष्यहीन नहीं है । वह जब साहित्य के रूप में आत्माभिव्यक्ति करता है तब वह अपने समाज के चित्र को प्रस्तुत करता है । एक ओर वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का तिरस्कार नहीं कर सकता, दूसरी ओर इसकी सीमा से बंधित भी नहीं रह सकता । उसकी सफलता इसमें है कि वह अपनी अनुभूति को समाज की अनुभूति में बदलने में सक्षम हो । इससे सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करने और उनका हल करने का महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह हो जाता है । अतः साहित्यकार का दायित्व है अपनी कृति के माध्यम से लोकाचार और लोकनीति का निर्धारण तथा धर्म, नीति, दर्शन आदि गंभीर समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना । लेनिन ने साहित्य की सोद्देश्यता पर ज़ोर देते हुए लिखा है कि साहित्य को पार्टीज़न होना चाहिए ।[100] लेकिन इसका अर्थ कभी यह नहीं था कि साहित्य में पार्टी के नियमों को प्रस्तुत करना है । उनका तात्पर्य जनता के लिए, जनता की स्थितियों और समस्याओं का चित्रण करना है ।[101] अतः आज के वर्ग-वैषम्य से पीडित संसार में शोषित और पीडितों के जीवन को शोषणमुक्त बनाने के लिए, और उसके लिए क्रांतिकारी शक्तियों को संगठित करना और उनके साथ देना महान रचनाकार का धर्म बन जाता है । इसप्रकार रचनाकार को अपना पक्ष लेना पडता है । प्लेखानेव ने इसे स्पष्ट कहा है - "उत्पीडित और शोषित जनता का पक्ष लेना संवेदनशील कलाकार के लिए ज़रूरी है । कलाकार को अगर वह सचमुच संवेदनशील है, स्वाभाविक रूप से अपने समय की क्रांतिकारी शक्तियों का साथ देना चाहिए, चाहे वह स्वयं बुर्जुआ वर्ग से संबंधित हो । अपने समय के क्रांतिकारी विचार ही कलाकार के रक्त-मांस के अंग बनें, तभी वह सच्चे अर्थ में कलाकार होगा ।"[102]

साहित्य का उद्देश्य समाज को प्रेरणा देना है, व्यक्ति और उसकी भावनाओं का परिष्कार करना है । समस्त मानव की समता घोषित करना साहित्यकार का कर्तव्य है । सार्वजनिकता साहित्यिक प्रक्रिया का मूल है । इसलिए हाथी-दांत के मीनारों में बैठकर साहित्यकार श्रेष्ठ रचना नहीं कर सकता है । डा. धनंजय वर्मा लिखते हैं - "रचना की वस्तु यह सारा जीवन अपनी सारी व्यापकता और गहराई में

फैला है, वास्तविक जगत् का घटना-क्रम निरंतर चल रहा है,पर रचना की पहली शर्त इससे रागात्मक या संवेदनात्मक धरातल पर संयुक्त होने की, संबन्धों को तलाशने की है । यही उसकी जीवन से प्रतिबद्धता है जिसके बिना न तो यथार्थ खोजा जा सकता है, न निर्मित किया जा सकता है न ही अभिव्यक्त किया जा सकता है ।"[103] अतः हम कह सकते हैं कि साहित्यकार को प्रतिबद्ध होने से कोई आपत्ति नहीं है, उसे प्रतिबद्ध होना अनिवार्य है । इसके कारण सामाजिक जीवन का पुनसृजन करते समय लेखक को भटकना नहीं पडता - "एक तो अपनी इस प्रतिबद्धता की डोर से बन्धा रहने के कारण उसका कर्म तरह-तरह के थपेडों में पडकर §जिनसे मेरा आशय जीवन के सुख-दुख से भी है और वैचारिक प्रसंगों से भी§ बहकने या भटकने नहीं पाता, और कभी कुछ भटकाव आता भी है तो फिर जल्दी ही अपना ठीक रास्ता मिल जाता है । दूसरे यही प्रतिबद्धता उसकी रचनावृत्ति की स्फूर्ति भी होती है ।"[104]

यह निर्विवाद है कि विचारधारा साहित्य नहीं है । लेकिन साहित्य रचना में विचारधारा का सहयोग हो सकता है । साहित्यकार के विवेक निर्माण में विचारधारा महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है । लेखक अपने काल के विचारों, पूर्वग्रहों, मूल्य दृष्टियों से अछूता नहीं रह सकता । मानवीय मूल्यों की स्थिति का विश्लेषण, मानव को भाग्य और इतिहास का खिलौना बनानेवाली दृष्टि का विरोध करना साहित्यकार का दायित्व है । लेकिन यह प्रतिबद्धता ऊपर से आरोपित या बाह्य शक्ति के द्वारा मढ दिया गया नहीं हो । नवलकिशोर के अनुसार - "यह प्रतिबद्धता लेखक द्वारा स्वेच्छा से गृहीत होनी चाहिए और इसके अतिरिक्त किसी ऊँची ताकत से नियंत्रित नहीं होनी चाहिए । साथ ही प्रतिबद्धता अपने-आप में सौन्दर्यात्मक प्रतिमान नहीं है, कला-चेतना से जुडकर ही वह मूल्य बन जाती है ।"[105] साहित्यकार शासन, राजनीति, धर्म या वाद का पिछलगु बनाना साहित्य और समाज के लिए अहित है । ऐसे करने से उसकी दृष्टि बिगड जाती है और ठीक-गलत की विवेचना-शक्ति नष्ट हो जाती है । वह किसी वर्ग-विशेष को प्रभावित कर संकुचित और क्षणिक हो जाता है । इसलिए "साहित्यकारों को इसी प्रकार की अतिप्रतिबद्धता से जहाँ तक संभव है बचना होगा । उसे समाज से जुडना है, वर्ग से नहीं - क्योंकि वह सभी का है ।"[106]

अत: पक्षधरता विचारधारा से कम संबन्धित है । उसका संबन्ध समाज के शोषित और पीडित से अधिक होता है । उसका कार्य है कि मानव समाज के यथार्थ को विश्लेषित करना, समाज के संबन्धों का परिचय प्राप्त करना । ऐसे करने से वह समाज के पीडित पर सहानुभूति और उत्पीडक पर घृणा व्यक्त कर सकता है । "जहाँ ऐसी घृणा नहीं जागती, वहाँ मैं तो यही समझूँगा कि उस व्यक्ति की अन्तरात्मा, विवेक, जो भी कह लीजिए, सो गया है, मर गया है ।"[107] अत: प्रतिबद्धता का प्रश्न अन्तरात्मा का प्रश्न है ।[108]

पलायन और नासमझी के कारण साहित्यकार प्रतिबद्धता को अस्वीकार करते हैं । जो साहित्यकार अपने समाज की समस्याओं से आंख चुराता है, पलायन करता है वह नपुंसक है । "व्यवस्था के प्रति जो लडाई है उससे तटस्थ या उदासीन हो जाने की शुतुरमुर्गी प्रवृत्ति साहित्यिक कर्तृत्व को नपुंसक बना देती है ।"[109] अप्रतिबद्ध कहना लेखक के लिए एक आवरण मात्र है । समाज और मानव के खतरनाक मामलों में "इन्वाल्व" होने से बचने का एकमात्र उपाय है । कुछ लोगों के लिए ऐसा कहना फैशन है । लेकिन फिर भी ऐसे कवि वर्तमान समाज के प्रति आक्रोश प्रकट करता है । वर्तमान से अप्रतिबद्ध होकर भी वह अपनी परिस्थितियों और मान्यताओं को परिवर्तित कर नये समाज का निर्माण करना चाहता है । इस प्रकार भविष्य को ओर दृष्टि रखने से वह परोक्ष रूप से प्रतिबद्धता को मान्यता देता है । भूत-वर्तमान से कटाव का अर्थ यह नहीं है कि भविष्य से अप्रतिबद्धता । साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है कि प्रत्येक युग में साहित्यकार ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपनी समसामयिक सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया और नये समाज की सृष्टि के लिए प्रेरणा दी । "समाज से सामग्री लेकर नये समाज के संकेत देनेवाले साहित्यकारों को मैं समाज के सब से अधिक प्रतिबद्ध प्राणी मानता हूँ ।"[110]

साहित्य मनुष्य के सामाजिक मानस की अभिव्यक्ति है । उसकी रचनात्मकता अनुभव ज्ञान से और अनुभव ज्ञान समाज से मिलता है । जब तक रचनाकार अपने अनुभवों के प्रति ईमानदार रहता है तब तक वह प्रतिबद्ध रहता है । लेकिन यह प्रतिबद्धता ईमानदारी का मात्र प्रश्न नहीं है बल्कि जीवन और अस्तित्व के रूप और दिशा का भी है । इसलिए साहित्य को प्रचार का माध्यम बनाना प्रतिबद्धता नहीं है

धनंजय वर्मा लिखते हैं – "प्रतिबद्धता का नाम लेकर बहुत-सा प्रचारात्मक लेखन हो चुका है जो साहित्य की सीमा में नहीं आता । साहित्य में राजनीति ही नहीं, दलीय कार्यक्रम की अनुवर्तिता भी उसे जीवन की व्यापक गहन अनुभूति से दूर ले जाती है । संवेदना और अनुभूति के अभाव में केवल प्रतिबद्धता ही श्रेष्ठ साहित्य का सृजन नहीं कर सकती । जिस प्रतिबद्धता का निषेध किया जाना चाहिए वह यही पार्टी की प्रतिबद्धता है ।"[111] साहित्यकार को ये दोनों स्थितियाँ साहित्य के लिए हितकारी नहीं है – "कलाकार को सप्रयास सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने को विवश होना पडे, यह भी सुखद स्थिति नहीं है, किन्तु सप्रयास यदि वह अहंवादी या व्यक्तिवादी बने तो निश्चय ही यह साहित्य क्षेत्र की दुखद घटना मानी जाएगी ।"[112]

संक्षेप में कहें तो रचनाकार की सहानुभूति तभी सार्थक हो सकती है जब वह समाज के पीडित-शोषित श्रमिक वर्ग की सृजनात्मकता से, उसकी विशेषताओं से सबक लेकर और उनकी संघर्षशील चेतना से प्रेरणा लेकर रचना करता है । ऐसे करने से रचनाकार को रचनाओं में अपने विचारों को थोपना नहीं पडता है । वह रचनाओं में विचारों को बलपूर्वक थोपने का प्रयत्न करेगा तो रचना की कलात्मकता और प्रभावात्मकता नष्ट हो जाती है । मार्क्स ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि लेखक को कभी अपने विचारों को थोपना नहीं चाहिए ।[113]

§ई§ राजनीति

वर्तमान मानव जीवन में राजनीति का महत्वपूर्ण स्थान है । आज मानवीय नियति राजनीति से जुडी हुई है । साहित्य मानव की रचना होने के नाते उसमें भी राजनीतिक दृष्टि का दर्शन होना स्वाभाविक है । "मानव की परिभाषा यह भी है कि वह प्रकृत्या एक राजनीतिक प्राणी है ।"[114] साहित्यकार अपने आप को समाज के प्रति जिम्मेदार मानते हैं । याने वह अपने समाज और सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू से संबद्ध है । मानव जीवन के वर्तमान और भविष्य का निर्णायक तत्व है राजनीति । साहित्यकार कभी भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता । यह मानना गलत है कि राजनीति और साहित्य दोनों विरोधी तत्व हैं । अज्ञेय ने लिखा है –

"साहित्य और राजनैतिक कार्यकर्त्ता दो अलग वर्ग हैं जो एक दूसरे को कुचल डालने या बांध रखने में लगे हैं - उनके धर्म का यह निरूपण बिलकुल भ्रान्त है । साहित्यिक और राजनीतिक को दो पृथक और विरोधी तत्व मान लेना किसी प्राचीन युग में भी उचित न होता, आज के से संघर्ष युग में तो वह मूर्खता-पूर्ण-सा है ।"[115] अतः हमें यह स्वीकार करना पडता है कि यद्यपि साहित्यकार अनिवार्यतः राजनीतिज्ञ नहीं न साहित्य राजनीति का अंग होता है फिर भी समाज चेता साहित्यकार का काम समकालीन सच्चाई की खोज है, या वर्तमान संकट का उद्घाटन या मानव भविष्य के निर्माण में उसका साथ देना है तो उसे राजनीतिक समस्याओं को प्रासंगिक मानना और उससे साक्षात्कार करना पडेगा ।

लेकिन राजनीति को कथ्य के रूप में अपनाते समय यह शर्त अवश्यंभावी हो जाती है कि राजनैतिक प्रेरणा कवि के जीवनानुभवों से उत्भूत हुई हो । इसके अतिरिक्त साहित्यकार राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश इसलिए नहीं करता है कि वह राजनैतिक कौशल प्राप्त कर सके, बल्कि इसलिए है कि अपने अनुभव-ज्ञान को अधिक सघन बना सके । मुक्तिबोध ने लिखा है - "यह कहना बिलकुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनैतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है , अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो छद्मजात न हो । यह बिलकुल सही है कि कलाकार की प्रवृत्ति राजनीतिज्ञ या दार्शनिक की प्रवृत्ति नहीं है !! वह राजनीतिक क्षेत्र में भी जिन आदर्शों को लेकर जाता है वे आदर्श हृदय के अपरिसीम विस्तार के आवेश से संबद्ध होने के कारण उस कलाकार के लिए तो कलात्मक ही है । वह राजनीतिक कौशल प्राप्त करने के लिए राजनीति में नहीं जाता, पद-प्राप्ति के लिए या कीर्ति के लिए भी वहाँ नहीं जाता, वरन् मानव जीवन के एक क्षेत्र में भीगते रस लेने, ज्ञान-दीप्ति प्राप्ति करने और उसे उत्तमतर बनाने और उसे उचित दिशा में परिवर्तित करने के लिए वहाँ जाता है ।"[116]

इसप्रकार साहित्यिक राजनीति में प्रविष्ट होते समय उनके मन में केवल एक ही लक्ष्य है कि जीवन के व्यापक अनुभवों को प्राप्त करना क्योंकि जीवन के व्यापक अनुभवों के बिना वह अपने लिए एक अनुयोज्य जीवन-दृष्टि के निर्माण में असमर्थ हो जाता है । आज के ज़माने में हरेक जीवन-दृष्टि के पीछे कोई न कोई राजनैतिक दृष्टि रहने के कारण रचनाकार केलिए राजनीतिक से पूर्ण रूप से विमुख होना संभव नहीं । इसके

अतिरिक्त रचनाकार जीवन के अनुभव को चित्रित करते हैं । कोई भी सजग रचनाकार अपने अनुभवों से समझ सकता है कि अब तक के जीवन का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है । इसलिए प्रत्येक रचनाकार, जिसकी प्रतिभा कोई सौन्दर्यवादी नहीं होती है वह वर्ग-संघर्ष का चित्रण करता है अपनी रचनाओं में । इसलिए वर्ग-विभक्त समाज में राजनीति के बहिष्कृत होने से रचना एकपक्षीय हो जाती है । लेनिन ने इसको स्पष्ट घोषणा करते हुए लिखा है - "वर्गयुक्त समाज में साहित्य राजनीति से बच भी नहीं सकता क्योंकि हर वर्ग संघर्ष राजनीतिक संघर्ष होता है ।"[117]

राजनीति ने आज नाना रूपों और गहराइयों तक व्यक्ति और समाज जीवन में स्थान जमा लिया कि उससे किसी के लिए तटस्थ होना संभव नहीं है । राजनीति से पलायन का अर्थ है मनुष्य की समकालीन स्थिति की पूरी जटिलता, तनाव और ट्रेजडी से विकर्षण । और ऐसा रचित साहित्य-संसार समकालीन संसार नहीं वह इच्छित संसार है - अतीत का या भविष्यत् का । क्योंकि "आज राजनैतिक समस्याएँ ही हमारी प्रमुख समस्याएँ हैं, बढ़ते हुए संघर्ष का दबाव वहाँ पर सब से स्पष्ट है, और यदि हमारे प्राणों की शक्ति सबसे पहले उन्हीं से टक्कर लेना चाहती है तो यह हमारे स्वस्थ होने का लक्षण है । इससे उलटी बात ही हमारे लिए भयानक होती है ।"[11]

जिस वातावरण में साहित्यकार रहता है उसकी दैनंदिन समस्याओं का उसकी संवेदनाशीलता पर तेज असर पड़ता है । आसपास का अथवा स्वयं भोगा हुआ यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता । इससे उसकी एक दृष्टि विकसित होती है । समकालीन परिस्थिति और उसका भीषण यथार्थ के कारण साहित्यकार के मन में तनाव उत्पन्न हो जाता है । साहित्यकार में इस तनाव को झेलने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए । नहीं तो उसे आत्मरक्षा के लिए पलायन करना पड़ेगा । इसके फलस्वरूप उसकी प्रतिभा समकालीन जीवन से अप्रासंगिक प्रकृति सौन्दर्य, प्रेम और आत्मान्वेषण में शरण लेती है । अतः जिस साहित्यकार में समकालीन राजनीति के साक्षात्कार की शक्ति होती है उसकी सामाजिक चेतना अधिक जागृत हो जाएगी ।

साहित्यकार राजनीति का चित्रण अपनी ढंग से करता है । वह राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियों से भिन्न होता है । समस्याओं के हल के लिए वह नारेबाजी जैसे कुछ नहीं करते । वह अपने पात्रों और बिंबों से प्रभावशाली अभिव्यक्ति करता है ।

दरअसल साहित्य राजनीति से अलग नहीं रह सकती । जैसे जैनेंद्रकुमार ने लिखा है - राजनीति सब का समावेश कर लेती है और साहित्य भी समूचे जीवन-प्रसार को आश्लेषित कर लेता है । इन दोनों को एक दूसरे से सर्वथा निर्वासित करके किन्हीं विशिष्ट भिन्न-भिन्न विभागों में नहीं बांटा जा सकता कि वे अपने से सीमित हो रहे और एक दूसरे से अलग-अलग रखे जाएँ । निश्चित ही एक दूसरे पर सीधा प्रभाव डालेंगे, क्योंकि वे कोई ऐसी प्रवृत्तियाँ नहीं है, जो जीवन के इस या उस क्षेत्र से ही सीमित और संबंधित हो और शेष जीवन-क्षेत्रों से कोई सरोकार न रखती हो ।"[119] साहित्यकार जागरूक सामाजिक है । वह सामाजिक परिवेश से अछूते रह नहीं सकता । इससे वह किसी भी हालत में राजनीति की उपेक्षा नहीं कर सकता । ऐसा नहीं है तो उसका साहित्य समाज और सामान्य जन से दूर की वस्तु हो जाएगी । इसप्रकार के एकांगी और अपूर्ण चित्रण को साहित्य नहीं कह सकते । वस्तुत: बुद्धिजीवी साहित्यकार और राजनीति में इतनी बडी दूरी नहीं होनी चाहिए । यदि राजनीतिक स्वतंत्रता का ही अपहरण कर लिया जाय, तो बुद्धिजीवी कलाकार अपनी चेतना से न तो आत्मोद्धार कर सकता है और न उसके साहित्य से समाज का ही अभ्युत्थान ही संभव है

आज की दुनिया में सारे परिवर्तनों का कारण राजनीति है । राजनीति के माध्यम से ही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया आगे बढती है और पूरी होती है । लेकिन इसकी भावभूमि बहुत हद तक साहित्य के द्वारा तैयार हो जाती है । वर्तमान जीवन की सारी गतिविधियाँ राजनीति से प्रभावित हैं । साहित्य समाज और जनता की आशा और अभिलाषाओं को प्रस्तुत करता है । ये सारी बातें राजनीति से निर्णीत हो जाने के कारण साहित्यकार तत्कालीन राजनीति से आँखें मूंद नहीं रह सकता । इसप्रकार साहित्य में प्रगतिशीलता आ जाती है और सामाजिक परिवर्तन के लिए साहित्य को उर्वर बना देती है ।

राजनीति साहित्य को गिरा देती है यह कथन निराधार है । जो इस विचार के हिमायती हैं उनके अनुसार राजनीति और सामाजिक समस्याओं में साहित्यकार को सिर खपाने की आवश्यकता नहीं । लेकिन यह पूर्ण रूप से अमान्य है क्योंकि राजनीति और साहित्य का मार्ग भिन्न होने पर भी उनका लक्ष्य एक है - समाज को प्रेरणा और गति देना । अतः राजनीति से विरक्त रहना सामाजिकता से वंचित होना ही है । राजनीति की संपृक्ति से ही साहित्यकार को सामाजिक चेतना पूर्णता प्राप्त कर सकती है । इसमें ही रचना की शक्ति निर्भर है । साहित्य सिर्फ वैयक्तिक मनोरंजन की चीज़ नहीं है । "साहित्यकार के लिए मानसिक स्वाधीनता की दुहाई देनेवाला कहता है, राजनीतिक दलबन्दियाँ क्षण-स्थायी है और साहित्य ऊँची चीज़ हैं, चिर स्थाई है । यह कथन सच तो है, पर जिस भूल को छिपाये है वह एक समान्तर अर्धसत्य के द्वारा प्रकट की जा सकती है हमारे लिए प्रासंगिक बात यह है कि राजनीति से, साहित्य से, अभिव्यंजना के बीसियों प्रकारों से अधिक एक चीज़ है वह है रचने की, सृजन करने की प्रेरणा - "क्रिएटिव अर्ज" । मानसिक स्वाधीनता का प्रश्न..उसके साथ लगता है । जो उस प्रेरणा का आदर करता है, वह स्वयं आदर का पात्र है, जो उसे बेचता है, जो उसे विलासिता का साधन बनाता है, वह नीच है, और नीच से बढ़कर बेवकूफ, क्योंकि वह स्वयं अपना नाश कर रहा है । यह स्थापना केवल साहित्यिक प्रतिभा के लिए सत्य नहीं है, सब तरह की सृजन-शक्ति के लिए है ।"[1]

इससे स्पष्ट जाता है कि साहित्य में राजनीति के समावेश में कोई आपत्ति नहीं है । आज मानव की नियति राजनीति से ही अभिव्यक्ति पाती है । लेकिन यह न भूलना चाहिए कि साहित्य किसी दलीय राजनीति का अनुगामी नहीं है । अतः साहित्यकार अपनी रचना में किसी विशेष दलीय राजनीति को प्रश्रय देने के लिए राजनीति का चित्रण करता है तो साहित्य अपनी गरिमा खोकर प्रचारात्मक बन जाएगा साहित्य की संवेदनात्मकता नष्ट हो जाने के कारण ऐसी रचना केवल राजनीतिक दल की "मानिफेस्टो" रह जाएगी । इसलिए साहित्यकार को दलीय राजनीति के प्रलोभन से ऊपर उठना ही वांछनीय है ।

अध्याय - एक

1. प्रेमचन्द कुछ विचार पृ: 92.
2. क्षेमचन्द सुमन योगेन्द्र कुमार मल्लिक - साहित्य विवेचन , पृ: 15-16.
3. इलिया एहरेनबुर्ग, दि राइटर एण्ड हिज़ क्राफ्ट पृ: 12.
4. Art is the product of the society, as the pearl is the product of the oyster Christopher Candwell - Illusion and Reality, p.
5. अदाल्फो सचेज़ बाजकेज़ - आर्ट एण्ड सोसाइटी, पृ: 112-113.
6. वही - पृ: 113.
7. डा. नगेन्द्र साहित्य का समाजशास्त्र पृ: 101.
8. वही ।
9. मैथ्यु आर्नल्ड एसेज़ इन क्रिटिसिज्म-2 पृ: 85.
10. अज्ञेय , साहित्य और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया पृ: 158.
11. बैलेस्की सेलेक्टड फिलासफिकल वर्क्स पृ: 365.
12. डा. शिवकुमार मिश्र , मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन, पृ: 346.
13. डा. एन. रवीन्द्रनाथ , साहित्य समाजशास्त्रीय संदर्भ, पृ: 96.
14. मार्क्स-एंगिल्स् , लिटरेचर एण्ड आर्ट पृ: 2.
15. डा. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ पृ: 61.
16. मार्क्स-एंगिल्स , लिटरेचर एण्ड आर्ट पृ: 8.
17. डा. त्रिगुणायत गोविन्द , शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत-1 पृ: 28.
18. अदोल्फो सचेज़ बाज़केज़ , आर्ट एण्ट सोसाइटी पृ: 116-117.
19. डा. नगेन्द्र , साहित्य का समाजशास्त्र , पृ: 22.
20. वही - पृ: 23.
21. वही - पृ: 19.
22. Art is born in struggle, because, there is in society a conflict between phantacy and reality. It is not a neurotic conflict because it is a social problem and is solved by the artist for the society - Candwell, Illusion and reality, p.265.

23. डा. देवराजपथिक , नयी कविता में राष्ट्रीय चेतना पृ: 16.
24. डा. रत्नाकर पाण्डेय , हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना , पृ: 158.
25. मार्क्स - एंगिल्स् , लिटरेचर एण्ड आर्ट , पृ: 1.
26. डा. देवराज पथिक , नयी कविता में राष्ट्रीय - चेतना पृ: 16-17.
27. इलिया एहरेनबुर्ग , दि राइटर एण्ड हिज़ क्राफ्ट पृ: 11.
28. गुलाबराय , साहित्यिक निबन्ध , [सं.] राजनाथ शर्मा पृ: 371.
29. मुक्तिबोध , नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र , पृ: 121.
30. डा. नामवर सिंह इतिहास और आलोचना पृ: 183.
31. मुक्तिबोध , नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र पृ: 129.
32. वही - नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 42.
33. भीष्म साहनी - आलोचना - एप्रैल-जून 1970 पृ: 15 "लेनिन और साहित्य" नामक निबन्ध से उद्धृत।.
34. इलिया एहरेनबुर्ग दि राइटर एण्ड हिज़ क्राफ्ट पृ: 11.
35. मैनेजर पाण्डेय , मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 42-43.
36. मुक्तिबोध , नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 84.
37. डा. महीप सिंह समकालीन साहित्य चिन्तन पृ: 20.
38. डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन बोध का स्वरूप पृ: 53.
39. डा. शिवकुमार मिश्र - साहित्य और सामाजिक संदर्भ , पृ: 41.
40. मम्मट - काव्य प्रकाश 1/2
काव्यं यशसे ऽ र्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।
41. प्रेमचन्द , कुछ विचार पृ: 10.
42. डा. महीप सिंह समकालीन साहित्यचिन्तन पृ: 20.
43. डा. शिवकुमार मिश्र , मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन , पृ: 126-127.
44. प्रेमचन्द - कुछविचार , पृ: 16.
45. शिवरानी देवी प्रेमचन्द - प्रेमचन्द घर में ,
46. डा. शिवकुमार मिश्र , मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन , पृ: 360.
47. लेनिन, आन आर्ट एण्ड लिटरेचर पृ: 96.
48. लेनिन, कम्यूनिस्ट पार्टी एण्ड इट्स रिज़ोलूशंस , सेवयम कांग्रेज़ आफ दि पार्टी, मास्को , 1932.

49. डा. परशुराम शुक्ल विरही आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद , पृ:353-354.
50. डा. शिवकुमार मिश्र , साहित्य और सामाजिक संदर्भ - पृ: 85.
51. अलन स्विंजवुड , दि सोशियोलजी आफ लिटरेचर - पृ: 11.
52. अज्ञेय , साहित्य और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया पृ: 143.
53. अमृतराय , नयी समीक्षा पृ: 15.
54. तनसुखराम गुप्त निबन्ध प्रभाकर पृ: 17.
55. जयनाथ नलिन साहित्य का आधार दर्शन पृ: 71.
56. रमाकान्त शर्मा आलोचना अंक:75 अक्तुबर-दिसंबर 1985 , पृ: 37.
57. गंगा प्रसाद विमल आधुनिकता साहित्य के संदर्भ में पृ: 98.
58. प्लेटो रिपब्लिक-111 पृ: 398.
59. भगवतीचरण सिंह साहित्य का परिवेश , (सं) अज्ञेय , पृ: 23.
60. एफ.आर.लीविस , न्यू बीयरिंगस् इन इंग्लिश लिटरेचर पृ: 13-14.
61. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - पृ: 28.
62. वही - पृ: 56.
63. रांगेय राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड , पृ: 308.
64. डा. शिवकुमार मिश्र , साहित्य और सामाजिक संदर्भ , पृ: 10.
65. क्रिस्टफर कॉडवेल इल्यूशन एण्ड रियालिटी पृ: 44.
66. डा. शिवकुमार मिश्र , मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन पृ: 131.
67. मुक्तिबोध , नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 84.
68. क्रिस्टफर कॉडवेल इल्यूशन एण्ड रियालिटी पृ: 109.
69. प्रेमचन्द , कुछ विचार पृ: 25.
70. कैलाश वाजपेयी आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प पृ: 200.
71. डा. नामवर सिंह आलोचना अक्तुबर-दिसंबर 1974.
72. डा. नामवर सिंह , इतिहास और आलोचना पृ: 38.
73. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 92-93.
74. श्रीकान्त वर्मा जिरह , पृ: 49.
75. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , चिन्तामणि-1, पृ: 149.
76. प्रकाश चन्द्र गुप्त आज के हिन्दी साहित्य , पृ: 23.
77. राजेन्द्र कुमार साहित्य में सृजन के आयाम और विज्ञानवादी दृष्टि , पृ: 14
78. वही - पृ: 159.

79. डा. शिवकुमार मिश्र , मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन , पृ: 367.

80. डा० प्रेमशंकर , साहित्य समाजशास्त्रीय संदर्भ , (सं) वी.डी.गुप्ता, पृ: 21.

81. डा. शिवकुमार मिश्र , साहित्य और सामाजिक संदर्भ , पृ: 104.

82. डा. शिवकुमार मिश्र , साहित्य और सामाजिक संदर्भ , पृ: 105.

83. प्रकाशचन्द्र गुप्त (नया हिन्दी साहित्य) आज के हिन्दी साहित्य , पृ: 17.

84. वही - पृ: 16.

85. वैजनाथ सिंहल साहित्य मूल्य और प्रयोग , पृ: 10.

86. "A value is always an experience, never a thing or object - The Analysis of value by Dewitt H Parker, p.178.

87. वैजनाथ सिंहल साहित्य मूल्य और प्रयोग , पृ: 10.

88. जगदीश गुप्त , लहर सप्तंबर 1960 , पृ: 39.

89. डा. हुकुमचन्द , आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य , पृ: 52.

90. वैजनाथ सिंहल साहित्य मूल्य और प्रयोग , पृ: 10.

91. वही - पृ: 11.

92. डा. शम्भूनाथ सिंह , व्यक्ति और सृष्टा पृ: 95.

93. लक्ष्मीकान्त वर्मा, लहर सप्तंबर-1960 , पृ: 44.

94. धर्मवीर भारती लहर सप्तंबर 1960 , पृ: 47.

95. डा. रघुवंश , लहर सप्तंबर 1960 , पृ: 46.

96. डा. नरेन्द्र देव वर्मा नई कविता सिद्धांत और सृजन , पृ: 43.

97. डा. चन्द्रभान रावत, समकालीन लेखक एक वैचारिकी पृ: 85.

98. नवल किशोर मानववाद और साहित्य , पृ: 17.

99. डा. शिवकुमार मिश्र साहित्य और सामाजिक सन्दर्भ , पृ: 74.

100. लेनिन, ऑन लिटरेचर एण्ड आर्ट पृ: 23.

101. वही - पृ: 26-27.

102. प्लेखानोव , आर्ट एण्ड सोशल लाइफ , पृ: 223-224.

103. डा. धनंजय वर्मा आस्वाद के धरातल , पृ: 32-33.

104. अमृतराय , आलोचना-75 , अक्तुबर-दिसंबर 1985 में प्रकाशित रमाकान्त शर्मा के लेख से उद्धृत , पृ: 35.

105. नवल किशोर मानववाद और साहित्य , पृ: 116.

106. डा. गंगाप्रसाद गुप्त , आधुनिक काव्य संदर्भ और प्रकृति , पृ:
107. अमृतराय , विचारधारा और साहित्य , पृ: 18.
108. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 109.
109. डा. चन्द्रभान रावत् , समकालीन लेखन एक वैचारिकी पृ: 64.
110. डा. गंगाप्रसाद गुप्त आधुनिक काव्य संदर्भ और प्रकृति , पृ:
111. डा. धनंजय वर्मा आस्वाद के धरातल , पृ: 34.
112. डा॰ विजयेन्द्र स्नातक विचार के क्षण , पृ: 9.
113. मार्क्स-एंगिल्स् , लिटरेचर एण्ड आर्ट , पृ: 39॰
114. अज्ञेय , स्रोत और सेतु पृ: 100-101.
115. वही - त्रिशंकु , पृ: 77.
116. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 157-158.
117. लेनिन मार्क्स एंगिल्स् , मार्क्सिज्म पृ: 31.
113. अज्ञेय त्रिशंकु पृ: 78.
119. जैनेन्द्रकुमार साहित्य का श्रेय और प्रेय , पृ: 278॰
120. विजयेन्द्र स्नातक विचार के क्षण , पृ: 13.
121. अज्ञेय , त्रिशंकु , पृ: 79.

अध्याय - दो

सामाजिक चेतना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आदिकाल

हिन्दी साहित्य का प्रारंभ कब हुआ, उसकी पहली रचना और रचनाकार कौन है आदि बातें विवादास्पद हैं। इस बहस में पड़ना हमारा ध्येय नहीं है। हमारा लक्ष्य केवल इतना है कि विभिन्न साहित्यिक इतिहासकारों द्वारा आदिकाल में समाहित रचनाओं को सामाजिक दृष्टि की कसौटी पर परखना। हमारा विश्वास यह है कि तत्कालीन साहित्यिक-प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन इसी दृष्टि से उपयोगी होगा। आदिकाल में मुख्य रूप से धार्मिक, लौकिक और राज्याश्रित रचना प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

धार्मिक रचनाएँ

आदिकाल में धर्म पर आधारित साहित्य-सृष्टि प्रचुर मात्रा में हुई है। इसके अन्तर्गत सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य और जैन साहित्य आते हैं।

सिद्ध साहित्य की धारा सातवीं शती से तेरह्वीं शती तक दिखाई देती है। ये सिद्ध बौद्ध-धर्म के वज्रयान शाखा में आते हैं। इस धारा के साहित्य में मुख्यतः सिद्धों के धर्म और साधना संबन्धी रचनाएँ शामिल हैं। साधक संत होने के नाते उन्होंने अन्तर्मुखी योग साधना को मान्यता दी थी। सिद्धि के लिए उन्होंने वामाचार को स्वीकृति दी। इसलिए उनकी साधना "गुह्य साधना" नाम से प्रसिद्ध हुई। उन्होंने अपनी रचनाओं में सुरा और सुन्दरी का खुल्लम खुला वर्णन किया है।

नाथपंथ का उद्भव भी बौद्ध-धर्म के वज्रयान शाखा से हुआ । लेकिन गोरख नाथ ने, जो नाथों में प्रमुख थे, वज्रयानियों के संयोगसाधना या बीभत्स विधानों से अपने धर्म को अलग कर रखा । उनके लिए "गुह्य साधना" मान्य नहीं थी । उनका मार्ग हठयोग का था । वे एकेश्वरवाद में विश्वास रखते थे ।

इसके अतिरिक्त जैन साहित्य का निर्माण भी हुआ । जैनमत स्थापक महावीर ने जिन विचारों को अपने धर्म के संबन्ध में रखा था वे सब जैन साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है 454 ई० में देवर्षियों ने समस्त जैन साहित्य को प्राकृत भाषा में प्रस्तुत किया । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जैन कवि धर्म प्रचार के लिए जनता की भाषा में अर्थात् हिन्दी में काव्य रचना करने लगा । इस साहित्यशाखा में आध्यात्मिक और सांप्रदायिक साहित्य का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ ।

इस प्रकार धार्मिक साहित्य समाज में नयी चेतना भरने में सक्षम नहीं हुआ यह मात्र धार्मिक-सांप्रदायिक प्रचार का माध्यम बन गया । सिद्ध साहित्य में "गुह्य साधना" और नाथ साहित्य में हठयोग को प्रश्रय दिया गया । इन साहित्य सृष्टियों को जीवन की रागात्मक वृत्तियों से कोई नाता नहीं था । इसलिए शुक्लजी ने इन रचनाओं को शुद्ध साहित्य क्षेत्र से बाहर निकालने को कहा है ।[1] अतः इस युगीन रचनाकारों में समाज के प्रति कोई दायित्व भाव स्पष्ट नहीं दीखता है । इसलिए समूचे समाज पर वे कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल सके । धार्मिक क्षेत्र में इनका काम सीमित रह गया ।

लोकाश्रित काव्य

लोकाश्रित काव्यों का संबन्ध मानव-जीवन के विविध पक्षों से रहा था "ढोला मारूरा दूहा", "जयचन्द्र प्रकाश", "वसन्त विलास", "जयचन्द-जसचन्द्रिका", "खुसरो की पहेलियाँ" विद्यापति के काव्य आदि आदिकाल की लोकाश्रित रचनाओं में आ हैं । उनमें श्रृंगार का सुन्दर वर्णन है । साथ-ही-साथ जन-जीवन का सच्चा वर्णन भी मिलता है । "वसन्त विलास" के संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है - "इसमें आदिकाल जन-जीवन का वह सरस पक्ष उभरता है, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शायद तलवारों की झनझनाहट के कारण नहीं सुन पाये थे ।"[2] खुसरो लोकाश्रित कवियों में प्रमुख थे । उ

पहेलियों में जन-जीवन की जान है । उन्होंने सिर्फ मनोरंजन के लिए पहेलियों और मुकरियों की रचना नहीं करते थे बल्कि गहरा व्यंग्य करते हुए मानव-जीवन का सुधार भी उनका लक्ष्य था ।

राजाश्रित काव्य

आदिकाल में राजाओं और सामन्तों की वीरता और वैभव वर्णनों से भरे साहित्य का सृजन भी हुआ था । ये रचनाएँ राजाओं के चरित काव्य नाम से प्रसिद्ध हैं । उस ज़माने में अधिकांश कवि राजाश्रित थे और उनके काव्य का लक्ष्य राजाओं का गुण गायन था । इस प्रकार के काव्यों में राजसभाओं में सुनानेवाले नीति, श्रृंगार विषयक रचनाएँ दोहों के रूप में और वीर रस प्रधान रचनाएँ छप्पय में होती थीं । ऐसे राजाश्रय में रचित काव्यों को आचार्यशुक्लजी ने "वीरगाथा" नाम से पुकारा ।

राजाश्रय में पले काव्य का विषय मुख्यतः युद्धवर्णन था । इसमें तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव था । वि.संवत् 704 में हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत वर्ष छोटे छोटे राज्यों में बँट गया । इन छोटे छोटे राजाओं में एकता नहीं थी । वे आपस में लडते रहे । इसके साथ-साथ पश्चिमोत्तर सीमांत से महमूद गज़नवी और शहाबुद्दीन जैसे विदेशियों का आक्रमण भी हुआ । इसी अवस्था में दरबारी कवि राजाओं को प्रसन्न करने केलिए और युद्ध क्षेत्रों में योद्धाओं को प्रेरणा देने केलिए काव्य-रचना करते थे । राहुल सांकृत्यायन के विचार में - "हमारी इन पांच सदियों में सामन्त वस्तुतः निर्भय वीर होते थे । उनके देश विजयों के बारे में कवि अतिशयोक्ति भले ही कर सकता है लेकिन शरीर पर तीरों और तलवारों के घाव-चिह्नों के बारे में अतिरंजना की ज़रूरत नहीं थी । ऐसे समाज के लिए वीर रस की कविताएँ बिलकुल स्वाभाविक है ।"[4]

लेकिन इस समय की राजनीति अनिश्चित और अराजक थी । आभ्यंतर और बाह्य युद्ध की विभीषिका के कारण साधारण जनता के जीवन में कोई प्रतीक्षा नहीं रह गयी थी । इस प्रकार की उथल-पुथल की स्थिति में कवियों को समाज की प्रगति और दिशा-प्रदर्शन के लिए उपयुक्त रचना की गुंजाईश न थी । कवि राजाश्रित होने के कारण अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा और वीर कृत्यों का बखान करते रहे । उनके सामने मानव समाज के दीन-हीन हालत की ओर कोई लगाव न था - "इस युग के कवियों के समक्ष मानवीय चेतना प्रधान न रहकर केवल आश्रयदाता की स्तुति ही प्रधान रह गयी थी।"

इसके अतिरिक्त तत्कालीन रचनाओं में अनुभूति की तीव्रता भी नहीं थी । आश्रयदाताओं को प्रसन्न रखने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों को वे तोड-मरोडकर विकृत कर देते थे । इस प्रकार ध्यान से देखने पर "स्पष्ट रूप से यह आभासित होता है कि काव्य की धारा अत्यंत वैयक्तिक एवं संकुचित हो बहती रही । इस युग के कवियों का न कोई आदर्श नहीं था, न उनका कोई प्रतिष्ठा का ध्येय ही था । यत्र-तत्र इन रचनाओं में जो राष्ट्रीय भाव दीख पडते हैं, यद्यपि वे महत्व रखते भी तो मानव के भीतर, जाति-पांति के भीतर एक देश के भीतर ही ऊँच नीच की द्वेष भरी भावना फैलाने का विषाक्त कार्य भी उन्होंने किया है ।"[6]

आदिकाल की रचनाओं में तत्कालीन समाज अवश्य प्रतिबिंबित है । लेकिन साहित्य सिर्फ समाज का प्रतिबिंब नहीं है । वह जीवन की व्याख्या भी करता है और उसे आगे बढने की प्रेरणा भी देता है । ऐसी रचना समाज-चेतना युक्त साहित्यकार से ही हो सकता है । इसी दृष्टि से देखने पर हमें कहना पडता है जिस अर्थ में हम आज सामाजिक चेतना का परामर्श करते हैं प्रारंभ काल के साहित्यकार में उसका अभाव है । क्योंकि तत्कालीन कवि समाज के अनुसार बदल गये, उसे अपने साथ लेकर आगे न बढ सके ।

भक्तिकाल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल का अभूतपूर्व महत्व है । इस काल में साहित्य में भक्ति का स्वर प्रमुख रहा । हिन्दु जनता पर मुसलमान शासकों का धार्मिक अत्याचार हावी रहा था । शासक वर्ग साधारण जनता के शोषण में तल्लीन थे । आर्थिक और सामाजिक वैषम्यों से जनता का जीवन दुरितपूर्ण हो गया था । इसलिए तत्कालीन जनता को ईश्वर की शरण के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं था । जैसे कि शुक्ल जी ने सूचित किया है - इतने उलटे-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिन तक उदासी-सी छाई रही । अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था'.[7] इस परिस्थिति से प्रभावित होकर कवियों ने भक्ति को अपना विषय बनाया । लेकिन भक्ति के आश्रय में रचना करना मात्र इन भक्त कवियों का लक्ष्य नहीं था । भक्ति के वर्णन के साथ-साथ वे तत्कालीन समाज का यथावत् चित्रण भी करते थे । कबीर, तुलसी, सूर जैसे महान कवियों की रचनाओं के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि उनका साध्य जनता को सिर्फ भक्ति-रस में सराबोर करना न था बल्कि अपने समाज के अन्तरविरोधों का चित्रण करते हुए उसका सुधार और परिवर्तन भी उनका लक्ष्य रहा था याने "अव्यक्त या अगोचर

साथ अपना रागात्मक संबन्ध जोडने के साथ निष्ठापूर्ण प्रयास के बावजूद भी यह संभव नहीं था कि मध्य युगीन कवि जीवनानुभूति से वंचित होकर अपनी युगीन परिस्थितियों तथा युग धर्म से परिपूर्ण विमुख रहे ।"[8]

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का "सुवर्ण-युग" है । यह सर्वविदित है कि इसके निर्गुण और सगुण दो धाराएँ प्रचलित थीं । निर्गुण धारा में कबीर, रैदास जैसे संत आते हैं । सगुण धारा की महान हस्तियाँ सूर और तुलसी हैं । इनकी रचनाएँ तत्कालीन सामाजिक जिन्दगी के साक्ष्यपत्र हैं । आदिकाल की अपेक्षा भक्तिकाल की रचनाएँ जनता और जन जीवन के अत्यन्त निकट थीं । इसलिए ये रचनाएँ अत्यन्त शक्त एवं जीवन्त भी रहीं । और "रचना में शक्ति तभी आती है जब वह सामान्य जनता के विकास के अनुकूल हो, इसका प्रमाण भी हमें भक्ति साहित्य में मिल जाता है ।"[9]

भक्तिकाल के अन्तर्गत आनेवाली निर्गुण और सगुण धारा का अलग-अलग विवेचन तत्कालीन कवियों की समाज-चेतना को समझ लेने में सुविधाजनक होगा ।

निर्गुण भक्ति काव्य

आलोच्य काल में भारतीय समाज का नियंत्रण सामंतों के हाथ में था । पुरोहितों की सहायता से ये सामंत लोग भक्ति की ओट में उसका शोषण कर रहे थे । ब्राह्मण और मौलवी ने जनता को सिखा दिया कि उन की दीन अवस्था का कारण पूर्व जन्म का कर्मफल हैं । इससे मुक्ति पुण्य कर्मों से संभव है । इसके अतिरिक्त जनता को भिन्न रखने के लिए उनमें हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव सायास उत्पन्न कर दिया गया था । इन्हीं परिस्थितियों से सन्त साहित्य का उद्भव हुआ । सन्तों में से अधिकांश लोग समाज के निम्न-मध्यवर्ग से आनेवाले थे जो तत्कालीन समाज में होनेवाले अत्याचारों के शिकार बन गये थे । इसलिए इनकी रचनाओं में पुरोहित वर्ग के प्रति घोर तिरस्कार की भावना विद्यमान है, जैसे कि नरेश ने सूचित किया है, - "इन सन्त कवियों का आविर्भाव या तो निम्न जातियों से हुआ था या समाज के मध्यवर्ग से, इस लिए इन के काव्य में दो चीज़ें पाँव जमाकर उभर आयीं । एक सामंतों के पक्षधर पंडितों तथा मौलवियों के पाखण्ड जाल को विदीर्ण करने का निश्चय, तथा दूसरे मानव और मानव के बीच का अन्तर मिटाने का लक्ष्य ।"[10]

संतों की वाणी ने जनता के मन में नवचेतना भरा दी । इसके लिए उनके हाथ में भक्ति मात्र नहीं थी । उसके साथ उनमें प्रखर समाज-दृष्टि भी थी । उन्होंने समाज को तत्कालीन स्थितियों के प्रति सजग बना दिया । ब्राह्मण, मुल्ला आदि पुरोहितों के ढोंग के विरोध में कर्मनिरत होने के लिए शक्ति प्रदान करते हुए संत लोग जनता के साथ रहे । संतों के उपदेशों में कुरीतियों, धार्मिक रूढियों, अन्धविश्वासों से मुक्त होने का मार्गदर्शन भी हुआ है । इनके कारण जनता में आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया । संतों ने घोषणा की कि भक्ति तथा मुक्तिबोध में इन पुरोहित वर्गों का कोई हाथ नहीं है । इसके अतिरिक्त सामंतवादी शोषण-व्यवस्था की भर्त्सना करके उन्होंने अपने आक्रोश भी व्यक्त किया । उन्होंने जनता को समझाया कि उनकी शोचनीय स्थिति के कारण शोषण तथा दूषित अर्थव्यवस्था हैं । इसलिए संतों को अधिक लोकप्रियता मिली । सगुण धारा से निर्गुण की तुलना करते हुए मुक्तिबोध ने सूचना दी है - "ब्राह्मणेतर संत कवि की भावना अधिक जनतंत्रात्मक, सर्वांगीण और मानवीय थी ।"[11] (संतों में प्रमुख थे कबीर ।)

कबीर

भक्ति साहित्य में कबीर का अपना अलग व्यक्तित्व है । वे भक्त के साथ-साथ समाज सुधारक भी थे । उनकी सामाजिक चेतना अत्यन्त प्रखर थी । उन्होंने हिन्दू और इस्लाम धर्म में प्रचलित बाह्य आडंबरों की निन्दा की थी । जाति-पांत, ऊँच-नीच का भेदभाव, शोषण आदि समाज में प्रचलित दुराचारों को दूर करके समाज का सुधार करना ही उनका लक्ष्य रहा था । उन्होंने निजी अनुभवों को कसौटी पर कसकर विचारों को प्रस्तुत किया । वे किसी बात को शास्त्र सम्मत होने के कारण नहीं मानते थे । उनका महत्व सामाजिक अनुकर्ता के रूप में नहीं, नयी जीवन-पद्धति के संयोजक के रूप में है । उनकी रचनाओं में मतों की अग्राह्यता एवं अस्वीकृति और सिद्धांतों का खण्डन मात्र नहीं बल्कि नए निर्माण के संगठनात्मक तत्व भी निहित हैं । कबीर के सामाजिक विचारों और कार्यों का मूल्यांकन यह है कि उन्होंने अपने व्यवहार से एक अलग समाज की स्थापना की कोशिश की थी जो परंपरावादी और रूढिगत मान्यताओं से भिन्न था । यह एक प्रकार से कबीर का सामाजिक विद्रोह था ।"[12]

अपने समकालीन समाज के संघर्षों से कबीर के व्यक्तित्व का विकास हुआ था । उन्होंने समाज में प्रचलित कुरीतियों का तिरस्कार कर समाज में नयी प्रेरणा भर दी । समाज के प्रति उनकी दृष्टि अत्यन्त स्वच्छ थी । धर्म के नाम पर समाज में होनेवाले वैषम्य के प्रति वे सजग थे । वे सब धर्म को एक मानकर एक महान मानववादी के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हैं -

एक निरंजन अल्लह मेरा, हिन्दु तुरक दुहूँ नहिं तोरा ।[13]

भारतीय समाज वर्णव्यवस्था पर आधारित था और यह श्रम-विभाजन का परिणाम था । यह सामाजिक प्रगति में सहायक भी थी । लेकिन भक्ति काल आते-आते वर्णव्यवस्था ने विकट रूप धारण किया । कर्म के आधार पर छोटी-बडी जातियाँ उत्पन्न हो गयीं । ब्राह्मण आदि उन्नत जाति, नीच जातियों का शोषण करने लगी । कबीर कर्म के महत्व को माननेवाले थे । समाज के विविध भेदों से कर्म को छोटा या बडा मानने के पक्ष में नहीं थे वे -

जे तूँ बांभन बभनीं जाया । तौ आन बाट ह्वै काहे न आया ।
जे तूं तुरक तुरकनीं जाया, तौ भीतरि खतना क्यूं न कराया ।[14]

कबीर के समाज का नैतिक स्तर अत्यन्त गिरा हुआ था । सारे वर्ग बुरे आचरण में लीन रहे । वेश्यागमन, मधुपान, घूसखोरी, चोरी आदि कुकर्मों की कोई कमी न थी -

परनारी रात फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि ।
दिवास चारि सरसा रहैं अंति समूला जांहि ।।[15]

समाज धार्मिक रूढियों से ग्रस्त भी था । कबीर के मन में इन सब के प्रति आक्रोश और तिरस्कार का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक था । अज्ञानी जनता को उनके अपने जीवन की समस्याओं से ध्यान न दिलाकर धर्म के नशे में भुलावा देते थे धार्मिक आचार्य । मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि बाह्याडंबरों से मोक्ष की दौड-धूप में रहते हैं मनुष्य । मूर्तिपूजा को खिल्ली उडाते हुए कबीर ने बहुतकुछ लिखा है ।[16]

इसप्रकार कबीर समाज में फैले अनाचार और त्रुटियों को दूर करने में व्यंग्य और मीठी चुटकियों से काम किया । उनके मन में किसी धर्म के प्रतिघृणा नहीं थी । लेकि वे उन लोगों की निन्दा करते थे जिन्होंने धर्म के नाम पर जनता का शोषण कर रहे थे औ समाज को अज्ञता के दल-दल में डूबो दिया । वे समाज की इस दुस्थिति को देखकर हाथ बांधकर रहनेवाले नहीं थे । कबीर ने केवल समाज में फैले आडंबर, अनाचार, ढोंग का चित्र प्रस्तुत करके उसे सुधारने की कोशिश मात्र नहीं की बल्कि उसका आमूल परिवर्तन करना भी चाहा । उन्होंने तत्कालीन बीमार समाज को चीरफाड कर उसे भक्ति और सामाजिक दृष्टि की दवा से स्वस्थ बनाने का प्रयास किया, जैसे पुरुषोत्तम चन्द वाजपेयी ने कहा है "कबीर ने समाज के घावों की चीडफाड की, उसके अन्दर के मवाद को दबा-दबाकर निकाल और अन्त में उसे स्वस्थ बनाने केलिए निर्गुण भक्ति का प्रचार किया ।"[17] वे दरिद्र और दलित होने के कारण अन्त तक शोषित-पीडित जनसामान्य की उपेक्षा का भाव नहीं । उनकी रचनाओं में निम्नश्रेणी के प्रति हो रहे अत्याचारों के प्रति विद्रोह का भाव भरा हुआ है । वे अपनी पंक्तियों के द्वारा सामान्य जनता में आत्म-गौरव जगाते रहे । इसलिए कबीर को युग गुरु मानने के साथ भविष्य दृष्टा मानना अधिक संगत है । उनकी उक्तियाँ तीर की भांति हृदय में चुभती हैं । उनमें युग-प्रवर्तक का विश्वास था और लोकनायक की हमदर्दी थी । "वे साधना के क्षेत्र में युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के सृष्टा ।"[18] इन सब के पीछे उनकी गहरी एवं तीखी सामाजिक-चेतना ही कार्यरत थी ।

सगुण भक्ति काव्य

ऐतिहासिक दृष्टि से निर्गुण भक्तिधारा के बाद सगुण भक्तिधारा आती है । साहित्यिक इतिहासकारों ने इसे दो भागों में बांटा है - रामभक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा । प्रत्येक धारा के कवियों ने अपने आराध्य देव के आदर्श रूप का चि किया जिसके मूल में उनकी सामाजिक दृष्टि की झलक भी मिलती है । इन कवियों में अधिकांश का लक्ष्य समाज की त्रुटियों को दूर कर समाज का सुधार करना था । जैसे डा॰ नगेन्द्र ने सूचित किया है - "सगुण भक्ति के कवियों ने लोक-मानस को आश्वस्त करने में माता-पिता, पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, भाई-बहन, राजा-प्रजा आदि पारिवारिक एवं सामाजिक संबन्धों का वर्णन किया और उनके आदर्श की भित्ति पर प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की ।"[19] तुलसीदास और सूरदास सगुण भक्ति शाखा के प्रमुख कवि थे ।

<u>तुलसीदास</u>

तुलसी ने स्वयं घोषणा की है कि उनकी रचना का लक्ष्य "स्वान्तः सुखय" है । लेकिन उनकी रचनाओं में समाज का जीता-जागता चित्रण मिलता है जिससे स्पष्ट है कि उनके स्वान्तः सुखाय का मतलब समाज सुखाय ही रहा था । तुलसी भारतीय जनता के प्रतिनिधि कवि है । शुक्लजी ने तुलसी के बारे में अपने इतिहास में स्पष्ट लिखा है - "भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि किसी को कह सकते हैं तो उसी महानुभाव (तुलसी) को ही इसमें व्यक्तिगत साधना के साथ लोकधर्म की अत्यन्त उज्ज्वल छटा वर्तमान है ।"[20] तुलसी की सामाजिक दृष्टि ने सामाजिक और नैतिक मूल्यों पर आधारि एक आदर्श समाज की स्थापना की है । श्री नरेश ने लिखा है - "तुलसीदास न केवल अपने युग की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक अवस्था का टीका-टिप्पणी ही करते हैं अपितु उनकी समस्त प्रतिभा एक सुसंगठित आदर्श समाज की स्थापना में केन्द्रित हो जाती है ।"[2]

तुलसीदास में भारतीय संस्कृति और वर्ण व्यवस्था पर बडी आस्था परिलक्षित होती है । इससे उनकी सामाजिक दृष्टि में कोई आवरण नहीं पडा । उनकी रचनाओं में तत्कालीन सामन्तवाद के विरोध में कई तत्व मौजूद हैं । उनकी दृष्टि हमेशा जनता की ओर थी । तुलसी को केवल ब्राह्मणों और सामन्तों के समर्थक माननेवाले लोगों को लक्षित करके रामविलास शर्मा लिखते है - "जो लोग समझते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास शूद्रों पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व का समर्थन करते थे, वे भूल जाते हैं उन्होंने स्वयं इस तत्व का कटु अनुभव किया था ।"[22]

तुलसी का लक्ष्य केवल रामकथा गायन नहीं था । जनता का उन्नयन क उसे संगठित करना भी उनका लक्ष्य था । इसके लिए उन्होंने समाज का संस्कार करना चाहा । इस प्रकार वे प्रजातंत्र की ओर अधिक झुके थे । वर्णाश्रम व्यवस्था पर आस्था रखने पर भी वे जातिगत संकीर्णता को नहीं मानते थे । जाति-पांत का उन्होंने कटु विरोध किया था -

मेरे जात पाँत न चहौ काहू की जाति पाँति
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को ।[23]

तुलसीदास यथार्थवादी थे । लेकिन भक्ति के क्षेत्र में किसी प्रकार के बन्धनों को नहीं मानते थे । उन्होंने चाहा कि उन मार्गों को सब के लिए खोल देना है जो शास्त्रीय परंपरा के अनुसार कुछ के लिए बन्द हैं । उनकी रचनाओं में लोकमंगल की भावना भरी पड़ी है । इसलिए समाज में फैले अनाचारों, जाति-भेद, हीन-भाव, छुआछूत को दूर कर लोग सुख और समता से जीवित रहें । इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने एक आदर्श समाज की कल्पना की -

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।[24]

लेकिन इस आदर्श समाज की कल्पना करके तत्कालीन यथार्थ से उन्होंने मुँह नहीं मोड़ा है । "मानस" में चित्रित कलिकाल का वर्णन उनके सामाजिक परिवेश से उत्पन्न यथार्थ दृष्टि का परिचायक है -

तेहि कलिकाल बरस बहु बसेउ अवध विहगेस । / परेउ दुकाल विपति बस तब मैं गयउं बिदेस ।। / गयउं उजैनी सुनु उरगारी । दीन मलिन दरिद्र दुखारी ।[25]

तुलसी की रचनाओं में जिस समाज की दयनीय स्थिति का रूप मिलता है वह उनकी अपनी वैयक्तिक नहीं है । उस पर तत्कालीन सामाजिक आर्थिक स्थितियों का प्रभाव पड़ा है । इसके अतिरिक्त समाज में धर्म के नाम पर शोषण हो रहा था । तुलसी समाज में प्रचलित इस धार्मिक पाखण्ड को सह नहीं सके । उन्होंने इस पाखण्ड पर प्रहार किया -

सूर सदननि तीरथ, पुरिन, निपट कुचालि कुसाज / जनहूँ मवासे मारि कलि
राजत सहित समाज ।[26]

तुलसी के द्वारा शोषक राजाओं का चित्रण भी हुआ है । जनता के सेवक राजा उसका उत्पीडक बन गया । राजा की नीति अनीति बन गयी । उसके फलस्वरूप जनता में असुरक्षा की भावना फैल गयी -

गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल ।
साम न दान न भेद कलि, केवल दण्ड कराल ।[27]

यों तुलसी ने अपने समाज का जीवंत चित्रण किया है । इसके पीछे उनका लक्ष्य समाज के यथार्थ को प्रस्तुत कर उसका सुधार करना था । इसलिए उन्होंने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप का आश्रय भी लिया । विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है - "तुलसी की विशिष्टता यह है कि उन्होंने राम को सामाजिक जागतिक समकालीन नैतिक मूल्यों के आदर्शों का जीवन्त प्रतीक बना दिया है । तुलसी के राम उन समस्त गुणों के योग और प्रतीक हैं जो समाज को ज्ञात और मान्य हैं ।"[28]

सूरदास

सूरदास कृष्णभक्त कवियों में अग्रणी थे । इन्होंने वल्लभाचार्य की प्रेरणा से कृष्ण की माधुर्य-भक्ति को विषय बनाकर रचनाएँ की । दया, क्षमा, प्रेम, वात्सल्य आदि श्रेष्ठ गुण संपन्न लोकमंगलकारी रूप में ही अपने आराध्य की प्रतिष्ठा उन्होंने की थी । कृष्ण के मोहन रूप से सूर ने तत्कालीन विरक्त और खिन्न मनुष्य में नयी प्रेरणा जगा दी । लेकिन सामाजिक चेतना की दृष्टि से सूर कबीर और तुलसी के समकक्ष नहीं आते । उनकी रचनाओं में सामाजिकता की गहराई नहीं दिखाई देती । लेकिन यह समझ लेना गलत है कि उनमें सामाजिक चेतना का बिलकुल अभाव है । सूर में यत्र-तत्र तत्कालीन समाज की छवी अवश्य मिलती है । हमें यह मानना पडता है कि कवि या लेखक समाज से उदासीन होने पर भी उनकी रचनाओं में युगीन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की झलक किसी न किसी रूप में मिल जाती है । सूर के संबन्ध में भी यह कह सकते हैं कि अपने आराध्य कृष्ण की लीलाओं का मधुरतर वर्णन करते समय भी युगीन जीवन के चित्रण करने का अवसर उन्हें मिले हैं ।[29] अतः सूर-काव्य में यद्यपि समाज का स्पष्ट चित्रण नहीं मिलता है फिर भी उन्होंने कृष्ण के माध्यम से अपने समय के संस्कारों और सामाजिक व्यवस्था का वर्णन किया है । इस पर डा. हरवंशलाल शर्मा ने विशेष रूप से लिखा है - "सूर साहित्य के विषय में दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि उन्होंने अपने काव्य में प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन नहीं किया है परंतु अपने इष्टदेव के माध्यम से अपने समय के प्रचलित सभी संस्कारों, सामाजिक व्यवस्थाओं और मनोविनोद के साधनों का वर्णन किया है । व्रजप्रान्त की सामाजिक परिस्थितियों का जितना विस्तृत वर्णन हमें सूर के काव्य में मिलता है उतना किसी भी इतिहासग्रन्थों में नहीं मिलता । इस दृष्टि से भी सूर के काव्य का बडा महत्व है ।"[30]

रीतिकाल

सामाजिक चेतना की दृष्टि से रीतिकाव्य का उतना महत्व नहीं है । इसलिए कि सामाजिक जीवन को स्वस्थ और परिपोषित करने की स्वच्छ दृष्टि उनमें नहीं थी । जीवन के नींवाधार प्रश्नों का स्पर्श भी वे नहीं करते, उसका गहन विवेचन और समाधान तो दूर की बात थी । आलोच्य काल के कवियों ने केवल बाह्य सौन्दर्य और चमत्कारपूर्ण रचनाओं की सृष्टि की । डा. भगीरथ मिश्र ने रीतिकाव्य की खासियतों के विवरण करते हुए लिखा है - "अश्लीलता, समाज के प्रति प्रगतिप्रदान करने की अक्षमता, आश्रयदाता की प्रशंसा, चमत्कार प्रियता और रूढिवादिता"[31] रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ रहीं ।

रीतिकाव्य का प्राण था श्रृंगार । इसके अन्तर्गत संयोग और वियोग का खुला वर्णन मिलता है । इन रचनाओं में नायिका का नख-शिख वर्णन भी हुआ है जो कभी कभी अश्लीलता की सीमा को भी पार करता है । भक्तिकाल में भी श्रृंगार रस की कमी नहीं है । लेकिन रीतिकाल का श्रृंगार वासना और रसिकता से पूर्ण था । इसलिए इसका नाम "श्रृंगारकाल" पडा । रीतिकाल की श्रृंगारिकता के संबन्ध में डा. नगेन्द्र ने लिखा है - "इसे तो वास्तव में रीतिकाल के स्नायुओं में बहनेवाली रक्तधारा कहनी चाहिए क्योंकि इस बृहत् युग की कविता का नवदशांश से भी अधिक श्रृंगारैक प्रधान है ।"[32]

रीतिकाव्य "स्वान्त सुखाय" की अपेक्षा "स्वामिन सुखाय" था । अधिकांश कवि निम्न-मध्यवर्ग से आनेवाले थे । फिर भी तत्कालीन आर्थिक दुस्थिति ने इन कवियों को अपने वर्ग की समस्याओं से विमुख बनाकर राजा और रईसों के विलासपूर्ण पक्ष में आकृष्ट किया । अपने आश्रयदाताओं का मन बहलाने के लिए उनको सारे मार्ग अपनाने पडे । कवि लोग, अपने आश्रयदाता के गुणों को बढा चढाकर कहना, उनको प्रसन्न कराने के लिए नग्न श्रृंगार वर्णन करना आदि को अपना कर्तव्य समझने लगे । राजा और रईसों का जीवन विलासितापूर्ण होने के कारण तत्कालीन रचनाओं में यह विलासिता किसी ओट के बिना मिलती है - याने "इस समय कवियों की वाणी कुछ चुने हुए कानों के लिए अभिसार करती थी ।"[33]

अत्युक्ति रीति काव्य की प्रमुख विशेषता रही । बातों को बढ़ाचढ़ाकर कहने के कारण उनको काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी प्रचुरमात्रा में करना पड़ा था । डा. जगदीश गुप्त ने इसकी सूचना दी है - "अतिरंजना रीतिकाव्य की विशेषता है और वैचित्र्य उसकी अभिव्यंजना का गुण ।"[34]

यों रीतिकाल के कवियों का मुख्य धर्म "रंजन" मात्र रह गया था । "उन्नयन" की प्रवृत्ति से उनका काव्य वंचित रह गया । इसलिए उनकी सामाजिक दृष्टि स्वस्थ नहीं बन सकी । सामाजिक दृष्टि का विकास जीवन के यथार्थों के संघर्ष से होता है । लेकिन रीतिकवियों की दृष्टि नायिका के केशभार और अंगप्रत्यंगों में अटक गयी थी उनका यथार्थ मानवीय यथार्थ नहीं था । वह वासना का यथार्थ था ।[35] इसे और स्पष्ट करते हुए डा. जगदीश गुप्त ने कहा है - "किसी गहन नैतिक या सामाजिक संघर्ष के बीच भी उन्हें तपना नहीं पड़ा । उनमें थी, सौन्दर्य प्रियता, रसिकता, कलाकुशलता, काव्यशास्त्रीयता तथा राजाश्रय एवं राजसम्मान की प्राप्ति की कामना । इन सब का सम्मिलित परिणाम हुआ कि उनका व्यक्तित्व एक विशेष ढंग पर निर्मित हो गया, जिसकी कुछ निश्चित सीमाएँ बन गयीं ।"[36]

आधुनिक काल

आधुनिक काल के साहित्य में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव मिलता है । 1850 के आसपास अंग्रेज़ों का शासन भारत में जम गया । इसके फलस्वरूप भारतीय समाज में कई परिवर्तन हुए । भारतीयों के जीवन-दर्शन और दृष्टिकोण में इन परिवर्तनों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा । देश में एकता और राष्ट्रीयता की भावना जागने लगी । ईसाई धर्म के प्रचार से भारतीयों को अपने धर्म का सुधार करना पड़ा । नयी शिक्षा-रीति के प्रचार से स्वतन्त्र चिन्तन और नयी विचारधाराओं को प्रश्रय मिला । इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज मध्यकाल की तंत्र सीमाओं से बाहर निकल आया । साहित्य में भी इन सब का प्रभाव पड़ा । नये साहित्यकारों के लिए पुरानी रीतियाँ मान्य नहीं थीं । वे आधुनिक जीवन का तिरस्कार न कर सके ।

आधुनिक काल का साहित्य विभिन्न दृष्टियों से संपन्न है । साहित्य में नये रूपों और विधाओं का विकास हुआ । इस काल में साहित्य केवल समाज का प्रतिबिंब न रहकर समाज की गतिविधियों का विश्लेषण कर उसे आगे बढाने का सक्षम माध्यम हो गया । साहित्यकार की दृष्टि यथार्थोन्मुख हो गयी । इस कारण आधुनिक साहित्य को अनेक संघर्षों से गुज़रना पडा । आधुनिक काल के साहित्य की प्रत्येक विधा में कमोबेश समाज की यथार्थवादी दृष्टि मौजूद है । आधुनिक काल की इस प्रवृत्ति का परामर्श यों दिया गया है - भारतेन्दु युग ने शताब्दियों से प्रतिष्ठित भक्ति और रीति-परंपरा से मुख मोडकर जीवन के यथार्थ को अपनीवाणी का विषय बनाया । द्विवेदी युग ने राष्ट्रीय जागरण के गीत गाये । छायावादी कवियों ने स्थूल बाह्य का परित्याग कर सूक्ष्म के सजीले चित्र उपस्थित किए और प्रगतिवाद ने पुनः सूक्ष्म को मृगमरीचिका समझकर रोटी और रोजी को अपनी वाणी का विषय बनाया ।[37]

अ. भारतेन्दु युग

आधुनिक काल में भारतेन्दु युग का महत्वपूर्ण स्थान है । काव्य के क्षेत्र में यह युग नयी प्रवृत्तियों का प्रस्थान बिन्दु मानना अधिक संगत है । इसके पहले कविता भक्ति और श्रृंगार की दुनिया में विचरण करती थी । भारतेन्दु युग में यह स्थिति बदल गयी । कविता में केवल भक्ति और श्रृंगार वर्णन से समाज से उसका गहरा संबन्ध स्थापित हो गया । इससे कविता की दृष्टि बिलकुल भिन्न हो गयी । यह नयी दृष्टि वास्तव में सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख थी । भारतेन्दुकालीन कविता में भक्तिकाल और रीतिकाल के कुछ अंश मिलने पर भी समाज के प्रति जो झुकाव स्पष्ट है उससे ये अंश नगण्य हो जाते हैं । असल में भारतेन्दु युग की मुख्य विशेषता यही है कि कवियों ने समसामयिक जीवन की उपेक्षा न कर जनता की समस्याओं के निरूपण की ओर पहलीबार व्यापक रूप ं ध्यान दिया ।

कविता को सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित करनेवालों में अग्रदूत थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र । उन्होंने अपनी जनवादी दृष्टि से समाज की जाँच की । जिससे उन्हें समाज का सांगोपांग चित्र उपलब्ध हो गया । समाज को पतन की ओर बढाती कमज़ोरियों को समझने में भी उनकी दृष्टि सक्षम थी ।

कवि के साथ समाज सुधारक होने के कारण उनकी कविताओं में तत्कालीन सामाजिक जीवन स्पष्ट झलकता है । "भारतेन्दु वास्तविक अर्थों में ऋषि थे, उनके सिंहावलोकन से भारतीय समाज प्रथमबार अपने विषय में जागरूक हुआ ।"[38] अतः भारतेन्दु ने साहित्य में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति द्वारा समाज सुधार और परिवर्तन का नेतृत्व किया ।[39]

भारतेन्दुयुग के अन्य कवियों पर भारतेन्दु का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । प्रत्येक कवि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए समाज-चिन्तन में समभाव रखते दिखाई देते हैं । इस काल की रचनाओं में उन्होंने व्यक्ति के स्थान पर समाज को प्रतिष्ठा की । समाज के पीडित-शोषितों और नारी के प्रति उनकी भावना पूर्ववर्ती कवियों से अधिक जागृत थी । अर्थात् कविता की सरिता समाज की विशाल भूमि से बहने लगी । डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय ने लिखा है "एक सीमित और शोषक वर्ग की रुचि-संतुष्टि के स्थान पर भक्तिकाल के बाद पुनः काव्य-रथ को सामान्य जनसमूह की ओर उन्मुख कर देने का कार्य भारतेन्दु और उनके साथी कवियों की एक ऐतिहासिक उपलब्धि है ।"[40] आगे भारतेन्दु युगीन कवियों की समाज चेतना को हम कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करेंगे ।

भारतेन्दु के मन में हमारी संस्कृति के प्रति बडी आस्था थी । हमारी संस्कृति का अविभाज्य घटक है हमारे उत्सव । इन उत्सवों का लक्ष्य सारे भेद भाव भूलकर एकता में रहना है । कवि इनको लक्ष्य प्राप्ति में असफल देखकर दुःखी हो जाते हैं । उन्होंने होली का वर्णन भी किया है -

भारत में मची है होरी । / इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी /
/ फू क्यों सब कुछ भारत नै कछ हाथ न हाय रहो री ।
तब रोअन मिस चैती गाई भलो भई यह होरी । /
भलो तेहवार भयो री । भारत में मची है होरी ।[41]

भारतेन्दु युग के कवि गुलामी की जंजीर तोडने केलिए बेचैन हो उठे थे । अंग्रेज़ों का राज भारतीयों के लिए अहितकारी ही नहीं विनाशकारी हो रहा था । अंग्रेज़ भारत का भयंकर शोषण कर रहा था । हमारी आर्थिक व्यवस्था नष्टभ्रष्ट अवस्था में थी । प्रेमधन की पंक्तियाँ हैं -

मैं दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता ।
भारत मैं संपत्ति की दिन-दिन होत छीनता ।।
महँगी बढ़तहिं जात, घटत है अन्न भाव नित ।।
जातैं कोऊ सुख सामग्री नहिं सुहात चित ।।[42]

लेकिन भारत की जनता इन शोषणों के प्रति सजग न होकर अकर्मण्यता की गहरी निद्रा में लीन थी । भारतेन्दु युग के कवियों ने इसकी कटु आलोचना करके जनता को जगाने की कोशिश की -

सर्वस्व लिए जात अंगरेज हम केवल लयकचर के तेज ।
श्रम बिन बातें का करती हैं, कहूँ टेटकन गाजों गिरती हैं ।[43]

भारतीय समाज में एकता नहीं थी । हमारा समाज छुआछूत, जाति-पांत और अन्य अनेक रूढियों और अनाचारों से ग्रसित था । उसके अतिरिक्त शासकों में आपसी झगडा होने के कारण राष्ट्रीय स्थिरता भी नहीं थी । भारत की इस दुर्दशा से तत्कालीन कवि अनभिज्ञ न रह सके ।

भए एक के चार चार घर अलग अलग जब ।
भरे परस्पर कहल द्वेष तब कुशल होत कब ।।[44]

तत्कालीन अशिक्षित समाज में कई प्रकार के अनाचार और आडंबर प्रचलित थे । इन से समाज की गति अवरुद्ध हो गयी थी । बाल-विवाह, अनमेल विवाह, सती-प्रथा आदि समाज के लिए अभिशाप ही थे -

बालव्याह में बल नहीं रक्खा, चलते काया डोली है ।
नहिं आने की मुख पर लाली, वृथा बिगाडी रोली है ।।[45]

भारतेन्दुयुगीन कवि समाज में व्याप्त शोषण के प्रति सजग थे । भारत के बेचारे किसान जमीन्दारों और अधिकारियों के शोषण के शिकार बने थे । तन-तोड मेहनत करके दुनिया को अन्न देनेवाले ये लोग भरपेट भोजन के लिए तरसते थे । ऐसी स्थिति होने पर भी अभाव को अपनी विधि समझकर शोषण को मौन होकर सह लेते थे -

कर कर आस किसानों ने जी जान लगाकर बोते थे
रहकर धूप जेठ की चिल्ला बीज पास के खाए थे ।।
सहें आप दुख पेट जरावें जिमिदार का पोत भरें ।
तिस पर मारी जाय फसिल तो कहो क्यों बेमौत मरें ।।[46]

इसके अतिरिक्त नैतिक-पतन का चित्रण भी हुआ है । साधारण जनता को नीति और न्याय मिलना असंभव बन गया । धनिक लोग थे नीति के अधिकारी । नीति और न्याय के नाम पर वकील लोग पैसा के लिए सत्य को असत्य और असत्य को सत्य स्थापित करते थे । अतः नीति और न्याय धनार्जन के मार्ग बन गये -

बिना रुपये खरचे नहिं मिलत न्याय कोउ विधि जहाँ ।
होत साँच को बकीलन की जिरहन जहाँ ।।
जह कोरे ही लाभ देत जन झूठ गवाही ।
लौगिक हानि न गुनत नगद लहि चेहरे साहि ।।[47]

भारतेन्दु कालीन कविता का विवेचन करने से हमें पता चलता है कि इस काल में कविता की दृष्टि समाज की ओर पूर्णतः उन्मुख हुई थी । तत्कालीन कवियों ने जन-जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला था । इनकी रचनाओं का मुख्य विषय सामाजिक सुधार और नवजागरण था । सदियों से चले आये कुसंस्कारों को दूर करना उनका लक्ष्य था । वे अपने इस दायित्व के प्रति सजग रहे थे । उन्होंने अपनी रचनाओं में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति द्वारा जनता को जागरण का सन्देश दिया और अपने समाज को नयी दिशा प्रदान की । अतः भारतेन्दु युग ने साहित्य और समाज के संबन्ध को सुदृढ बनाने में क्रांतिकारी भूमिका निभायी थी ।

§आ§ द्विवेदी युग

द्विवेदी युग का साहित्य वास्तव में भारतेन्दु युगीन सृजनात्मकता का विकसित रूप था । इसका अर्थ यह नहीं कि द्विवेदी युग की अपनी विशिष्टता कुछ भी नहीं है । भारतेन्दु युग के समान द्विवेदीयुगीन काव्य में भी समाज सुधार और नवजागरण का स्वर प्रमुख था । लेकिन द्विवेदी काल की विशेषता यह थी कि तत्कालीन कवियों ने

समाज सुधार के मूल में नैतिकता की अपेक्षा की - "काव्य द्वारा समाज-सुधार ही द्विवेदी और उनके समसामयिक कवियों का उद्देश्य था । द्विवेदी युग की आदर्श-समन्वित दृष्टि अन्य रूढियों का खण्डन द्वारा विकास का पथ प्रशस्त करती है । समाज की विविध समस्याओं को इन कवियों ने नैतिक पार्श्व से देखने और स्वस्थ समाधान करने का सुष्ठु प्रयास किया है ।"[48] इसके साथ-साथ देश की दुर्दशा के चित्रण भी किया गया । कवियों ने देश की आज़ादी के लिए बलिदान की प्रेरणा देते हुए राष्ट्रीयता को प्रश्रय दिया ।[49] इसलिए उनको मानव और समाज के विकास को लक्ष्य कर कविता लिखनी पडी । अतः वे सोद्देश्य रचना करने लगे । इसप्रकार द्विवेदी युगीन कवि सामान्य मानव को भूमि पर ला खडा कर दिया । डा. रामसकल राय के शब्दों में - "द्विवेदी युग में हज़ारों वर्षों के बाद मनुष्य की सच्ची प्रतिष्ठा पहली बार इस देश में आँकी गयी । मानव ने मानव को समझा । इनसान इनसान के बीच की बनावटी दीवारें टहने लगीं ।"[50]

द्विवेदी युग के कवियों का लक्ष्य समाज को जागरण का सन्देश देना था । तत्कालीन हिन्दु जनता गहरी नींद में खो गयी । छुआछूत, दहेज प्रथा, जात-पांत, बाल-विवाह आदि अनाचारों से जकडा हुआ था हिन्दु समूह । समाजचेता कवि हरिऔध उसे जगाने को यों कोशिश करते हैं -

हिन्दुओ, जैसी तुम्हारी है बनी ।। / बेबसी ऐसी बनी किसको सगी ।।
जागने पर जो लगी ही सो रही । / कब किसी की आंख ऐसी है लगी ।[51]

भारतीय समाज में किसानों का प्रमुख स्थान रहा है । लेकिन उन्हें अपने हैसियत के अनुसार आदर नहीं मिलता है । द्विवेदीजी जानते थे कि समाज की उन्नति वास्तव में किसानों पर निर्भर है । कवि के मन में उनके प्रति जो आदरभाव है वह इन पंक्तियों में प्रकट होता है -

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महाराज ।
बीना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मुहताज ।।[52]

अशिक्षित समाज कभी उन्नति की ओर बढता नहीं । अज्ञान के कारण समाज में अनेक रूढियों और अन्धविश्वास फैल जाती हैं जो समाज की गति में अवरोध डालती है । शिक्षा प्राप्ति से व्यक्ति का विकास और तद्वारा समाज का सुधार हो जाता है । इसकेलिए शिक्षा सार्वजनिक बननी चाहिए । यह समाज के पूँजी पतियों के वश में न रह जाय । हरिऔध ने लिखा है -

है शिक्षा प्रसार उपकारी
मनुज मात्र है शिक्षा पाने का सच्चा अधिकारी ।[53]

राष्ट्रीयता द्विवेदी युग का मुख्य विषय रहा था । तत्कालीन कवियों ने जनता को सब प्रकार के भेद भावों को भूलकर जातीय संघटन और राष्ट्रीय एकता में जीने का आह्वान दिया था । इसमें कोई भी कवि पीछे नहीं रहा था ।

§ङ§ छायावाद

काव्य जगत् में छायावाद एक क्रांतिपूर्ण युग था । इसके पूर्व भारतेन्दु और द्विवेदी युग में कविता सोद्देश्य लिखी गयी । तत्कालीन कवियों में प्रेम और प्रकृति के प्रति आकर्षण होने पर भी उनकी रचनाओं में समाज सुधार और राष्ट्रीयता की भावना भरी पडी थी । द्विवेदी युग में आकर कविता नैतिकता और सुधार की पराकाष्ठा पर पहुँच गयी उसमें व्यक्ति के भावों का कोई स्थान नहीं था । छायावादी कविता द्विवेदी युग की इस इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया थी ।[54] इस युगमें कविता वास्तव में व्यक्ति-मन की विविध दशाओं की अभिव्यक्ति बन गयी । अतः छायावाद की दृष्टि अधिक व्यक्तिन्मुख थी । व्यक्ति का चित्रण होने के कारण व्यक्ति के मन की निराशा, कुंठा आदि भाव स्पष्ट होना स्वाभाविक था । इसके अतिरिक्त इनकी कविताओं में प्रकृति के प्रति मोह और नारी के प्रति नया दृष्टिकोण देखने को मिलता है । प्रकृति वर्णन प्रमुख रूप से मानव मन के भावों को व्यक्त करने केलिए ही किया गया है । इसलिए इनकी रचनाओं में प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति प्रचुरमात्रा में मिलती है ।

लेकिन यह समझ लेना ठीक नहीं है कि अन्तर्मुखता के कारण ये कवि पलायनवादी नहीं है । ऐसा कभी नहीं । "उसमें यदि जीवन से पलायन के बोल हैं तो जीवन-संघर्ष का भी नारा है ।"[55] ये यथार्थ से कभी नहीं भाग निकले । इस युग के आरंभ में यद्यपि काल्पनिकता और प्रकृति सौन्दर्य को वरीयता मिली है, फिर भी सामाजिक दृष्टि का नितांत अभाव नहीं है । ये कवि "स्व" की संकुचित सीमा में आबद्ध नहीं थे । बाद में ये कवि जीवन के गायक भी बने । छायावादी काव्य के सुकुमार कवि पंत व्यक्ति और समाज के बीच विरोध माननेवाले नहीं थे - उन्होंने लिखा है कि "जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की

आवश्यकताओं की सीमाएँ एक दूसरे में लीन हो जाएँगी उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जाएगा ।"[56]

इसलिए हमको यह मानने में कोई हानि नहीं कि छायावाद युगीन स्वतंत्रता समाज के लिए हितकारी रही है । उन्होंने व्यक्ति चित्रण द्वारा समाज की चेतना की अभिव्यक्ति ही दी थी । श्री शिवदानसिंह चौहान का यह कथन बिलकुल ठीक ही है - "व्यक्ति हृदय या व्यक्ति चेतना समाज हृदय और समाज चेतना से भी एकात्म थी । इसलिए प्रारंभिक छायावादी कविता का रुदन-क्रन्दन, व्यक्तिगत रुदन-क्रन्दन के साथ साथ रूढिबद्ध पराधीन और संघर्षशील भारतीय समाज का ही रुदन-क्रन्दन था ।"[57]

छायावादी कवि यह नहीं मानते हैं कि समाज से अलग होकर व्यक्ति का विकास संभव है । उनकी दृष्टि में एकांत रहना व्यक्ति के लिए शुभकर नहीं है । समष्टि के साथ घनिष्ठता के बिना जीवन सार्थक नहीं हो सकता । प्रसाद में भरी सामाजिक चेतना श्रद्धा द्वारा अभिव्यक्ति पाती है ।

अपने में सब कुछ भर कैसे / व्यक्ति विकास करेगा' /
वह एकान्त स्वार्थ भीषण है । '/ अपना नाश करेगा ।[58]

छायावादी कवियों की जीवन दृष्टि अधिक जागृत है । समाज में बाधा बनाने वाले मूल्यों और आदर्शों के प्रति उनकी दृष्टि विद्रोहात्मक है । लेकिन यह विद्रोहात्मक दृष्टि ध्वंस की नहीं बल्कि नव निर्माण की है । इसलिए जात-पांत जैसे अनाचारों के प्रति उनके विद्रोही मन में यह चाह उठती है कि ये सब नष्ट होकर नये प्रभात का उदय हो जाए -

जाति-पांति की कड़ियाँ टूटे मोह द्रोह मद मत्सर छूटें,
जीवन के नव-निर्झर फूटें, वैभव बने, पराभव,
युग प्रभात हो अभिनव ।[59]

किसान-मज़दूर जैसे लोग किसी भी समाज की रीढ़ की हड्डी है । लेकिन उनका शोषण साधारण बात है । छायावादी कवि इस शोषण की ओर से मुह नहीं मोड सके । कवि निराला ने पूँजीपतियों के इस शोषण के प्रति अपनी विद्रोहात्मक दृष्टि प्रकट की है -

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर / तुझे बुलाता कृषक अधीर, / ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार, / हाड मात्र ही हैं आधार / ऐ जीवन के पारावार ।[60]

समाज में सर्वत्र अन्याय फैला हुआ है । यह विचित्र रीति बन गयी है कि अन्याय की जीत होती रहती है और अन्यायी शक्तिशाली बन जाता है । समाज का यह पतन कवि की वाणी को प्रखर बनाती है । निराला जैसे कवियों ने इसके विरुद्ध आवाज़ भी उठायी है -

"जिधर अन्याय, है उधर शक्ति ।"[61]

संक्षेप में कहें तो यद्यपि छायावादी कविता व्यक्तिन्मुख रही, और काल्पनिकता तथा सौन्दर्य के तोखयों में बंद रही, फिर भी पंत, निराला जैसे कवियों ने इस दायरे को उल्लंघन करके कविता को समाजोन्मुख बनाने की जबरदस्त कोशिश भी की जिसकी बजह छायावादी कविता बहुआयामी बन गयी । और सामाजिक चेतना के इतिहास में अपनी मुहर भी लगा सकी ।

§ई§ प्रगतिवाद

प्रगतिवाद युगान्तकारी प्रवृत्तियों को लेकर काव्य-जगत में प्रकट हुआ था । इसके पहले जैसे कि सूचित किया गया है कि छायावाद में काव्य में व्यापक जीवन-दृष्टि का अभाव था । वह व्यक्तिन्मुख और कपोल कल्पना प्रधान थी । कतिपय कवियों की दृष्टि अवश्य सामाजिक होने पर भी अधिकांश कवि मानसिक कुंठा, काल्पनिक और रहस्यानुभूति की दुनिया में खोये हुए थे । इस कारण से छायावादी काव्य के प्रति अरुचि बढने लगी । तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों ने इसी प्रतिक्रिया में सहयोग दिया । वास्तव में कविता के दृष्टिकोण में परिवर्तन युग की माँग थी । पंत जी ने "स्वर्णाभ" में इसके संबन्ध में लिखा है - "इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्ररूप धारण कर लिया है इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं । श्रद्धा अवकाश में पलनेवाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठ

और काव्य की स्वप्न-जडित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है । अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती । उसकी जडों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने केलिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड रहा है ।"[62]

साहित्य के आदिकाल से समाज के निम्न श्रेणी के पीडित लोगों का चित्रण कुछ न कुछ रूप में मिलता है । लेकिन इसे प्रगतिवादी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रगतिवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या मार्क्सवाद से प्रभावित है ।[63] प्रगतिवाद छायावाद की तटस्थ दृष्टि को मान्यता नहीं देता है । प्रगतिवादी चेतना पूर्ण रूप से सामाजिक है । "हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास" में प्रगतिवाद के संबन्ध में कहा गया है - "यह नाम उस काव्यधारा का है जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना कथ्य बना कर चली । प्रगतिवादी काव्य के उद्भव और विकास में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो सहायक हुई है साथ ही साथ छायावाद की जीवनशून्य होती हुई व्यक्तिवादी वायवी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी उसमें निहित थी ।"[64]

प्रगतिवाद का केन्द्रबिन्दु यथार्थ है । लेकिन यह व्यक्ति का न होकर समाजिक यथार्थ है । प्रगतिवादियों के लिए व्यक्ति यथार्थ की कोई महिमा नहीं थी । समाज में चलनेवाला शोषक और शोषितों के संघर्ष का चित्रण करना उनका कर्तव्य था । पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध शोषित साधारण जनता का समर्थन उनका लक्ष्य था । इसलिए कवि लोग उपेक्षित सर्वहारा वर्ग के पक्षधर बन गये । उनकी सौन्दर्य-दृष्टि अधिक यथार्थवादी बन गयी । उनके लिए जीवन ही सुन्दर था ।[65] जीवन के यथार्थ के आग्रह के कारण सुन्दर-असुन्दर, मोहक और रूक्ष की ओर उनकी दृष्टि समभाव की थी इस संदर्भ पर डा. नगेन्द्र ने लिखा है - "उसने (प्रगतिवाद ने) काव्य को व्यक्तिवादी यथार्थ के बन्द कमरे से निकालकर जनजीवन के बीच प्रवाहित कर दिया, जीवन और साहित्य मूल्य, सौन्दर्यबोध और लक्ष्य को समाज के यथार्थ और उसकी रचना से जोडा ।"

इसप्रकार समाज का यथार्थ प्रस्तुत करके प्रगतिवादी कवियों ने वर्गहीन और समता पर आधारित समाज की स्थापना को प्रेरित किया है । इन्होंने शोषक और शोषित वर्ग के बीच चलनेवाले वर्ग-संघर्ष में शोषित वर्ग को क्रांतिकारी माना और

इस वर्ग के द्वारा समाज की पुरानी शोषक शक्तियों को नष्टकर समाज का नये सिरे से निर्माण करना इनका लक्ष्य भी बन गया । उनका विश्वास है कि सर्वहारा वर्ग में सामाजिक-जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन करने की शक्ति निहित है ।

प्रगतिवाद सोद्देश्य रचना को महत्व देता है । इसका कारण उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता ही है । लेकिन कुछ आलोचकों का यह आरोप ठीक नहीं है कि सोद्देश्य होने के कारण प्रगतिवादी कविता प्रचारवादी है । डा. नगेन्द्र का यह कथन इसकी पुष्टि करता है - "साहित्य सोद्देश्य होता है, सोद्देश्यता प्रचार नहीं है । सोद्देश्यता का अर्थ है किसी विशेष अभिप्राय से, किसी विशेष दृष्टि से कला की रचना । प्रचार का अर्थ बहुत स्पष्ट रूप से, किसी सिद्धांत को या मान्यता की घोषणा करना ।"[6] साहित्य के सामाजिक उद्देश्यों और लक्ष्यों को स्थापित करनेवाले प्रगतिवाद से साहित्य क्षेत्र में बडा परिवर्तन हुआ । इससे हमारे नवयुवक अधिक जागृत और आत्मबल से युक्त बने । इस पद्धति ने साहित्य का समन्वय सामाजिक यथार्थ से किया और यथार्थ से अलग किए गए साहित्य को काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी स्थापित किया । इसप्रकार साहित्य के प्रति सुष्ठु और जागृत दृष्टिकोण प्रदान करके साहित्य को संपन्न किया ।[68]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्रगतिवाद की जडें समाज की उर्वर धरती की तह में फैली हुई हैं । व्यक्ति के तंग घेरे में सीमित रहना प्रगतिवादियों को स्वीकार्य नहीं है । ऐसे संकुचित जीवन से कभी उत्कर्ष नहीं हो सकता ।

यथार्थ चित्रण पर बल देने के कारण समाज का खुला हुआ चित्रण सहज ही प्रगतिवाद में उपलब्ध है । प्रगतिवादी कविता में शोषण के प्रति सजगता और उसके खिलाफ आक्रामक स्वर बुलन्द है । समाज में धनिक लोग शोषण को अपना कर्तव्य समझते हैं और श्रमिक पीडितों का खून चूस लेते हैं । समाजिक जिन्दगी की तस्वीर कितनी क्रूर है, एक ओर भोगविलास में रत धनिक दूसरी ओर दाने-दाने को तरसनेवाले किसान-मज़दूर । केदारनाथ अग्रवाल ने समाज में फैले शोषण का जीता-जागता चित्र अंकित किया है -

ये कामचोर, आराम तलब / मोटे तोंदियल भारी भरकम /
हट्टे-कट्टे सब डॉंगर ऊँघा करते हैं, / हम चौबीस घंटे हफते हैं ।

है भूख बड़ी लंबी-चौड़ी / दस-बीस जनों का सब खाना /
ये एक अकेले खाते हैं, / दिन पर ही पागुर करते हैं /
हम भूखे ही रह जाते हैं ।[69]

शोषण की इस क्रूरता के प्रति किसान को सजग बनाना प्रगतिवादी कवि अपना कर्तव्य समझता हैं । उनके मन में शोषण के प्रति आक्रोश को जगाकर कवि क्रांति लाना चाहते हैं -

असंस्कृत भूमि ये किसान की, / धरती के पुत्र की, / जोतनी है गहरी दो चार बार, दस बार / बोना है नये साल फागुन में फसल जो क्रांति की ।[70]

हालांकि समाज की दुर्दशा से कवि असंतुष्ट हैं । फिर भी वे वाकई निराश नहीं हैं । उनका दृढ विश्वास है कि शोषक और शोषित के संघर्ष में अंतिम रूप से शोषितों की जीत होगी । तभी से समाज में फैला वैषम्य नष्ट हो जाएगा और एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी । शोषण व्यवस्था को नष्ट करने को प्रतिज्ञा लेनेवाले कवि का विश्वास देखिए -

मानवता की शपथ ले रहे हैं यह कहकर आज
एक-एक दाने का बदला ले लेंगे मय ब्याज
उलट तुम्हारी सड़ी व्यवस्था ड़ालेंगे वह नींव
फिर न बिसूर कर मरे यहाँ नरतन नरतन धारीजीव
वर्गभिद शोषक शोषित के फिर न पडेंगे देख
आगे के कवि को न पडेगा लिखना ऐसा लेख ।[71]

यों प्रगतिवादी कविता सामाजिक चेतना से संपूर्ण है और शोषित पीडितों के प्रति प्रतिबद्ध भी हैं ।

मुक्तिबोध के समकालीन कवियों की सामाजिक चेतना और उनकी तुलना में मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना की विशिष्टता

अज्ञेय

अज्ञेय की रचनाओं में व्यक्तिवादिता का स्वर मुखरित है । उनके अनुसार समाज में व्यक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है । इसलिए व्यक्ति पर समाज का अनुशासन अनुचित है । यदि व्यक्ति स्वयं अपने व्यक्तित्व की महत्ता को सुरक्षित रखकर समाज के प्रति समर्पण करें तो व्यक्ति के अहं की तुष्टि होगी और सामाजिक दृष्टि भी सुरक्षित रहेगी । डा. हरिचरण शर्मा ने अज्ञेय के संबन्ध में कहा है - "उनकी मान्यता रही कि समाज व्यक्ति को अनुशासन में बन्धकर उसकी स्वतन्त्र व्यक्ति सत्ता को आहत करने की चेष्टा करता है जो अनुचित है । हाँ, व्यक्ति स्वतः ही समाज से अपनत्व रखकर उसके प्रति समर्पित हो तो ठीक है । ऐसा होने से व्यक्ति का अहं भी तुष्ट होता है । और आत्मदान का मार्ग भी प्रशस्त होता है ।"[72] अज्ञेय व्यक्ति या सर्जक को अपने प्रति और समाज के प्रति उत्तरदायी मानते हैं । उनके शब्दों में - "व्यक्ति को अपने प्रति भी उत्तरदायित्व मानता हूँ समाज के प्रति भी पर मैं अपने प्रति उत्तरदायित्व को प्राथमिक मानता हूँ और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को उसी से उत्पन्न ।"[73] याने अज्ञेय में अहं की भावना अवश्य मुखर थी । इसकी घोषणा उन्होंने खुलकर की है - "अन्य मानवों की भांति अहं मुझ में भी मुखर है, और आत्माभिव्यक्ति का महत्व मेरे लिए भी किसी से भी कम नहीं है ।"[74] इन सबके बावजूद भी वे यह मानने को नहीं हिचकते कि मानव की महत्ता समाज के सन्दर्भ में ही आंकी जाती है । इसके लिए व्यक्ति का सामाजीकरण वे आवश्यक मानते थे । उन्होंने स्पष्ट कहा है - "व्यक्ति अपनी रुचियों और इच्छाओं के लिए समाज की स्वीकृति चाहता है । इससे यहाँ स्पष्ट है कि व्यक्ति को स्वीकृति पाने के लिए किसी हद तक समाज की या उसकी मान्यताओं की ओर ध्यान देना पड़ेगा ।"[75] इसप्रकार हम देख सकते हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को महिमा देते हैं, लेकिन ऐसे करते समय वह समाज से पूर्ण रूप से अलग नहीं होना चाहते हैं । इसलिए वह अपने व्यक्तित्व के "दीप" को समाज रूपी "पंक्ति" में मिला देने के लिए तत्पर हैं । इसमें समर्पण की भावना अवश्य है किन्तु अपनी विशिष्टता की उपेक्षा नहीं की गयी -

"यह दीप अकेला स्नेह भरा / है गर्व भरा, मदमाता पर /
इसको भी पंक्ति को दे दो ।"[76]

लेकिन समष्टि के लिए समर्पण करते समय उन्हें व्यष्टि की अति को छोड़ना पड़ता है । इसके लिए उसे अपने से बाहर आना पड़ता है -

"अपने से बाहर आने को छोड़ / नहीं आवास दूसरा । /
भीतर भले स्वयं साँई बसते हों ।"[77]

ऐसे करते समय उनकी सामाजिक चेतना मुखरित हो जाती है । उसका व्यक्तित्व सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हो जाता है और उन्हें लगता है वे वह सेतु हैं जो समाज के प्रत्येक मानव-श्रम में लगे रहे - को आपस में जुड़ा लेती हो -

दूर दूर दूर मैं सेतु हूँ / किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं /
जो मानव से मानव वह सेतु का हाथ मिलने से बनता है / जो हृदय से हृदय को /
श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को / / अनुभव के स्तंभ से
अनुभव के स्तंभ को मिलाता है, / जो मानव को एक करता है / समूह के अनुभव
जिसकी मेहरावें हैं / और जन जीवन की अजस्त्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से
बहती है / ..../ चिर परिवर्तनशीला , सागर की ओर जाती, /
जाती जाती बहती है / मैं वहाँ हूँ दूर दूर, दूर ।[78]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह पता चलता है कि अज्ञेय ने व्यक्ति की दृष्टि से समाज का मूल्यांकन किया है, समाज को मानते हुए भी अपनी व्यक्ति सत्ता को बरकरार रखने की जबरदस्त कोशिश की है ।

<u>भारतभूषण अग्रवाल</u>

भारतभूषण अग्रवाल प्रगतिवाद की जनवादी चेतना से युक्त कवि हैं । उनकी कविताएँ जन-जीवन के साक्षात्कार से उत्पन्न हैं । मार्क्सवादी दृष्टि की वजह उनकी सामाजिक चेतना प्रौढ़ बन गयी है । उन्होंने लिखा है - "हिन्दी के कवि को समाज से नाराज होकर भागने बजाय समाज की उस शोषण सत्ता से लड़ना होगा जिसने उसे स्वप्नाभिलाषी और कल्पनाविलासी बना छोड़ा है, और जिसने उसको अपनी कवित ही एकमात्र संपत्ति मानने में भ्रम डाला है । इस संघर्ष के पथ पर अपने अनुभवों को

यदि पद्यबद्ध करेगा तो पायेगा कि उसकी कविता केवल मर्मस्पर्शी ही नहीं वरन् साथ ही उसको अधिक ज्ञानी और सामाजिक बनानेवाली भी है ।"[79]

भारतभूषण शोषितों के पक्षधर थे । उनके मन में वर्गवैषम्य को दूर करके साम्यवादी समाज की स्थापना की अभिलाषा थी । लेकिन उसके लिए संकुचित दलीय राजनीतिक प्रचारात्मकता उन्हें स्वीकार्य नहीं थी । उन्होंने इसके संबन्ध में कहा है - "यह ध्यान देने की बात है कि मैं मार्क्सवादियों - प्रगतिवादियों के दल में राजनीति के दरवाज़े से नहीं । समाज-दर्शन के दरवाजे से पहुँचा था ।"[80] इसलिए ही शायद उनके लिए पक्षधरता बन्धन का अहसास देती थी । इस बन्धन से मुक्त होने की चेष्टा उनकी परवर्ती रचनाओं में परिलक्षित है । उन्होंने पक्षधर कवि को दयनीय प्राणी माना है - विश्व जीवन की हलचलों से दूर अपने ही भीतर लीन होना पलायन है, अतीत की ओर सतृष्ण दृष्टि से निहारना या कल्पना लोक की सृष्टि कर उसमें विहार करना पलायन है, यह तो सभी स्वीकार करते हैं । पर जीवन के किसी एक विशिष्ट मतवाद के लिए प्रतिश्रुत होकर यथार्थ की अनदेखी करना भी उतना ही गर्हित पलायन है, यह बात बहुत से मित्र अभी नहीं पहचान सके हैं । मतों, सिद्धांतों, वादों और नारों के सांप्रतिक चक्रांत में कीर्ति ध्वजा फहरा लेना आसान है, पर उससे कवि-धर्म का निर्वाह नहीं हो सकता । और इसीलिए प्रतिश्रुत यानी पक्षधर कवि से अधिक दयनीय प्राणी और दूसरा नहीं ।"[81]

भारतभूषण की कविताओं की एक और विशेषता उनमें निहित वैयक्तिकता और सामाजिकता का द्वन्द्व है । उनकी कविता व्यक्ति इकाई और समाज-व्यवस्था के बीच के संबन्ध को स्वर देती है । उनके अनुसार समाज के सामने व्यक्ति को नगण्य समझना ठीक नहीं है । अतः भारतभूषण में वैयक्तिक भावना ज़रूर है । लेकिन संकुचित व्यक्तिवादी दृष्टि नहीं है ।[82] सचमुच भारत भूषण ने समाज में प्रचलित वर्ग-वैषम्य को जान लिया था । शोषित और पीड़ित जनता के जीवन को स्वर देना उनके काव्य-जीवन का लक्ष्य रहा था । अपने कवि मन को सजग करते हुए उन्होंने लिखा है -

बनना है तुझको तो अगुआ ।
युग का, युग की भूखी, कमजोर हड्डियों का ।[83]

युगीन जीवन में भ्रष्टाचार साधारण बात बन गया । रिश्वत-खोरी, अनैतिकता, शरीर व्यापार, कुर्सीदौड़, जनतंत्र के नाम पर जनता को धोखा देना आदि विसंगतियों से समाज जीवन खोखला बन गया । ऐसे सामाजिक विद्रूपताओं का पोलखोल दिया है भारतभूषण ने । उनकी वाणी में जो निर्ममता और चुभन है वह देखने लायक है । "परिदृश्य 1967" कविता में उन्होंने लिखा है -

> पिछले साल जिस सेठ पर मुकदमा चला था / उससे "इलेक्शन फंड" में चन्दा लेने के लिए / मिनिस्टर साहब चार-चार चक्कर काट चुके हैं । / ..../ नये पुल के रातों-रात तीन टुकड़े हो गये हैं / एक टुकड़ा / बड़े साहब के यहाँ / "स्विमिंग पूल" में लगा है / ..../ शांति सम्मेलन में "अनासीन" की गोलियाँ बँट रही हैं / गोदामों में मानवतावाद के बोरे चिने हैं ।[84]

अग्रवाल की आरंभिक रचनाओं में वर्ग चेतना और जन आन्दोलन के प्रति आस्था दिखाई देती है । लेकिन बाद की रचनाओं में न वर्ग चेतना है न जन आन्दोलन के प्रति आस्था । पक्षधर कवि को दयनीय प्राणी मानने के कारण ऐसा संभव हुआ था । लेकिन वे जन-जीवन से पूर्ण रूप से तटस्थ नहीं थे । उनकी परवर्ती रचनाओं में मध्यवर्ग का यथार्थ चित्रण को पुखता है । मध्यवर्गीय जीवन की बेचैनी, छटपटाहट, असमर्थता विवशता आदि का यथार्थ चित्रण करने में उन्हें बड़ी सफलता मिली । उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन का अनुभव किया है । समाज के इस वर्ग का जीवन अत्यन्त दयनीय और रूढ़िग्रस्त है, कवि इसका परिचय देते हैं -

> सूरी अन्धेरी यह हृदय की गुहा - / बन्द / चारों ओर चट्टानें उठीं, संस्कार की भाव मन के बुलबुले जीवन / ज्योति और वातहीन क्षुद्र परिधि में / रेंगते, ज्यों गिलगिले, अंधे मिट्टी खोर के चुले / आकांक्षाओं के छाया प्रेत / न - कुछ बनते और मिटते / भयंकर / अयथार्थ / स्वार्थ - स्वार्थ ।[85]

<u>नागार्जुन</u>

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के क्षेत्र में नागार्जुन का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रगतिशील कवि होने के नाते उनकी रचनाओं में जीवन और समाज के विविध पहलुओं का सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है । अपने जीवन के कटु अनुभवों ने उनकी

सामाजिक चेतना को प्रखर बना दिया । अपने व्यक्तिपरक अनुभवों को समाजपरक बनाकर प्रस्तुत करने में नागार्जुन की क्षमता अपार है - "नागार्जुन उसी अर्थ में महान है कि वे अपने व्यक्ति को समष्टि में सहज ही लय कर सकते हैं । अपने को विश्वात्मा में मिटा सकते हैं । जन मन के लिए मिटना-फुलना ही उनकी सबसे बडी शक्ति है ।"[86]

नागार्जुन वामपंथी विचारधारा से प्रेरित कवि हैं । शोषित-पीडित जनता के शब्द को बुलन्द बनाने के कारण वे मार्क्सवाद में अपनी आस्था रखते हैं । वे सर्वहारा वर्ग के वक्ता हैं । उन्होंने अपनी सारी सहानुभूति इस वर्ग पर उंडेल दी है । उनकी पक्षधरता अत्यन्त स्पष्ट है । विश्वंभर मानव के शब्दों में - "उपेक्षित वर्ग के प्रति सहानुभूति तथा उसको शक्ति को उभारने और अन्तिम विजय में विश्वास प्रकट करनेवाली बहुत-सी कविताएँ हैं जिनमें कवि ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग किया है ।"[87] साधारण जनता और समाज के प्रति साहित्यकार की प्रतिबद्धता को माननेवाले हैं वे । इसप्रकार वे प्रगतिवाद के श्रेष्ठ कवि बन गये और अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने प्रगतिवाद को प्रश्रय दिया । उनकी कविताएँ काल्पनिक या मानव जगत् से परे की नहीं हैं । उन्होंने वर्तमान जीवन और समाज के यथार्थ के चित्रण करके साम्यवादी समाज की कल्पना करते हैं - "साम्यवादी मान्यताओं के अनुकूल अपनी जीवन-दृष्टि बनाकर काव्य में प्रगतिवाद की पुष्टि करनेवालों में नागार्जुन अग्रणी है ।"[88]

नागार्जुन ने छायावादी काल्पनिकता के स्थान पर प्रगतिशील सामाजिक चेतना को अपनाया । इस सामाजिक चेतना ने छायावादोत्तर हिन्दी कविता में उनका स्थान ऊँचा कर दिया तथा एक स्वच्छ काव्य-दृष्टि प्रदान की उनकी कविता में सामाजिक स्पिरिट ही भरपूर है । इसलिए उन्होंने वर्तमान जीवन की विद्रूपताओं, विषमताओं और विसंगतियों का जीता-जागता चित्रण किया है । उनकी रचनाओं में निहित कठोरता और निर्ममता उनकी प्रखर सामाजिक चेतना की ही उपज है । ऐसी सामाजिक चेतना नागार्जुन को निराला और प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी बनाती है ।[89] डा. संतोषकुमार तिवारी के अनुसार - "प्रेमचन्द के बाद शायद कवि नागार्जुन ही ऐसे हैं जिनकी खंड-खंड कविताओं में भी समकालीन भारतीय समाज और संस्कृति का सिलसिलेवार इतिहास मिल सकता है ।"[90]

नागार्जुन की सामाजिक चेतना के मूल में समाजवादी विचारधारा ही काम करती थी । मार्क्सवादी सिद्धांत में उनकी आस्था अप्रतिम थी । उनका यही विश्वास था कि समाजवाद ही सारी समस्याओं का एकमात्र हल है । इसे खुलकर कहने में उसे कुछ भी संकोच नहीं है । देखिए -

चीन समूचा लाल हो गया / अब भारत की बारी । /
चीन विरोधी बकवासों से हल होगा न सवाल ।[91]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पर्याप्त समय बीत गया । फिर भी साधारण जनता की हैसियत में कोई परिवर्तन नहीं आया । शासन में उनका कोई हाथ नहीं है । जनता से वोट लेकर नेता लोग अपने मनमाने ढंगसे शासन करते हैं । आम जनता को उनके सारे अत्याचारों को सहना पडता है -

लाख-लाख श्रमिकों को गर्दन कौन रहा है रेत / छीन चुका है कौन करोडों
खेतिहरों के खेत / किसके बल पर कूद रहे हैं सत्ताधारी प्रेत ।[92]

गिरजाकुमार माथुर

माथुर समाज जीवन के यथार्थ चित्रण करने में सफल हुए । लेकिन उनकी सामाजिक संपृक्ति का आधार किसी वाद की संकुचित सीमा में ढूँढना उनके प्रति अन्याय होगा । वे प्रगतिवादी नहीं है - "प्रगतिवाद में से एक कवि-वर्ग ऐसा है जिन्होंने मार्क्सवाद के सिद्धांतों को ज्यों का त्यों अपनाया और समाजवादी देशों की प्रशंसा की और कवियों का दूसरा वर्ग वह है, जिनमें गिरजाकुमार प्रमुख हैं, जिन्होंने प्रगतिशील तत्वों को ही अपनाया है ।"[93] अत: वे रूढ सिद्धांतवादी नहीं थे । इसके संबन्ध में डा. नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है - "वस्तुत: हिन्दी कविता में नवीन सामाजिक चेतना का समावेश करने में गिरजाकुमार माथुर का योगदान कम नहीं है । किन्तु उन्होंने इसे व्यापक नैतिक धरातल पर ही ग्रहण किया, रूढ सिद्धांतवाद के रूप में नहीं ।"[94]

समाज के निम्न और पीडित जनता का चित्रण विशेषकर किसान, मजदूर और मध्यवर्ग - हुआ है कविताओं में । उनकी शोचनीय स्थिति के प्रति कवि अधिक सजग हैं । समाज के आर्थिक वैषम्य को आधार बनाकर विभिन्न विभागों के बीच के

वैषम्य को उन्होंने प्रस्तुत किया । इस संदर्भ में शोषितों की स्थिति सुधारने के लिए क्रांति का आह्वान देना उनका लक्ष्य नहीं है । उन्होंने अनुभूत सामाजिक वैषम्य की पीडा को स्वच्छ रूप से अभिव्यक्ति दी । डा. नगेन्द्र के अनुसार - "इन कविताओं में मध्यवर्ग की अनुभूतियों को ही आधार बनाया है, इसलिए इनमें एक ओर स्वानुभूति की सचाई है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति में असंयत आक्रोश का सर्वथा अभाव भी है ।"[95] इसका कारण यह है कि उन्हें विश्वास है कि समाज में संपन्नता और समता आएगी । इसी शुभकामना ने उन्हें क्रांति या नाश के मार्ग से निर्माण के मार्ग को अपनाने की प्रेरणा दी - किन्तु वह निराश-हताश कभी नहीं हुआ । समाज में समानता और संपन्नता आएगी । इसका उसे पूरा विश्वास है । इसके लिए माथुर ने क्रांति का रास्ता नहीं अपनाया है , निर्माण का पथ चुना है ।"[96]

आज हमारा समाज मृतप्राय बन गया है । हमारी व्यवस्था शोषण से अस्तव्यस्त हो गयी । समाज के धनी और पूंजीपति लोग निम्न-गरीबों का शोषण कर रहे है जिससे उनका जीवन अत्यन्त कठिन बन गया है । उन्हें अपने जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं को तरसना पडता है । ये शोषक वर्ग इनके रक्त चूसकर सुविधापूर्ण जीवन बिताते हैं । ऐसी शोषण व्यवस्था समाज को ही नहीं राष्ट्र को भी कमज़ोर बनाती है

शोषण से मृत है समाज / कमज़ोर हमारा घर है ।[97]

समाज में मज़दूरों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है । वे अथक परिश्रम करके बडे-बडे प्रासादों का निर्माण करते हैं । लेकिन उन्हें बसने के लिए कुटी भी नहीं मिलती है । उनकी हड्डियों पर धनिकों का सुन्दर महल बन जाता है -

निबलों की क्षीण हड्डियों पर / यह वैभव का प्रासाद खडा /
मानव के रंग महल में क्यों / मानव का रक्त-रंग बिखरा ।[98]

कवि स्वयं मध्यवर्ग के सदस्य थे । इसलिए मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं का अनावरण करने में उन्हें सफलता मिली । मध्यवर्गीय जीवन कटुता, घुटन और संघर्ष से भरा है । वह भीतर और बाहर के दोनों संघर्षों को झेल रहा है । "टेनशन" और "हॉरर" के कारण मध्यवर्ग का आदमी "क्रानिक मरीज" हो गया है । उनका व्यक्तित्व खोखला है -

अपने में लीन / किन्तु आत्मविश्वास हीन / तबियत है काँटे पर /
दोष सभी रखता है / किस्मत के माथे पर ।[99]

त्रिलोचन

त्रिलोचन हिन्दी के ऐसे कवि हैं जो विभिन्न वादों से गुज़रे हुए भी हमेशा अद्यतन रहे । उनकी कविता छायावाद से आरंभ कर प्रगतिवाद से ही कर नयी कविता तक पहुँच गयी । इस लंबी काव्य-यात्रा में त्रिलोचन ने कविता के क्षेत्र में अपना एक मौलिक व्यक्तित्व के अधिकारी बन गये । उन्होंने आधुनिकता के प्रचलित सारे साँचों को चुनौती देते हुए अपने को आधुनिक सिद्ध किया । इसप्रकार आधुनिक हिन्दी कविता का प्रौढ रूप उनकी कविता में मिलता है ।

त्रिलोचन समाज के प्रति साहित्यकार के दायित्व को माननेवाले हैं । समाजिक सत्य के आधार पर रचना करना उनका लक्ष्य था । सामाजिक जीवन की ओर आलोचनात्मक दृष्टि रखने से सामाजिक सत्य को लिपिबद्ध कर सकते हैं रचनाकार । ऐसे करते समय उन्हें आत्मविश्वास रखना चाहिए । इसप्रकार सामाजिक यथार्थ का चित्रण करना खतरे से खाली नहीं है । त्रिलोचन ने लिखा है - "ऐसे रचनाकार ही उभर सकते हैं जब उसमें सामाजिक सत्य के प्रति आग्रह और अपनी रचना के प्रति आत्म-विश्वास हो ।"[100]

कवि त्रिलोचन प्रगतिवादी काव्यधारा के समर्थ कवि हैं । अतः उनकी सामाजिक चेतना प्रगतिवादी चेतना से जुडी हुई है । उनकी कविता में सामाजिक विसंगतियों की जालों में फसे हुए मानव की मुक्ति की तलाश की गयी है । इसमें कवि ने कुछ अंशों तक वैचारिक पृष्ठभूमि पर रचना की है । इसके लिए उन्होंने समसामयिक जीवन को चित्रित करते हैं और क्रांति पर अपना विश्वास प्रकट किया है । इस के संबन्ध में डा. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र का कथन है - "त्रिलोचन की सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखी गयी रचनाओं को तीन पार्श्वों में देखा जा सकता है । प्रथम पार्श्व के अन्तर्गत कवि ने सामाजिक तथ्यों को वैचारिक भूमि पर समझने का प्रयत्न किया है । दूसरे पार्श्व की रचनाओं में वर्तमान जीवन की विविध विसदृश स्थितियों का चित्रण मिलता है । तीसरे पार्श्व में कवि ने नवीन क्रांति के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए उद्बोधनात्मक कविताएँ लिखी हैं ।"[101]

त्रिलोचन समाज से प्रतिबद्ध हैं । उन्हें पता है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था विसंगतियों और विकृतियों से भरा हुआ है । वे ऐसी सामाजिक व्यवस्था से बिलकुल असंतुष्ट हैं । समाज के ध्वनिग्राहक होने के नाते उनके मन में विसंगतियों के प्रति धिक्कार की भावना है । वर्तमान समाज के खोखलेपन के प्रति अपनी असंतुष्टि को यों व्यक्त किया है -

ध्वनिग्राहक हूँ मैं, समाज में उठनेवाली / ध्वनियाँ पकड़ लिया करता हूँ /
अगर न हो हरियाली / कहाँ दिखा सकता हूँ' फिर आँखों पर मेरी /
चश्मा हरो नहीं है, यह नवीन ऐयारी / मुझे पसंद नहीं है ।[102]

त्रिलोचन के अनुसार इन विसंगतियों का मूल कारण पूंजीवाद है । इस व्यवस्था ने मनुष्य का सारा महत्व और मूल्य नष्ट कर दिया । इसने मानव समाज को अशांति के दलदल में डूबो दिया । इसलिए कवि ने पूंजीवाद को मटियामेट करने का सन्देश दिया है -

पूंजीवाद ने महत्व नष्ट कर दिया सब का/जीवन का, जनका, समाज का, कला का
बिना पूंजीवाद को मिटाये किसी तरह भी / वह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता /
ज्ञान-विज्ञान से किसी प्रकार / कोई कल्याण नहीं हो सकता ।[103]

पूंजीवाद के अत्याचारों से जर्जरित सर्वहारा वर्ग के पक्ष लेने में त्रिलोचन को लेशमात्र भी संकोच नहीं है । उसके प्रति ही उनकी सारी सहानुभूति । उनमें दिखावा कुछ भी नहीं है, वे अत्यन्त आत्मीय हैं । उनके अपने अनुभव उन्हें इस पद्दलित वर्ग के सुख-दुखों में भागीदार बनाते हैं । इसलिए वे अपने को उसका अभिन्न अंग घोषित करते हैं -

मैं भी उस समाज का जन हूँ / उस समाज के साथ साथ ही /
मुझको भी उत्साह मिला है ।[104]

जैसे सूचित किया है कि त्रिलोचन प्रगतिवादी रहे थे । इसलिए वे मानते हैं कि इस वैषम्य युक्त सामाजिक स्थिति अवश्य परिवर्तित हो जाएगी । वे घोषित करते हैं कि परिवर्तन की शक्ति अतुल और अप्रतिरोध्य है -

परिवर्तन की शक्ति अतुल है / उसे न बाँध सका है कोई ।[105]

केदारनाथ अग्रवाल

केदारनाथ अग्रवाल छायावादोत्तर काल के उन प्रगतिशील कवियों में एक है जिन्होंने काव्य को छायावाद की अतिशय काल्पनिकता और वायवीयता से ठोस धरती पर ला खडा कर दिया । प्रगतिशील विचारधारा से प्रेरित केदारनाथ मनुष्य-जीवन और समाज के गायक हैं । उनके लिए कविता सामाजिक जीवन के विविध प्रसंगों की लेखा-जोखा है । "केदार की कविता मनुष्य के जीवन और समाज की पूरी प्रक्रिया की कविता है । इस प्रक्रिया में उनकी कविता सत्य और न्याय के, मानव मूल्य और सामाजिक प्रगति के, मेहनतकशों और आम जनता के, यानी समाजवादी क्रांति के पक्ष से प्रतिबद्ध हैं । इसलिए उनकी कविता व्यापक है । जीवन का कोई पहलू उससे बच के निकलता नहीं है ।"[106]

केदार की प्रगतिशीलता में व्यक्ति चेतना और समष्टि चेतना का सुन्दर समन्वय है । मानव और समाज की भलाई के लिए उन्होंने अनिवार्य मान लिया । उन्होंने लिखा है - "संकीर्ण-मनोवृत्ति के विकृत मनोभावों का निरूपण मैं नहीं कर पाता जब तक मेरी अनुभूतियाँ स्पष्ट आकार नहीं ले लेतीं और सामाजिकता उभार नहीं ले लेती, तब तक मैं उन्हें व्यक्तिकरण के योग्य नहीं समझता ।"[107]

केदारनाथ अग्रवाल की साहित्यिक दृष्टि के पीछे मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । उनके मत में कवि का व्यक्तित्व उसकी परिस्थितियों के अनुसार निर्मित होता है । मार्क्सवाद ने उसकी भावुकता को दूर करके उनकी काव्य-संबंधी धारणा को अधिक मज़बूत बना डाली । उन्होंने इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है - "वकील होते-होते तक मैं मार्क्सवाद के जीवन - दर्शन से अपनी मानसिकता बनाने लगा । मेरे भाववादी संस्कार ढीले पडने लगे और श्रम और समाजवाद के सिद्धांत प्रिय लगने लगे आदमी और उसके समाज की अर्थनीति और राजनीति से मुठभेड हुई । नतीजा हुआ कि मैं मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से अपना विवेक बनाने लगा । काव्य के संबन्ध में मेरी धारणा बदल गयी ।"[108] कवि के व्यक्तित्व को रूप देने में आर्थिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण हाथ है । मार्क्सवाद को अपनाने के मूल में यह समझ ही कार्य करती है । इसे उन्होंने "युग की गंगा" में स्पष्ट किया है - "वस्तुजगत् की मानसिक प्रक्रिया को कवि के व्यक्तित्व के परे समझना भूल होगी । वास्तव में आर्थिक

आधार पर ही समाज का निर्माण होता है, देश की राजनीति बनती है, और संस्कृति का अभ्युदय होता है । इसलिए कवि अथवा उसके व्यक्तित्व को अर्थनीति का अंश ही समझना चाहिए । कवि की विचारधारा और भाव-धारा दोनों ही अर्थनीति से निसृत होती है ।"[109]

उनकी रचनाओं में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव आरंभ से ही स्पष्ट है । वर्ग-वैषम्य जनित सामाजिक विसंगतियों और विरूपताओं का चित्रण उन्होंने अपना मुख्य विषय बनाया है ।[110] उन्होंने मार्क्सवादी साहित्य दृष्टि के अनुसार कविता को सामाजिक परिवर्तन का साधन माना - "अग्रवाल जी काव्य को मार्क्सवादी मान्यताओं के अनुरूप एक अस्त्र मानते हैं, और कवि को शोषक वर्ग को समाप्त करके समाजवादी समाज की स्थापना में योग देनेवाला योद्धा है ।"[111]

केदारनाथ की रचनाएँ भोगा-हुआ यथार्थ जीवन की जीवित तसवीरें हैं । उन्होंने जीवन के विविध पहलुओं का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है । अपनी यथार्थ दृष्टि के संबन्ध में उन्होंने कहा है - "कविता न मैं ने चुराई । इसे मैं ने जीवन जोतकर, किसान की तरह बोया और काटा है । यह मेरी अपनी है और मुझे प्राण से अधिक प्यारी है । किन्तु मैं ने इसे कपाट और कोठे की बन्दिनी बनाकर अपने अहं की चेरी के रूप में नहीं रखा । मैं ने कविता को सरिता के रूप में जनता तक पहुँचाया है ।"[112]

केदारनाथ अग्रवाल की प्रगतिशीलता और सामाजिक चेतना का मूर्त आधार भारत की श्रमजीवी जनता है । मार्क्सवादी दर्शन जनता के प्रति सरोकार को ठोस बना दिया था, जनता के संघर्ष में अडिग आस्था और भविष्य के प्रति विश्वास जगाया था । समाज की शोचनीय स्थिति से वे अधिक सजग रहे थे । इसलिए उनकी कविता में सत्य और न्याय जैसे मानव मूल्य और सामाजिक प्रगति के, मेहनतकशों और आम जनता के प्रति पक्षधरता स्पष्ट रूप से उभर आये हैं । अतः कविता को सामाजिक क्रांति का साधन माननेवाले केदारनाथ ने अपनी कविताओं में समाजवादी समाज की स्थापना की कल्पना की है । उनके लिए लेखनी शक्तिशाली हथियार है और वे स्वयं योद्धा बनकर दूषित समाज से युद्ध कर रहे हैं -

मैं लडाई लड रहा हूँ मोरचे पर । / लेखनी की शक्तिशाली गर्जना से /
मैं कलेजा शोषकों का फाडता हूँ / सूदखोरों को मिल के मालिकों को /
अर्थ के पैशाचिकों को / भूमि को हडपे हुए धरणीधरों को /
मैं प्रलय के साम्यवादी आक्रमण से मारता हूँ / और उनके अपहरण की /
दिग्विजयिनी सभ्यता को / सर्वहारा की नवोदित सभ्यता से जीतता हूँ ।[113]

अतः केदार प्रगतिवादी सामाजिक चेतना के मार्मिक कवि हैं । मार्क्सवाद को समाज परिवर्तन का मार्ग मानने के कारण मानव भविष्य पर उन्हें बडा विश्वास है । उनके अनुसार वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का ध्वंस हो जाएगा । उसके स्थान पर नयी संस्कृति पनपेगी और उस समाज में विसंगतियों के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा -

पर निश्चय है, दृढ निश्चय है इतना / दिनकर जायेगा लपटों से लिपटा /
भस्मीभूत करेगा कोहरा क्षण में / प्यारी धरती को स्वाधीन करेगा ।[114]

शमशेर बहादुरसिंह

शमशेर नयी कविता के प्रमुख कवि हैं जिनकी वैविध्यपूर्ण रचनाओं में जीवन की पूरी गर्मी, गहराई और पूर्णता की अभिव्यक्ति हुई है । उनकी कविताओं में मानवीयता का स्वर मुखर है । मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि के कारण वे मानवीयता के पक्षधर बने थे । शमशेर का काव्यसंसार अपने निजी जीवन का संसार है । इसे कवि ने स्वयं सूचित किया है - "अपनी काव्य कृतियाँ मुझे दर असल सामाजिक दृष्टि से कुछ मूल्यवान नहीं लगती । उनकी वास्तविक सामाजिक उपयोगिता मेरे लिए एक प्रश्न चिह्न सा ही रही है , कितना धुंधला रही है । खैर यही मेरी नितान्त अपनी निजी आन्तरिक भावना है ।"[115] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कविताओं में सामाजिकता का अभाव है । उन के अनुसार कला कलाकार की अपनी निजी चीज़ है । वह जितना अधिक निजी हो जाती है उतना वह संसार की हो जाएगी ।[116] वे व्यक्ति की निजी सीमा में सामाजिक चेतना और विश्वकल्याण की भावना को व्यक्त करते हैं । अपनी निजी संसार में सिंसियर रहने के कारण समाज-सत्य से भी अछूते नहीं रह सकते हैं । वे जो कुछ भोग रहे हैं उसमें बृहत्तर समाज की पृष्ठभूमि है जिससे उसे व्यापक समाज से मिलने की

प्रेरणा मिलती है । "कवि का कर्म अपनी भावनाओं में, अपनी प्रेरणाओं में, अपने आन्तरिक संस्कारों में, समाज सत्य के मर्म को ढालना – उसमें अपने को पाना है, और उस पाने को अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से पूरी सचाई के साथ व्यक्त करना है, जहाँ तक वह कर सकता हो ।"[117]

कविता को कवि का निजी संसार माननेवाले होने पर भी शमशेर में समाज से बिछुड जाने का भाव ज़रा भी नहीं है । उनकी कविता में अभिव्यक्त निजता की भावना अंत में समाज में मिल जाती है । उनमें निजी का जो अहसास है वह भी सार्वजनिक होता है । व्यापकत्व की ओर उनका झुकाव निम्न लिखित पंक्तियों में दृष्टव्य है –

मैं समाज तो नहीं, न मैं कुल / जीवन, कण-समूह में मैं केवल / एक कण ।[118]

वे सामाजिक संघर्षों से अछूते नहीं रहे हैं । जीवन की सचाई उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सकी । इस लिए समाज सत्य के मर्म को जानने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं है । वे कहते हैं जनता का दुख ही एकमात्र सत्य है । कई कारणों से उसकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय है –

एक-जनता का / दुख – एक / हवा में उडती पताकाएँ / अनेक । /[119]

सामाजिक जीवन के प्रति सजगता के कारण उनकी कविताओं के केन्द्रपात्र किसान-मज़दूर जैसे शोषित-पीडित लोग ही रहे हैं । शमशेर अपने कवि से उन पीडितों के स्वरों में अपना हृदय मिलाने का अनुरोध करते हैं । उनके शरीर में जलनेवाली आग में अपने बुर्जुआ भावों को जलाकर पुरानी परंपरावादी रचना-पद्धति को ठुकराकर नये तरीकें से जीवन और जगत् का गीत गाने का आह्वान करते हैं –

फिर वह एक हिलोर उठी –
गाओ ! / वह मज़दूर किसानों के स्वर कठिन हठी / कवि हे, उनमें अपना
हृदय मिलाओ ! / उनके मिट्टी के तन में हैं अधिक आग / है अधिक ताप: /
उसमें, कवि हे, / अपने विरह – मिलन के पाप जलाओ ।[120]

वर्तमान सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रण करना शमशेर का लक्ष्य है । वे देखते हैं कि आज का समाज मूल्य-दृष्टि से गयाबीता है । मानव स्वार्थता के संकुचित दायरे में दम घुटते मर जाते हैं । सामाजिक जीवन में शोषण की मज़बूत जकड़न है । साधारण जनता का जीवन इन शोषकों के कारनामों से पिस जाता है । उन्हें दाने-दाने को तरसना पड़ता है । अकाल, बीमारी आदि के कारण उनका जीवन और कष्टपूर्ण बन जाता है । बीसवीं सदी के मध्याह्न में मानव का जीवन कुत्तों के जीवन से भी गिरा हुआ है -

जहाँ कुत्तों का जीवन भी दीर्घतर लगता है, / स्पृहणीय, केवल /
अपना ही दयनीय । / क्यों जन्मा था मनुष्य /
बीसवीं सदी के मध्याह्न में / यों मरने के लिए' ।21

मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण शमशेर में भविष्य के प्रति गहरी आस्था की भावना है । वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि शोषित-पीड़ित सर्वहारा वर्ग में अपनी इस करुण स्थिति के प्रति क्षोभ का नितांत अभाव है । वे कहते हैं कि उनके मन में शोषक शैतानों के प्रति क्रोध की ज्वाला सुलग रही है । जब शोषित और पीड़ितों को सत्ता और जमाना भूल जाते है तब यह क्रोध की ज्वाला क्रांति का रूप धारण कर लेती है -

सरकारें पलटती हैं जहाँ दर्द से करवट बदलते हैं । / हमारे अपने नेता भूल जाते हैं
हमें जब, / भूल जाता जमाना भी उन्हें, हम भूल जाते हैं उन्हें खुद । / और तब /
इन्क़लाब् आता है उनके दौर को गुम करने ।'22

धर्मवीर भारती

भारती मूल रूप से प्रेम और यौवन के कवि होते हुए भी उनकी काव्य-चेतना समसामयिक परिस्थितियों से स्थापित हुई - "समसामयिक परिवेश ही भारती के साहित्य रूपी पौधे की जडों में खाद्य, तने में रस, पत्तियों में रक्त और फूल-फूलों में रूपरंग बनकर उभरता है ।"123

भारती की रचनाओं में सामाजिक चेतना किसी वाद के घेरे में आबद्ध नहीं है । वेयह नहीं मानते हैं कि मात्र वर्ग-संघर्ष का चित्रण ही समाजिक चेतना है ।

भारती प्रगति के समर्थक हैं, किन्तु वाद का विवाद उन्हें अमान्य है । उन्होंने लिखा है - "मानवता को प्यार करनेवाले एक ईमानदार कलाकार के नाते प्रगति मेरा ईमान है, मेरी कलम की जवानी है ।"[124] वे अपनी कविताओं द्वारा अपने आन्तरिक संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं । ऐसे करते समय वे अपने अहं को समाज में विलयित करके जीवन के महत्वपूर्ण तत्वों की खोज भी करते हैं - "भारती के काव्य का एक सोपान उस आन्तरिक संघर्ष का है जहाँ कवि विराट जीवन के बीच दुख दर्दों में गंभीर अर्थ ढूँढता है । अपने अहं को विलगित करते हुए जीवन के सार्थक तत्वों की, रचनात्मकता की तलाश करता है । वह सकरे-सिमटे घेरे से व्यापक स्थितियों का साक्षात्कार करता हुआ स्वस्थ दिशाओं की ओर गतिशील होता है । यह पगडंडी है -यथार्थपरक सामाजिक संदर्भों की ।"[125]

भारती की सामाजिक चेतना इसी बात में है कि वे व्यक्तिगत समस्याओं को सामाजिक स्तर तक पहूँचाने की भरपूर कोशिश करते हैं । जैसे कि डा. हरिचरण शर्मा ने सूचित किया है - "वह व्यक्तिगत हितों को सामाजिकता की चादर उठाकर जनहित की आग जलाता है और युग-पथ पर जन-जन के साथ आगे बढता हुआ, समाजोन्मुखता का सामूहिक गीत गाता हुआ मानवता के पथ पर बढना चाहता है ।"[126]

भारती अवश्य युग बोध के कवि हैं । वर्तमान जीवन को संकट में डालनेवाली शोषण -प्रथा मानव जीवन के आरंभ से विभिन्न रूपों में चलती आ रही है । ये पूंजीपतियों, साम्राज्यवादियों के रूप में सामाजिक जीवन को बर्बाद कर रही है । समाज चेता होने के कारण भारती इसके प्रति जागरूक हैं । उनकी चेतावनी देखिए -

ढंग से नया / लेकिन बात यह पुरानी है / घोडों पर रखकर या थैली में भरकर
या रोटी से ढककर या फिल्मों में रंगकर / वे जंजीरें, केवल जंजीरें लाये हैं
और भी पहले वे कई बार आए हैं ।[127]

मानवराशी के लिए अभिशाप है युद्ध । आजकल मानवजीवन आणविक बमों की विभीषिका से थर थर है । भारती ने "अन्धायुग" में ब्रह्मास्त्र का मानव जाति पर पडनेवाला प्रभाव के द्वारा अणुबमों से भावी पीढियों को होनेवाली दुर्दशा की ओर सूचना दी -

ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का /
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु । / तो आगे आनेवाली
सदियों तक / पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी /
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुंठाग्रस्त / सारी मनुष्य जाति
बौनी हो जाएगी ।[128]

समाज के प्रति दायित्व भाव रखने के कारण भारती हर एक व्यक्तित्व को यों आह्वान करते हैं -

कह दो उन से जो खरीदने आए हो तुम्हें /
हर भूख आदमी बिकाऊ नहीं ।[129]

प्रभाकर माचवे

प्रभाकर माचवे की आरंभिक रचनाओं में भी प्रगतिशीलता के उदाहरण मिलते हैं । वे छायावादी कल्पना और सौन्दर्य के कवि नहीं थे । "छायावाद की स्त्रैण रोमांटिकता से माचवे शुरु से बचते रहे ।"[130] छायावाद के उत्कर्षकाल में भी वे गांधीवाद और मैथिली शरण गुप्त से अधिक प्रभावित रहे ।[131] वे किसी विशेष राजनीतिक विचारधारा के समर्थक नहीं रहे । किसी पक्षविशेष के प्रति प्रतिबद्ध नहीं थे । उनके अनुसार किसी पक्षविशेष से प्रतिबद्ध रहने से कवि की स्वतंत्रता और प्रतिभा खतरे में हो जाएगी । उनमें मानवीय प्रतिबद्धता अवश्य थी । लेकिन इसके अनुसार सामाजिक विसंगतियों को नष्टकरने लायक वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं है - "माचवे में मानवीय प्रतिबद्धता अथवा मानवीयता का अभाव नहीं है, सामंती पुरोहित मूल्य-परंपरा को वे हटाना चाहते हैं किन्तु उसको हटाने के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता की आवश्यकता होती है उसका उनमें अपेक्षित स्तर प्राप्त नहीं होता ।"[132]

प्रभाकर माचवें की कविताएँ यथार्थवादी हैं । कहीं कहीं कवि युगीन यथार्थ को व्यंग्य के द्वारा प्रस्तुत करते थे । ऐसी रचनाओं में मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग के वैषम्यपूर्ण जीवन का यथार्थ स्वरूप उभर आता है । समाज में फैले वैषम्य और शोषण को खतम करने के लिए वे कटिबद्ध दिखाई देते हैं - "उनकी कविताओं में व्यंग्य और विडंबना के बिखरे हुए चित्रों से यह संकेतित है कि कवि युगीन यथार्थ की विडंबना को अच्छी तरह जानता है ।[133]

कवि देखते हैं कि समाज में मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग का जीवन अत्यन्त शोचनीय है । वे धनी और सत्ताधारियों के शोषण के पात्र बन जाते हैं । समाज के द्वारा बनी गयी नीतियाँ उनके जीवन को बरबाद कर देती है जब कि ऊँचे लोग उन सारी नीतियों को अपनी स्वार्थसिद्धि केलिए काम में लाते हैं । मानवीय प्रतिबद्धता के कवि होने के कारण माचवे भयंकर शोषणनीति के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं -

हम उनके गायेंगे गाने / जो निज अधिकारों से वंचित / जो शोषित, लुंठित,
मुंचित / हट जा पथ से ओ / धन सत्ता के दीवाने ।[134]

वर्ग-वैषम्य सामाजिक जीवन को पतनोन्मुख बना देता है । समाज में मज़दूर, किसान, जैसे श्रमिकों का जीवन अभावग्रस्त है । वे समाज का निर्माण करनेवाले हैं । लेकिन उनको दशा शोचनीय है । 'नींव' कविता में महल बनानेवाले मज़दूरों के अभावग्रस्त जीवन का चित्र यों प्रस्तुत हुआ है -

यह जुटे हैंगे अनेकों जीव / जिनको एक टूटी झोंपडी भी नै नसीब /
कला उसी को लोग कहते हैं नींव ।[135]

आज के मूल्यहीन समाज में सबकुछ बिक गए हैं । स्वार्थता, अधिकार, लोलुपता, अधर्म, और अत्याचार के कारण सारे मानव-मूल्य लुप्त हो गए । समकालीन समाज के संकट को इन्होंने यों वाणी दी है -

यहाँ सबकुछ है बिकता / हृदय और ईमान देवता / सब ममता की यहाँ दिखावट /
शून्य, खोखली और बनावट / स्वार्थमय यहाँ बुलाहट ।[136]

वर्तमान राजनीतिक स्थितियाँ भी अत्यन्त गर्हणीय हैं । माचवे में किसी राजनीतिक पक्ष से प्रतिबद्धता न होने पर भी अपने समकालीन राजनीतिक गति-विधियों से वे अछूते नहीं रहे । सत्ता प्राप्त करने के लिए सत्ता पक्ष और विपक्ष के लोग कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं । भ्रष्टाचार राजनीति का अभिन्न अंग बन गया है -

सुनता हूँ प्रतिदिन हैं होते / सत्ता प्राप्त गुटों में झगडे /
बीज-बबूल-फूट का बोते / कैसे अमन-आम हो तगडे ।[137]

यों किसी वादविशेष से न जुड़कर भी माचवेजी सामाजिक वैषम्यों को उन्मूलित करते हुए एक समाजवादी समाज के स्थापन के प्रति प्रतिबद्ध दिखायी देते हैं ।

नेमीचन्द्र जैन

नेमीचन्द्र जैन विचारों से साम्यवादी कवि हैं । यह ठीक है कि उनकी आरंभिक कुछ रचनाओं में व्यक्तिपरक निराशा और प्रेमपरक कल्पना पूर्ण अभिव्यक्ति हुई थी । लेकिन धीरे धीरे उनकी कोमल भावनाएँ नष्ट होकर प्रगतिशील भावना दृढ बनने लगी । उनके अनुसार प्रगतिशीलता तभी आती है जब कवि अपनी चेतना को सामाजिकता से मिला देता है । कवि के शब्दों में - "साहित्य में प्रगतिशीलता में मेरा विश्वास है और उसके लिए एक सचेष्ट प्रयत्न का भी मैं पक्षपाती हूँ । किन्तु कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में हैं, व्यक्तिहीनता में नहीं ।"[138] अत: उनके लिए कवि समाज के प्रति उत्तरदायी होता है । वे कहते हैं - "यह बात दुहराने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि कवि पर भी अन्य व्यक्तियों की भाँति एक नागरिक है और उसका सामाजिक दायित्व है ।"[139]

वे कट्टर मार्क्सवादी हैं । वैषम्य को विषय बनाकर लिखी हुई उनकी रचनाएँ काफी प्रभावशाली हैं । मार्क्सवादी विचारधारा ने कवि को समाज को कमज़ोर बनानेवाली शक्तियों से लडने की प्रेरणा दी । उनकी कविताओं में नये युग की आशा और आकांक्षा है । वे अपनी कविताओं में सर्वहारा वर्ग के साथ देकर पूरे समाज को बदलने के लिए लालायित हैं । उनमें जीवन की समस्याओं से पलायन का भाव कुछ भी नहीं है । उनके लिए जीवन का अर्थ लडना है । डा. राजेन्द्र प्रसाद लिखते हैं - "नेमीचन्द्र में युगीन मूल्यहीनता एवं अनास्था से लडने का भाव विद्यमान रहा है । वे जानते हैं कि इसके लिए अकेले व्यक्ति के बदलने से कुछ नहीं होगा, पूरे समाज को बदलना होगा इसलिए जीवन का अर्थ उनके लिए लडना है ।"[140]

समाज के प्रति दायित्व रखनेवाले कवि नेमीचन्द्र में वर्तमान जीवन के यथार्थ से पलायन करने का भाव नहीं है । वे वर्ग-वैषम्य जनित यथार्थ से जूझने को तैयार हैं । इसलिए अपने कवि व्यक्तित्व को संबोधित करते हुए कहते हैं -

आज जूझना ही होगा / चाहे अनचाहे, / प्राण हथेली पर रखकर /
सब पिछला कर्ज चुकाना होगा / जीवन की अंधी गलियों के भीतर होकर /
अपना मार्ग बनाना होगा ।[141]

इसप्रकार संक्रांतिकाल की व्याकुल मानवता की रक्षा का भार अपने कन्धों पर उठा लेते हैं कवि । इसलिए वह अपने मन की कोमल भावनाओं को दूर करना चाहते हैं । वह मोह प्याले के स्थान पर विद्रोह की ज्वाला चाहते हैं -

मत भरो सखि, आज अपने मोह का प्याला
आज जल्दी चाहिए विद्रोह की ज्वाला ।[142]

कवि की इस सामाजिक दृष्टि को प्रखर बना देता है "लाल सितारा" । दानवता के पैरों तले कुचले गये मानवता के रक्षक कवि को इस अन्धकार पूर्ण समाज में "लालसितारा" पथ दिखा देता है -

जिन्दगी की राह के कुछ दूसरे ही हैं नियम / कुछ दूसरे ही ढंग । /
सामने जिसके प्रखरतम / ज्योति का / नव ज्वाल की भीषण प्रभाव का लाल
पावन रंग - / तड़पता विद्रोह से अस्थिर - सितारा / आज पथदर्शक वही है ।[143]

युगीन मूल्यहीनता और अनास्था से लडनेवाले कवि में नवयुग की आस्था और आशा है । वे चाहते हैं कि समाज के सारे वैषम्य नष्ट होकर समता की भावना जागृत हो जाए । साम्यवादी समाज के प्रति उनका अटल विश्वास उनकी सामाजिक चेतना का ज्वलंत परिचायक है -

वह आज चीर देगा अंबर का उर अनंत / युग युग की जडता का कर देगा आज अंत /
वैषम्य-श्रृंखलाएँ होंगी चूर-चूर / उग रही स्वर्ण-रेखाएँ समता की सुदूर ।[144]

भवानी प्रसाद मिश्र

भवानी प्रसाद की कविता का प्राण तत्व सामाजिकता है । समय और जीवन के सहज क्रम में जो कुछ उनके सामने आया है उन सब को उन्होंने शब्द बद्ध किया था । उन्होंने खुद लिखा है - "मैं ने अपनी कविता में प्रायः वही लिखा है जो मेरी ठीक पकड में आ गया है । दूर की कौडी लाने की महत्वाकांक्षा भी मैं ने कभी नहीं की । बहुत मामूली रोजमर्रा के सुख-दुख मैं ने इन में कहे हैं जिनका एक शब्द भी किसी को समझाना नहीं पडता ।"[145]

साहित्य-सृजन में वैयक्तिकता और समष्टि का समन्वय माननेवाले हैं भवानी प्रसाद मिश्र । तटस्थता और अन्तर्मुखता के प्रति उनमें धिक्कार की भावना है । उनके अनुसार जो कवि या साहित्यकार तटस्थ होकर अपनी आत्मा की ओर झुक जाता है वह सामाजिक दायित्व से पलायन करनेवाला है । वे अच्छी तरह समझते हैं कि कविता में सिर्फ कवि की ही निजी अनुभूति की अभिव्यक्ति है तो वह प्रभावहीन हो जाएगी । निजी अनुभूति सबकुछ नहीं होती है । रचनाकार के बाहर-भीतर जो संघर्ष चलता है वही सर्वप्रमुख बात है । असल में यह संघर्ष कवि के समाज और परिवेश से उत्पन्न होता है । इसलिए कवि की रचना वैयक्तिक प्रक्रिया होने पर भी समष्टि से जुडी हुई है । अतः व्यक्ति की परम सार्थकता व्यष्टि से समष्टि बन जाने में है । मानव मन की सही पकड, जीवन की ठीक समझ और द्वन्द्व का आभास तटस्थता से संभव नहीं है । भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य के अन्तर्बाह्य तादात्म्य के संबन्ध में यह कथन बिलकुल ठीक है - "संपूर्ण सृजन में वैयक्तिक अवचेतन के साथ सामूहिक अवचेतन सक्रिय रहती है और रचना की पूरी निर्मिति उससे जुडी रहती है । इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भवानी भाई के कलाकार ने अपने को विकसनशील शक्तियों से संपन्न किया है और अपनी मध्यवर्गीय अस्मिता का विलय करके वे उस विशाल जन समूह में मिल गये हैं जिनकी वकालत मुक्तिबोध तथा सर्वेश्वर लगातार करते रहे हैं ।"[146]

भवानी प्रसाद के लिए सामाजिकता से हटकर कोई मूल्य नहीं है । उनकी सामाजिकता मानवता पर आधारित है । इसलिए अपनी काव्य-यात्रा के बीच वे जनता और समाज की हर व्यथा को वाणी देना अपनी सार्थकता समझते हैं । उन्होंने सामान्य

जनता के पक्ष में खड़े होकर साम्राज्यवाद, सामंतवाद, पूंजीवाद का विरोध किया और किसान-मज़दूर का समर्थन किया । "कवि की जागरूकता और संवेदनशीलता इस बात में है कि वह परिवेश को समझे, समसामयिकता के प्रति सतर्कता बरते, सामान्य व्यक्ति के सुख-दुख में डूबे और जीवन मूल्यों को उजागर करे । मिश्रजी इस कसौटी पर खरे हैं । जन-जीवन से सहज सानीप्य उनकी विशेषता है । सच तो यह है कि वे कभी अपने आसपास से विरागी नहीं बने और कृत्रिमता, चतुराई या कोरी बौद्धिकता (दार्शनिकता) बघारने का शौक भी उनमें कभी नहीं रहा ।"[147]

यद्यपि भवानी प्रसाद किसी वाद का हिमायती नहीं है फिर भी उनकी रचनाओं में गांधीवाद और मार्क्सवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर है । उनकी कविताओं में व्यंजित मनुष्यता की गहरी संपृक्ति गांधी और मार्क्स की विचारधारा के अनुसार है । मार्क्स और गांधी के भिन्न-भिन्न होने पर भी लक्ष्य एक है अर्थात् मनुष्य को मनुष्य बनाने और बनाये रखने की चिन्ता । साम्यवाद के श्रेष्ठ तत्वों को गांधीवाद के साथ समन्वित करने में उनमें कोई संकोच नहीं है । लेकिन मिश्रजी मार्क्सवादियों की उग्रक्रांति को मान्यता नहीं देते हैं ।[148] गांधीवाद की समाहार शक्ति, अहिंसा भावना, प्रेम भवानीप्रसाद मिश्र पर अपना गहरा प्रभाव डाला । फलस्वरूप उनकी प्रतिबद्धता गांधी और गांधीवाद से जुड़ती ही चली गई ।"[149]

गांधी विचारधारा से ओतप्रोत होने के कारण वे समाज में सब की भलाई चाहते हैं । निम्न लिखित पंक्तियों में कवि यही आदर्श प्रस्तुत करते हैं -

जिओ और जीने दो / प्रभु बरसा रहे हैं जो सुधा / सो सबको पीने दो ।"[150]

कवि के मन में भारत के किसान मज़दूर के प्रति सहानुभूति भर गयी है । वे समझते हैं कि सच्चा स्वराज्य का अर्थ है इन मेहनतकशों को सुख जीवन प्राप्त होना । वे लिखते हैं

मैं कृषकों का बोल बनूँ प्रेयसि, तू उनकी वाणी बन ।[151]

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में मानव का स्थर गिर गया है । शोषण, उत्पीडन, क्रूरता, अवसरवाद आदि अमानवीय परिस्थियों के कारण मानव मशबूर बन गया है । समाज में फैली वणिकवृत्ति का शिकार बने मानव समाज को कवि शब्दबद्ध करते हैं -

जी लोगों ने बेच दिये ईमान, / जी, आप न हो सुनकर ज्यादा हैरान - / मैं सोच-समझकर आखिर / अपने गीत बेचता हूँ । / या भीतर जाकर पूछ आइए आप / है गीत बेचना वैसे बिलकुल पाप / क्या करूँ मगर लाचार / हार कर गीत बेचता हूँ ।[152]

वर्तमान शासन प्रणाली पर वे अधिक जागरूक है । स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद वे अधिक सारे आदर्श मूल्यरहित बन गये जिनके आधार पर हम ने साम्राज्यवाद से हमारी स्वतंत्रता को छीन लिया था । स्वतंत्र भारत के सामंतवाद, सम्राज्यवाद और पूंजीवाद के गठबन्धन ने सत्ताधारियों पर अपना बुरा प्रभाव डाला । सत्ता पक्ष और विपक्ष दोनों अधिकार पाने के लिए कोई भी मार्ग अपनाने लगे । फलतः जातिवाद, ऊँच-नीचवाद, भाई-भतीजावाद जैसी सामाजिक विकृतियों को शक्ति मिली । इसके अतिरिक्त अफसरशाही और नेताशाही का आपसी विरोध और भ्रष्टाचार सामाजिक जीवन को बर्बाद कर दिया । सत्ता की समकालीनता को कवि ने स्पष्ट किया है -

मुझे चेतना से घबराहट होती है / मैं जड होना चाहता हूँ /
सत्ता की समकालीनता से/चेतना नहीं बचा सकती मुझ को /
मैं जड होना चाहता हूँ ।[153]

मुक्तिबोध की विशिष्टता

मुक्तिबोध के समकालीन कवियों की सामाजिक चेतना का उपर्युक्त उल्लेख इस दृष्टि से भी किया गया है, कि उनकी व्यतिरिक्तता और जाहिर हो जाय । इसा विषय ही "मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना होने की वजह आगे समकालीनों की तुलना में मुक्तिबोध की खासियत की सिर्फ झांकियाँ प्रस्तुत करना समीचीन लगता है ।

परंपरा के प्रति विद्रोह -

परंपरा के प्रति विद्रोह-भावना मुक्तिबोध के निजी व्यक्तित्व एवं कवि-व्यक्तित्व का नियामक अंग है । यह विद्रोह भावना समकालीन कवियों में उतना प्रखर नहीं है । जबकि अन्य कवियों में शुरू से अंत तक छायावादी भाव और भाषा का

संस्पर्श है तो मुक्तिबोध की आरंभकालीन कविताओं को छोडकर और कहीं इसका प्रभाव नहीं है । यह उनकी सौन्दर्य चेतना का ही करिश्मा है जो प्रखर सामाजिक चेतना से अभिप्रेरित है । वे जीवन के प्रत्येक संदर्भ को साहित्य रचना के लिए उपयुक्त मानते हैं । उनके विचार में काले स्याह पहाड में भी एक अजीब वीरान सुन्दरता निहित होती है और गली के अंधेरे में भी कुछ संकेत होता है ।[154] दरअसल वे रचनाकार की सौन्दर्य दृष्टि और सामाजिक दृष्टि में आंतरिक एकता को पहचाननेवाले थे ।

प्रखर यथार्थ बोध -

मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना का नींवाधार वाकई उनका यथार्थबोध है । वे कविता को बाह्य का अभ्यंतरीकरण और अभ्यंतर का बाह्यीकरण माननेवाले थे । उन्होंने समकालीन यथार्थ को उसकी तमाम जटिलता, भयानकता और अंतर विरोधों के साथ अपनाया भी है । उनमें समकालीन यथार्थ से पलायन का भाव बिलकुल नहीं है जैसे कि भरत भूषण अग्रवाल में मयस्सर है । अज्ञेय, कलाकार की अद्वितीयता की प्रतिज्ञा के संदर्भ में यथार्थ से अलग होते हैं, लेकिन मुक्तिबोध अडिग रहते हैं । इसके अतिरिक्त मुक्ति बोध में जैसे अशोक वाजपेय ने सूचित किया है, समकालीन कवियों में मिलनेवाले यथार्थ के सरलीकरण की चेष्टा नहीं है ।[155] नागार्जुन और माचवे की कविता में व्यंग्य के आश्रय लेने की वजह यथार्थ की तीव्रता में कमी आ गयी है । मुक्तिबोध में बाहरी यथार्थ आतंरिक मन में भयानक रूप धारण करते हैं और कविता में उसकी अभिव्यक्ति भी होती है । मुक्तिबोध द्रष्टा और भोक्ता में कोई भेद-भाव नहीं देखते हैं । उनके अनुसार यह कविता के लिए खतरनाक है । वे भोक्तृत्व और दर्शकत्व के समन्वय को मान्यता देते हैं दरअसल जो कवि समय की सच्चाइयों से बचना चाहता है वही यथार्थ के सरलीकरण की ओर मुडता है, लेकिन मुक्तिबोध में क्रूर यथार्थ को साक्षात्कार करने, मानव की त्रासद स्थितियों को आत्मसात करने व उन्हें अभिव्यक्त करने की भी सक्षमता है । आंतरिक बेचैनी उन्हें इसके लिए विवश भी करती है ।

आत्मसंघर्ष -

मुक्तिबोध के समूचे काव्य की एक प्रखर विशिष्टता उसके कण कण में उपलब्ध आत्मसंघर्ष की जीवंतता है जो उनकी तीक्ष्ण सामाजिक चेतना का ही परिणाम है । इसकी ओर संकेत देते हुए अशोक वाजपेयी ने लिखा है - "उनकी कविता का

सामाजिक दृश्य सिर्फ एक पीडा भरा बाह्य नहीं है, बल्कि वैसी ही पीडा भरा एक अन्तस भी है, और इसलिए अत्यन्त सामाजिक होते हुए भी अत्यन्त निजी है।"[156] इसके साथ अपने संघर्ष को व्यापक धरातल पर पहुँचाने में भी वे पूर्णतः सफल हुए थे। आत्मसंघर्ष को मानव-समाज के संघर्ष के रूप में ही उन्होंने चित्रित किया है, उनके आत्मसंघर्ष की एक और खासियत की ओर संकेत करते हुए सुरेन्द्र प्रताप ने लिखा है कि जहाँ अज्ञेय में कूटस्थ आत्मभावना है वहाँ मुक्तिबोध में निस्संगता और संगत का तनाव है। अज्ञेय आत्मलीन हैं तो मुक्तिबोध अपने में रहकर दूसरों से जुडना चाहते हैं या दूसरों से जुडकर अपने में ही रहते हैं।[157] भारत भूषण अग्रवाल, नागार्जुन जैसे कवि भी आत्मसंघर्ष से गुजरे हैं, लेकिन मुक्तिबोध की तुलना में यह सतही और निजी संघर्ष तक सीमित रह गया है। इसीलिए हरिशंकर परसायी लिखते हैं - "मुक्तिबोध का एक चौथाई तनाव कोई सह लेता तो उनसे आधी उम्र में मर जाता।"[158]

मध्यवर्गीय-चेतना -

साधारणतः अधिकांश कवि मध्यवर्गी हैं। इसीलिए ही ये अपनी वर्गीय चेतना और अपने वर्ग से हटकर उच्चवर्ग में शरीक होने की जबरदस्त कोशिश करते रहते हैं। इसकेलिए समाज की प्रतिगामी शक्तियों को बढावा देने तथा अपने वर्ग के विरोध में साजिश के लिए भी ये तैयार रहते हैं। लेकिन मुक्तिबोध इसका अपवाद है। वे अपनी वर्गगत कमजोरियों से पूर्णतः अवगत है, इसीलिए ही अपनी कविताओं के माध्यम से मध्यवर्ग को अपने वर्ग की संकुचित सीमा को लांघकर शोषित जनता से मिलने का आह्वान देते हैं। वे जानते हैं कि मध्यवर्ग की मुक्ति शोषित जनता से मिलकर समाज को ग्रसित शोषण की शक्तियों के विरोध में संघर्ष चलाने से ही हो सकती हैं। फलतः स्वयं कवि वर्गापसरित होकर शोषित, पीडित जनता से तादात्म्य साबित करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। लेकिन अपने वर्ग से बिछुडने का भाव कहीं नहीं मिलता। यह बात मुक्तिबोध को समकालीन कवियों से अलग हटाती है। मलयज को उद्धृत करें तो, मुक्तिबोध का आदमी वही औसत आदमी है और उसे अपनी सतह से लगाव है। ध्यान रहे, वह आदमी छिटककर-अपनी वर्ग सीमा को पारकर - उसके बाहर नहीं जाता - वह सिर्फ उससे ऊपर उठता है, उसी का रहते हुए।"[159]

मार्क्सवाद का प्रभाव

मुक्तिबोध मार्क्सवाद से प्रभावित ही नहीं, वे उसे सर्वांगीण दर्शन मानते थे। उनकी राय में यह समकालीन नृशंस यथार्थ के विश्लेषण व भविष्य के स्वप्न को स्थापित करने का माध्यम भी है। मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की समझ से उद्भूत है। मार्क्सवाद के प्रति उनकी दृष्टि हमेशा अटल रही है। उसकी आस्था में कभी भी दरारें न पडी। जैसे कि गंगा प्रसाद विमल ने सूचित किया है, मुक्तिबोध ने तो शमशेर की तरह मार्क्सवाद से असंतुष्ट हैं और न अज्ञेय की तरह मार्क्सवाद को एकांगी दर्शन मानकर चलते हैं। नागार्जुन ने मार्क्सवाद को ठोस राजनीतिक सवाल बना दिया और त्रिलोचन ने स्वतंत्रता के बाद सक्रिय दर्शन से हटकर सनातनी प्रश्नों से मार्क्सवाद को उलझाना चाहा। मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी विचारधारा पर आरोपित बातों को, अपने सक्रिय चिन्तन से सुलझाने की कोशिश की।[160]

प्रतिबद्धता -

मार्क्सवाद के प्रति असीम आस्था की वजह उनकी प्रतिबद्धता पीडित और शोषित मानव के प्रति रही है। पीडित जनता चाहे जिस देश या प्रांत की हो, मुक्तिबोध के सहचर हैं। अपनी सुख-सुविधाओं के लिए आम आदमी का तिरस्कार करते हुए समाज की शोषक-शक्तियों से किसी भी प्रकार के समझौते के लिए वे तैयार नहीं थे। वे पूर्णतः ईमानदार थे। इसीलिए शोषित जनता पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उनके लिए वे अपने को जिम्मेदार मानते हैं। समकालीन कवियों से भिन्न होकर आत्मालोचन और आत्मसंशोधन की प्रवृत्ति भी मुक्तिबोध में इसी वजह विद्यमान है। उनकी कविता में मानव और मानवता पर असीम आस्था व्यक्त की गयी है। उन्हें प्रत्येक मनु-पुत्र पर अडिग विश्वास है। उनकी प्रतिबद्धता दरअसल किसी संकुचित राजनैतिक पार्टी के प्रति होने के बजाय दलित और शोषित जनता के प्रति रही, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति भी संघर्ष की भाषा में संभव हुई।

संघर्ष की प्रेरणा -

मार्क्सवादी प्रभाव तथा शोषित जनता के प्रति प्रतिबद्ध होने की वजह ही मुक्तिबोध की कविता में संघर्ष की प्रेरणा एक नियामक शक्ति के रूप में अवतरित हुई है। अज्ञेय की कविता में इच्छित संसार की कल्पना के साथ सारे खतरों से बचने के उपाय भी मौजूद हैं। लेकिन मुक्तिबोध की कविता हरदम व्यक्ति को संघर्षशील रहने की प्रेरणा ही देती रहती है। इसके लिए कवि अभिव्यक्ति के सारे खतरों को अपनाने के लिए तैयार हैं। नागार्जुन, त्रिलोचन और भवानी प्रसाद मिश्र भी सामाजिक चेतना से अभीभूत हैं, लेकिन उनमें मुक्तिबोध में मौजूद संघर्ष की ललक नहीं है। असल में इस संघर्ष के पीछे मानव-मुक्ति की तीव्र आकांक्षा और समाजवादी समाज की स्थापना का स्वप्न ही कार्यरत है। जैसे कि जीवनलाल वर्मा विद्रोही ने सूचित किया है, मुक्तिबोध के समकालीन प्रगतिवादी कवियों के लिए संघर्ष फैशन की चीज़ और प्रतिष्ठा का साधन था तब मुक्तिबोध के लिए सारी भ्रांतियों से मुक्त होकर उत्पीडित मानव मुक्ति के लिए अनुयोज्य नये मूल्यों की खोज था।[16]

यों निष्कर्षतः यही कह सकते हैं कि समकालीन कवियों की तुलना में मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना विशिष्ट रही थी। उनकी चेतना एक विशेष लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही थी, इसलिए यह विशिष्टता सहज ही संभव हुई थी और कविता में भी यह अनायास जाहिर हुई थी।

अध्याय - दो

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ: 21.
2. डा. नगेन्द्र , हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ: 62.
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ: 33.
4. राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्य-धारा पृ: 29.
5. उमेश शास्त्री हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास पृ: 17.
6. सुधाकर पाण्डेय , हिन्दी साहित्य और साहित्यकार पृ: 19.
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ: 60.
8. नरेश , आलोचना - 44 जनवरी-मार्च 1978 , पृ: 40.
9. डा. राजेन्द्र प्रसाद , तारसप्तक के कवियों की समाज-चेतना पृ: 209.
10. नरेश , आलोचना-44 , जनवरी-मार्च 1978 , पृ: 41.
11. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ:
12. डा. प्रहलाद मौर्य , कबीर का सामाजिक दर्शन पृ: 17.
13. कबीर कबीर ग्रंथावली पृ: 102.
14. वही - पृ: 79.
15. वही - साखी पृ: 30.
16. वही - पद , 168 , पृ: 116.
17. पुरुषोत्तमचन्द्र वाजपेयी कबीर और जायसी का मूल्यांकन , पृ: 27-28.
18. डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर , पृ: 98.
19. डा. नगेन्द्र , हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ: 286.
20. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ: 134.
21. नरेश , आलोचना-44 , जनवरी-मार्च - 1978, पृ: 42.
22. डा. रामविलास शर्मा परंपरा का मूल्यांकन , पृ: 77.
23. तुलसीदास , कवितावली - उत्तर कांड , पद 107 पृ: 66.
24. वही वही पद 106 , पृ: 66.
25. वही रामचरितमानस , उत्तर काण्ड , दोहा-104

26. तुलसीदास , दोहावली , दोहा , 558.

27. वही , वही दोहा , 559.

28. विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी , लोकवादी तुलसीदास , पृ: 12.

29. डा. प्रेमनारायण टंडन , सूर की भाषा , पृ: 354.

30. डा. हरवंशलाल शर्मा सूर और उनका काव्य , पृ: 389.

31. भगीरथ मिश्र , हिन्दी रीति साहित्य , पृ: 19.

32. डा. नगेन्द्र , रीतिकाव्य की भूमिका पृ: 172.

33. नन्द दुलारे वाजपेयी राष्ट्रीय साहित्य हिन्दी अनुशीलन , पृ: 531.

34. डा. जगदीश गुप्त रीतिकाव्य , पृ: 63.

35. सत्य प्रकाश मिश्र , रीतिकाव्य प्रकृति एवं स्वरूप पृ: 53.

36. डा. जगदीश गुप्त रीतिकाव्य पृ: 32.

37. शंभूनाथ पाण्डेय आधुनिक हिन्दी कविता की भूमिका पृ: 1-2.

38. डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय , आधुनिक हिन्दी कविता सिद्धांत और समीक्षा पृ: 89.

39. कृष्णबिहारी मिश्र , आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य (प्रस्तावना)

40. डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय , आधुनिक हिन्दी कविता सिद्धांत और समीक्षा पृ: 110.

41. भारतेन्दु , भारतेन्दु ग्रंथावली पृ: 405 (मधुमुकुल सं. 1973).

42. प्रेमघन प्रेमघन सर्वस्व (हार्दिक हर्षादर्श 1957).

43. प्रतापनारायण , लोकोक्ति शतक , पृ: 3.

44. प्रेमघन , प्रेमघन सर्वस्व , पृ: 30.

45. प्रतापनारायण , प्रतापलहरी पृ: 140.

46. बालमुकुन्द गुप्त , स्फुट कविता, पृ: 62.

47. प्रेमघन, प्रेमघन सर्वस्व , पृ: 194.

48. डा. राजवधवा, आधुनिक हिन्दी काव्य और नैतिक चेतना पृ: 58.

49. डा. नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ: 495.

50. डा. रामसकल राय , द्विवेदी युग का काव्य , 397.

51. हरिऔध , चुभते-चौपदे , पृ: 24.

52. द्विवेदी काव्यमाला पृ: 274.

53. हरिऔध , मर्मस्पर्श , पृ: 135.

54. डा. नगेन्द्र , आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ , पृ: 10.

55. शंभूनाथ पाण्डेय , आधुनिक हिन्दी कविता की भूमिका पृ: 70.

56. पन्त आधुनिक कवि पर्यालोचन , पृ: 28.

57. शिवदान सिंह चौहान काव्य धारा , हिन्दी कविता का विकास , पृ: 19.

58. जयशंकर प्रसाद , कामायनी पृ: 140.

59. पन्त , स्वर्ण धुलि पृ: 26.

60. निराला अपरा पृ: 13.

61. निराला अपरा पृ: 49.

62. पंत रूपाभ , संख्या-1 जुलाई 1938.

63. डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय , आधुनिक हिन्दी कविता सिद्धांत और समीक्षा पृ: 343.

64. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - भाग-14 , पृ: 124.

65. नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ: 633.

66. वही पृ: 634.

67. वही - पृ: 633.

68. आचार्य वाजपेयी साहित्य चिन्तन {भूमिका}

69. केदारनाथ अग्रवाल युग की गंगा {डंगर} पृ: 4.

70. डा. रामविलास शर्मा रूपतरंग पृ: 16.

71. शिवमंगल सिंह सुमन , प्रलय-सृजन पृ: 83.

72. डा. हरिचरण शर्मा नये प्रतिनिधि कवि , पृ: 130-131.

73. अज्ञेय , भवन्ति पृ: 81.

74. वही , तारसप्तक {वक्तव्य} , पृ: 277.

75. वही त्रिशंकु , पृ: 51.

76. वही बावरा अहेरी पृ: 62.

77. वही , हरीघास पर क्षण पर , पृ: 38.

78. वही इन्द्रधनु रौंदे हुए ये , पृ: 21-22.

79. भारतभूषण अग्रवाल , तारसप्तक {वक्तव्य} पृ: 87.
80. वही एक उठा हुआ हाथ , पृ: 7.
81. भारतभूषण अग्रवाल , ओ अप्रस्तुत मन {वक्तव्य} पृ: 9.
82. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-5 , पृ: 439.
83. भारतभूषण अग्रवाल तारसप्तक , पृ: 88.
84. वही एक उठा हुआ हाथ , पृ:
85. वही ओ अप्रस्तुत मन {हृदय की गुहा से}
86. डा. कृष्ण दत्त पालीवाल , नया सृजन नया बोध - पृ: 57.
87. विश्वंभरमानव नयी कविता नये कवि , पृ: 21.
88. वही - पृ: 137.
89. डा. कृष्णदत्त पालीवाल नया सृजन नया बोध , पृ: 58.
90. डा. संतोषकुमार तिवारी नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर पृ: 73.
91. नागार्जुन जनशक्ति , जनवरी 1960.
92. वही अगस्त 1960 {स्वतंत्रता विशेषांक}
93. विजयकुमारी गिरजाकुमार माथुर नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में , पृ: 88.
94. डा. नगेन्द्र , आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि , {भूमिका} पृ: 30.
95. वही पृ: 29.
96. डा. हरिचरण शर्मा नये प्रतिनिधि कवि , पृ: 318.
97. गिरजाकुमार माथुर धूप के धान पृ: 56.
98. वही मंजीर 90.
99. वही शिलापंख चमकीले पृ: 22-23.
100. त्रिलोचन , कल्पना , अगस्त-सितंबर 1966 , पृ: 56.
101. डा. राजेन्द्र मिश्र , आधुनिक हिन्दी काव्य , पृ: 387-388.
102. त्रिलोचन दिगन्त , पृ: 22.
103. वही धरती पृ: 98.
104. वही पृ: 22.
105. वही सोचसमझकर चलना होगा ।
106. {सं} अजय तिवारी, केदारनाथ अग्रवाल , पृ: 135.
107. केदारनाथ अग्रवाल , लोक और आलोक {भूमिका} , पृ: 4.
108. वही अपूर्वा , पृ: 15.

109. केदारनाथ अग्रवाल , युग की गंगा पृ: 1.

110. उमेश मिश्र , प्रगतिवादी काव्य , पृ: 225.

111. संपत्त ठाकुर हिन्दी की मार्क्सवादी कविता पृ: 222.

112. अजय तिवारी, केदारनाथ अग्रवाल से उद्धृत , पृ: 108.

113. केदारनाथ अग्रवाल फूल नहीं रंग बोलते हैं , पृ: 77-78.

114. केदारनाथ अग्रवाल , युग की गंगा, पृ: 31.

115. शमशेर चुका भी हूँ नहीं मैं , पृ: 5.

116. वही कुछ और कविताएँ पृ: 75.

117. वही ।

118. वही , कुछ कविताएँ पृ: 25.

119. शमशेर दूसरा सप्तक , पृ: 81.

120. वही पृ: 97.

121. वही चुका भी हूँ नहीं मैं , पृ: 84.

122. वही कुछ और कविताएँ पृ: 90.

123. डा. वृजमोहन शर्मा धर्मवीर भारती कनुप्रिया तथा अन्य कृतियाँ पृ: 8 (प्राक्कथन)

124. धर्मवीर भारती प्रगतिवाद एक समीक्षा पृ: 2.

125. संतोषकुमार तिवारी नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर पृ: 219.

126. डा. हरिचरण शर्मा नये प्रतिनिधि कवि , पृ: 241.

127. धर्मवीर भारती सात गीत वर्ष , पृ: 85.

128. वही अन्धा युग , पृ: 93.

129. वही सात गीत वर्ष , पृ: 80.

130. (सं) डा. जगदीश चतुर्वेदी आधुनिक हिन्दी कविता पृ: 152.

131. डा. रामविलास शर्मा नयी कविता और अस्तित्ववाद , पृ: 14-15.

132. डा. राजेन्द्र प्रसाद , तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना पृ: 335.

133. वही पृ: 304.

134. प्रभाकर माचवे , अनुक्षण , पृ: 52-53.

135. वही , नींव , पृ: 28.

136. वही तारसप्तक , पृ: 157.

137. प्रभाकर माचवे , तेल की पकौड़ियाँ , पृ: 42.
138. नेमीचन्द्र जैन , तारसप्तक , पृ: 7.
139. वही , पृ: 12.
140. डा. राजेन्द्र प्रसाद , तारसप्तक के कवियों की समाज-चेतना , पृ: 334.
141. नेमीचन्द्र जैन , एकान्त , पृ: 87.
142. वही पृ: 14.
143. वही तारसप्तक , पृ: 26.
144. वही पृ: 29.
145. भवानी प्रसाद मिश्र , दूसरा सप्तक , पृ: 5.
146. डा. कृष्णदत्त पालीवाल, भवानी प्रसाद मिश्र का रचना संसार पृ: 54.
147. डा. हरिमोहन कालजयी कवि भवानी प्रसाद मिश्र , पृ: 31.
148. वही पृ: 31.
149. रामकमल राय , दस्तावेज़ - 28 , जुलाई 1985 , पृ: 31.
150. भवानीप्रसाद मिश्र , गाँधी पंचशति पृ: 421.
151. वही गीतफरोश , पृ: 29.
152. वही पृ: 166.
153. वही , चकित है दुख , पृ: 80.
154. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 13.
155. अशोक वाजपेयी फिलहाल , पृ: 115.
156. वही , पृ: 15.
157. सुरेन्द्र प्रताप मुक्तिबोध विचारक , कवि और कथाकार , पृ: 5.
158. हरिशंकर परसाई , आलोचना-6 , जुलाई-सितंबर 1968 , पृ: 53.
159. मलयज , पूर्वग्रह , 43 , पृ: 5-6.
160. गंगा प्रसाद विमल - गजानन माधव मुक्तिबोध का रचना संसार पृ: 84.
161. जीवनलाल वर्मा विद्रोही , गजानन माधव मुक्तिबोध {सं} लक्ष्मण दत्त गौतम , पृ: 33.

अध्याय - तीन

मुक्तिबोध की कविता में जीवन-यथार्थ की पहचान

मार्क्सवाद का प्रभाव

सभी दर्शनों का आधारभूत तत्व मानव की जिज्ञासा है । जो दर्शन मानव जीवन से, उसकी समस्याओं से अधिक गहरा संबन्ध रखता है वह मानवता को निरंतर प्रभा करता रहता है । देवेन्द्र इस्सर के अनुसार - "इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य के जीवन इतिहास, राजनीति संस्कृति और साहित्य पर दर्शन का प्रभाव पडता है । यह आवश्यक नहीं है कि दर्शन इनसे संबंधित विषयों पर प्रत्यक्ष रूप से चिन्तन करे । लेकिन एक गंभीर और सुनियोजित दर्शन किसी भी सभ्य राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन में बडा महत्वपूर्ण कार्य करता है । विशेष रूप से वह दर्शन जो मानवीय संबन्धों और समस्याओं से गहरे तौर पर संपृक्त हो । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है क्योंकि दर्शन का संबन्ध मूल्यों और दृष्टिकोण से है । इसलिए मानव संबन्धों और साहित्य पर दर्शन का प्रभाव विज्ञान और तर्कशास्त्र से भी अधिक पडता है ।"[1] अतः सृजनात्मक साहित्य में यदि कोई दार्शनिक विचारधारा की अभिव्यक्ति होती है तो वह स्वाभाविक है । हम देख सकते हैं कि प्रत्येक रचनाकार की रचना-प्रक्रिया में कोई न कोई विचारपद्धति की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है । लेकिन यह हमेशा प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता ही नहीं । रचना के क्षणों में किसी एक दर्शन से प्रेरणा लेना सर्जक के लिए उपयुक्त ही है । क्योंकि कवि अपने काव्य में जीवन और उसकी समस्याओं के साक्षात्कार करने का निरन्तर परिश्रम करता है । इस साक्षात्कार की प्रक्रिया कोरी बौद्धिक प्रक्रिया न होकर जीवन के जटिलतम विचारों और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति की आत्मीय प्रवृत्ति है । इन प्रश्नों को उनके वास्तविक रूप में देखने, परखने और उनका वैज्ञानिक समाधान निकालने की स्वस्थ दृष्टि मिलती है । इस दृष्टि के कारण कवि के सृजन में कोई भटकाव नहीं आता है ।

मुक्तिबोध रचना-प्रक्रिया के पीछे दार्शनिक-पृष्ठभूमि निहित होना अनुचित नहीं मानते थे। वे इसे मान्यता देनेवाले थे। इस की आवश्यकता को स्वीकारते हुए वे लिखते हैं - "कलाकार अपने औचित्य की स्थापना के लिए, आत्मविस्तार के लिए, अपने को उच्चतर स्थिति में उद्बुद्ध करने के लिए, अपना अन्तःसंगम दार्शनिक भावधाराओं से करता है। चूँकि वह कलाकार है, इसलिए वह कला में जीवनचित्र ही प्रस्तुत करता है, न कि दार्शनिक व्याख्या। किन्तु, उसके पास अपना वैचारिक दृष्टिकोण रहता ही है, जो एक मूल्यांकनकर्त्री और नियन्त्रणशील शक्ति के रूप में उसकी कलाकृति के रूप तत्व और तत्वरूप को नियमित करता है।"[2] अतः मुक्तिबोध मानते हैं कि आधुनिक परिस्थिति के कारण सर्जक को अपने साथ किसी न किसी प्रकार का एक वैचारिक दृष्टिकोण रखना अनिवार्य बन गया है। उनके अनुसार विचारों से मुक्त होने का अर्थ ज़माने की गति-विधियों से तटस्थ होना है। नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध" की भूमिका में उन्होंने लिखा है - "मैं मुख्यतः विचारक न होकर केवल कवि हूँ। किन्तु आज का युग ऐसा है कि विभिन्न विषयों पर उसे भी मनोमन्थन करना पड़ता है। अपने काव्य जीवन की यात्रा में मुझे जो चिन्तन करना पड़ा वह विज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।"[3] अतः स्पष्ट है कि मुक्तिबोध कवित्व पर बल देते हुए भी विचार या दर्शन के हिमायती रहे हैं। आगे हम उनके कवित्व की दार्शनिक नींव का विश्लेषण करने की कोशिश करेंगे।

1936 से मुक्तिबोध नियमित रूप से सृजन कार्य में संलग्न थे। उन दिनों छायावादी कविता अपनी चरमावस्था में पहुँच गयी थी। साहित्य जगत् में इसके विरोध में प्रतिक्रिया भी होने लगी थी। उस समय मुक्तिबोध का अपना कोई दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं था। वे प्रकृति के प्रति आकृष्ट थे। इस रोमांटिक प्रकृति को वे मनुष्य का नैसर्गिक गुण मानते भी थे। इस प्रकार तरुण वय की मांग के अनुसार वे भी छायावादी कविता का प्रणयन करने लगे। वे प्रकृति, सौन्दर्य, विरह और मिलन के कवि बन गये और कल्पना-जगत् के यात्री बनकर सुन्दर कल्पनाओं के पंख में उड़ने लगे। लेकिन मुक्तिबोध के द्वारा इस छायावादी विधा की श्रीवृद्धि करने में बहुत कुछ कार्य नहीं हो पाये। उन्होंने केवल छायावाद के महान कवियों का अनुकरण ही किया याने इस काव्य-पद्धति को उसकी पूर्णता और सुन्दरता के साथ अपनाने में वे समर्थ न बने। हॉलांकि उनकी तत्कालीन रचनाओं में छायावादी शिल्प की अभिव्यक्ति तो मिलती है, लेकिन शिल्प-सौकुमार्य नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध की प्रारंभकालीन छायावादी कविताएँ उनकी प्रतिभा को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में सहायक नहीं थीं और उनकी इन छायावादी कविताओं के पीछे कोई विशेष दार्शनिक पृष्ठभूमि भी नहीं है।

<u>बर्गसाँ का प्रभाव</u>

धीरे-धीरे मुक्तिबोध की प्रवृत्ति दर्शन-शास्त्र की ओर होने लगी । वे बर्गसाँ (Bergson) की स्वतन्त्र क्रियमाण शक्ति (elan vital) के दर्शन से प्रभावित हुए । 1938 से 42 तक का समय इस दर्शन से प्रभावित रहे वे । उनकी तत्कालीन परिस्थितियाँ और मानसिकावस्था ने कवि को उसकी ओर आकृष्ट कर दिया । वे "तारसप्तक" के अपने वक्तव्य में लिखते हैं - "1938 से 1942 तक के पांच साल मानसिक संघर्ष और बर्गसौनिय व्यक्तिवाद के वर्ष थे । आन्तरिक विनष्ट शांति के और शारीरिक ध्वंस के इस समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाँति काम करता था । बर्गसाँ की "स्वतन्त्र क्रियमाण शक्ति" (elan vital) के प्रति मेरी आस्था बढ गयी थी ।"[4] बर्गसाँ के दर्शन का आधार विकासवाद है । उनका विकासवाद यान्त्रिक या नीरस नहीं है । इसके पहले के विकासवादियों के दर्शन में प्रकृति की प्रमुखता थी । चेतना या जीवन शक्ति के प्रति बिलकुल उपेक्षा की दृष्टि रही । बर्गसाँ केलिए जीवन-शक्ति की एकदम उपेक्षा करके प्रकृति को महत्व देना पूर्णरूप से मान्य नहीं था । वे मानते हैं कि वातावरण की अनुकूलता ही विकासवाद का आधार होती है तो जीवन का विकास बहुत पहले ही खत्म हो जाता । लेकिन हम देखते हैं वातावरण अनुकूल न होने पर भी विकास की प्रक्रिय निरंतर चलती रहती है । मानव के इतिहास को देखने पर मालूम होता है कि जीवन जटिल से जटिलतर होता जा रहा है । फिर भी सारे खतरों के बीच भी जीवन गति अबाध रूप से विकसित हो रही है । बर्गसाँ की मान्यता है जीवन की गति को निरंतरता देनेवाली कोई महान शक्ति होती है जो उसे आगे चलाती है । इस शक्ति को वे "elan vital" (व्यक्ति का स्वतन्त्र क्रियमाण शक्ति) का नाम देते है ।[5]

बर्गसाँ के अनुसार हम निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं । एक परिवर्तन के बाद दूसरा परिवर्तन होता रहता है । संसार के सारे भाव, विचार और इच्छा निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं । इसप्रकार संसार ही परिवर्तन प्रक्रिया का दूसरा नाम बन जाता है । बर्गसाँ के अनुसार मनुष्य व्यक्तित्व (individuality) में लगा रहता है । लेकिन वह कभी-भी-पूर्ण नहीं हो जाता है । पूर्णता का अर्थ स्थिरता है । लेकिन संसार में परिवर्तन निरंतर होने से व्यक्तित्व की पूर्णता असंभव हो जाती है । बर्गसाँ के मन में यह संसार एक अनवरत प्रवाह है और विकासवाद इस प्रवाह की गति ।[6]

छायावादोत्तर काल में बर्गसाँ के व्यक्तिवाद से आकर्षित हुए । इसके अध्ययन से उनके व्यक्तित्व में तत्कालीन परिस्थितियों से संघर्ष करने का विश्वास और शक्ति मिले । "तारसप्तक" की कविताओं में बर्गसाँ की जीवन-शक्ति का स्पष्ट प्रभाव मिलता है । जैसे कि हम देख चुके हैं इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति ही सबकुछ है । समाज उसके सामने नगण्य है । मुक्तिबोध जानते थे कि व्यक्तिवादी तत्व की प्रमुखता के कारण अपनी कविता व्यक्ति की संकुचित सीमा में सीमित हो गयी है । फिर इस संकुचित सीमा से वे मुक्त होने की चेष्टा करने लगे । और अपने समाजबोध को प्रखर बनाने योग्य एक दार्शनिक आधार की खोज करने लगे ।

मार्क्सवाद की ओर झुकाव

मुक्तिबोध मध्यवर्गी हैं । उनको समाज के दलित और पीडित वर्गों के संघर्षमय जीवन का सच्चा परिचय है जिसे उन्होंने स्वयं भोगा था । इसलिए उन्होंने इन वर्गों की जीवन - समस्याओं का वैज्ञानिक विश्लेषण और वैज्ञानिक समाधान खोजने की कोशिश लगातार की थी । एक अनुयोज्य दार्शनिक पद्धति की खोज में लगातार लगे रहे थे वे । उन्होंने गांधीवाद, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद का अध्ययन और मनन किया । गांधीवाद के संबन्ध में उनका मत है - "असल में यह गाँधीवादी प्रवृत्ति प्रश्न, विश्लेषण और निष्कर्ष की बौद्धिक क्रियाओं का अनादर करती है ।"[7] मुक्तिबोध ऐसी जीवन-दृष्टि को महत्व देते थे जो व्यक्ति को कृत्रिम बौद्धिकता के बोझ से स्वतन्त्र बनाये । उसमें मनुष्य की संवेदना-क्षमता में अवरोध डालने की शक्ति न हो । इन दृष्टियों में मार्क्सवाद उन्हें अधिक संपन्न दृष्टिकोण महसूस हुआ था । उनके ही शब्दों में - "मार्क्सवाद मनुष्य की अनुभूति को ज्ञानात्मक प्रकाश प्रदान करता है । वह उसकी अनुभूति को बाधित नहीं करता वरन् बोधयुक्त करते हुए उसे अधिक परिष्कृत और उच्चतर स्थिति में ला देता है । संक्षेप में मार्क्सवाद का मनुष्य की संवेदन - क्षमता से कोई विरोध नहीं है, न हो सकता है

स्वाभाविक रूप से मुक्तिबोध मार्क्सवाद से आकृष्ट हुए । इसमें नेमीचन्द्र जैन का प्रभाव बडी मात्रा में है । नेमीचन्द्र जैन कट्टर मार्क्सवादी थे । शुजालपुर में मुक्तिबोध नेमीचन्द्र जैन के संपर्क में आये । नेमीचन्द्र के आने के पहले वहाँ के शारदा शिक्षा सदन में गांधीवाद और बर्गसाँ की विचारधारा को प्रमुखता रही । लेकिन नेमीचन्द्र के आगमन से उनका स्थान मार्क्सवाद ने ले लिया । नेमीचन्द्र और मुक्तिबोध की घनिष्ठता बढने के साथ मुक्तिबोध के मन में मार्क्सवाद का पूर्ण परिचय प्राप्त करने की इच्छा भी बढ गयी । इस प्रकार अपने पथ की खोज करनेवाले मुक्तिबोध को अनुयोज्य जीवन-दृष्टि

मार्क्सवाद में मिली । उन्होंने लिखा है - "सन् 1942 के प्रथम और अन्तिम चरण में मैं एक ऐसी विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुतकुछ सीखना था । यहाँ लगभग साल में मैं ने पाँच साल का पुराना जड़त्व निकालने की सफल-असफल कोशिश की । इस उद्योग के लिए प्रेरणा, विवेक और शांति मैं ने एक ऐसी जगह से पायी, जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था ।

क्रमश मेरा झुकाव मर्क्सवाद की ओर हुआ । अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ ।"[9]

नेमीचन्द्र जैन की प्रेरणा के अतिरिक्त तत्कालीन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्री साहित्यिक, सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ भी उनके मार्क्सवाद की रुझान में सहायक बनीं । रूसी क्रांति की सफलता सारी पीडित-शोषित जनता के लिए नयी आशा और अभिलाषाओं का कारण बन गयी । दुनिया का बुद्धिजीवी वर्ग मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित हो गया जिसके अनुसार दुनिया का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन ही है । उसका उपभोग हमारा धर्म है, अन्य किसी काल्पनिक सुख को खोज करना जीवन से पलायन है । इस भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था समाज है और वह अर्थ पर आधारित है ।[10] मार्क्सवादी दृष्टि के मुताबिक व्यक्ति के बदले समाज के सुख और दुख ही अधिक मूल्यवान होते हैं । इससे प्रेरित होकर साहित्य जगत् में भी व्यक्ति के स्थान पर समाज की प्रतिष्ठा होने लगी । अतः धीरे-धीरे साहित्य में समाज के वास्तविक चित्रण की मांग हुई । जो रचनाकार मार्क्सवाद से प्रभावित हो गये वे जान गये कि कल्पन जगत् में विचरण करने से मानव को, समाज की विषम परिस्थितियों और समस्याओं की पहचान नहीं मिलती । इसप्रकार कवि जीवन जगत् की समस्याओं के चित्रण करके साहित्य में उनके हल के लिए क्रांतिकारी विचारों की अभिव्यक्ति करने लगे । सारे संसार के साहित्यकारों का स्वर प्रगतिशील होने लगा । इसके फलस्वरूप "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना 1935 में लंदन में हुई और उसी वर्ष में ही पारीस में प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन हुआ । उसके सभापति थे प्रसिद्ध उपन्यासकार ई॰ एम॰ फार्स्टर । इससे प्रेरित होकर भारत में भी साहित्यकारों के द्वारा 1936 में लखनाऊ में "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना हुई जिसके अध्यक्ष थे मुंशी प्रेमचन्द । अतः रूसी क्रांति की सफलता साहित्यिक दुनिया में नयी प्रेरणा बन गयी । सारे संसार के कवि और साहित्यकार रूसी क्रांति की प्रशंसा करते हुए रचनाएँ करने लगे । मुक्तिबोध भी इससे अछूते नहीं रह सके । बंबई में हुई भारत-सोवियत मैत्री संघ की पहली कांग्रेस (4 जून 1944) के अवसर पर लिखी कविता

में मुक्तिबोध रूसी जनता की सफलता का यशो गान गाते हैं "लाल-सलाम" नामक कविता में -

> अरे आज काले सागर के, बोलगा के उस पार / जो प्रकाश के दरिया का लहर उठा है ज्वार/उससे वक्ष हुआ जन-जन का उत्साहित अनिवार / मानो नया सत्य आया दुनिया में पहली बार । / मानव-समता की संस्कृति नफीरी आज / अरे वहाँ से जिसके कहते मज़दूरों का राज । / लाल सोवियत देश कि नूतन मानव की वह आग / दुनिया के मज़लूमों का वह जलता एक चिराग ।[11]

मुक्तिबोध बनारस में 1945-46 में लगभग साल भर रहे थे । वहाँ कम्यूनिस्ट पार्टी के कार्यालय वे रोज़ जाते थे, बैठकों में शरीक होते थे और लेखकों के सम्मेलन में भी वे बुलाए जाने पर जाया करते थे । वे कम्यूनिस्ट पार्टी के राजनीतिक संगठन के भी सदस्य थे । पार्टी कार्यालय में सैद्धांतिक, राष्ट्रीय आदि समस्याओं पर जब विचार-विमर्श चलता था, वे बराबर उपस्थिति रहते थे ।[12]

भारत के तत्कालीन वातावरण भी कवियों को किसी ऐसे महान दृष्टि की खोज केलिए विवश करानेवाला था जिसमें युगीन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं से निबटने की शक्ति निहित हो । डा. शिवकुमार मिश्र इन विषम परिस्थिति की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं - "सन् 1936 के आसपास फैलनेवाला समाजवादी प्रभाव, दूसरा महायुद्ध, उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न आर्थिक राजनीतिक संकट, महगाई, बेकारी, सन् 1942 की क्रांति उसका दमन, मज़दूरों की ऐतिहासिक हडतालें, किसानों के जागृत अभियान और सबसे बढकर बंगाल का अकाल - आदि वे कारण हैं जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी गति देकर, उसे अधिक सचेष्टता से मात्र राजनीतिक ही नहीं आर्थिक स्वाधीनता के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्नशील होने को बाध्य किया । उन्होंने हमारे साहित्यकारों को भी एक ऐसे पथ की ओर अग्रसर होने को प्रेरित किया, जिसपर चलकर वे अपने साहित्य को इन युगीन परिस्थितियों का प्रतिबिंब बनाते हुए, जन मानस की आशाओं - आकांक्षाओं को मूर्त रूप दे सके तथा समाज की प्रगति में साहित्य को एक अनिवार्य अस्त्र तथा माध्यम के रूप में प्रस्तुत कर सकें ।"[13]

जैसे कि हम देख चुके हैं कि अपने अध्ययन, नेमीचन्द्र की प्रेरणा और परिवेश के फलस्वरूप बाद में उनकी दृष्टि मार्क्सवादी हो गयी और उनकी संवेदना व्यापक आयाम पा सकी । उनके लिए दार्शनिक दृष्टि जीवन की पहचान का माध्यम थी ।

उनका लक्ष्य दार्शनिक विचारधारा की सहायता से अपने व्यक्तित्व के आसपास घूमनेवाली कविता को समाज और मानवता के विशाल और स्वस्थ धरातल तक उभारना था । उनके लिए दरअसल मार्क्सवाद परिस्थितियों के प्रताडन से तहस-नहस हुई मानवता को प्रेरणा देनेवाली विचारधारा था । यों सहज ही मुक्तिबोध को यह दर्शन स्वीकार्य भी हुआ ।

मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्विरोधों का जो चित्रण किया है उसका आधार वाकई मार्क्सवादी दर्शन है । इस दर्शन के मुताबिक ही उन्होंने व्यवस्था को नये सिरे से सृजन करने का आग्रह प्रकट किया है । लेकिन उनकी दृष्टि दकियानूसी मार्क्सवाद के बजाय विकासशील मार्क्सवाद पर टिकी है जैसे डा. वीरेन्द्र सिंह सूचित करते हैं - "मार्क्स ने जगत् को समझने के साथ-साथ उसे परिवर्तित करने की एक दृष्टि अवश्य दी जो पूंजीवादी व्यवस्था की विसंगतियों से उत्पन्न थी । मार्क्स का क्रांति दर्शन इसी विचारणा पर आधारित है । उसने उसे ही सर्वहारा कहा जो क्रांति कर सकता है । मुक्तिबोध ने मार्क्स की द्वन्द्वात्मक अवधारणा को अवश्य मान्यता दी है और उसे जन संघर्ष के रूप में स्वीकार किया है, मात्र उसे सर्वहारा तक सीमित नहीं किया है । शोषण जहाँ और जिस रूप में है, मुक्तिबोध ने उसके खिलाफ अपनी रचनात्मकता को गतिशील किया है ।"[14]

मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष को प्रश्रय देता है । जैसे कि मार्क्स ने कहा है कि समाज के अब तक का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है । इसलिए मार्क्सवादियों की दृष्टि में वही साहित्य सच्चा साहित्य है जो वर्ग संघर्ष को प्रश्रय देता है । मुक्तिबोध अवश्य वर्ग-चेतना के कवि हैं । उनके काव्य में विरोधी वर्गों के आपसी संघर्ष की अभि-व्यक्ति भी हुई है । मार्क्सवाद की सहायता से ही उन्हें समाज की प्रत्येक गतिविधि की सहज पहचान की दृष्टि मिली थी । लेकिन मुक्तिबोध की वर्गीय-चेतना की भी अपनी विशेषता है । उसे पूर्ण रूप से आयातित मानना युक्तिसंगत नहीं है । मुक्तिबोध में भारतीय संस्कृति और परंपरा का नितांत निराकरण नहीं है । डा. वीरेन्द्रसिंह के अनुसा "वर्ग-चेतना से उत्पन्न वर्ग संघर्ष को जो भी रूप कवि में प्राप्त होता है वह सामान्य रूप से सारे भारतीय समाज तथा अन्य विदेशी समाजों को भी अपने अन्दर समेटता है ।"[15]

मुक्तिबोध की कविताओं में अभिव्यक्त क्रांति की सूचना अवश्य मार्क्सवाद से प्रेरित है । वे जानते हैं कि असमत्व, अनीति, अत्याचार, शोषण और उत्पीडन से भरी हुई परिस्थितियों से मानव की मुक्ति स्वाभाविक रूप से नहीं हो जाएगी । ऐसा होत

तो मानव का इतिहास बिलकुल भिन्न होता । कितने महान आदर्शों का जन्म और नाश हुआ लेकिन मानव की मुक्ति की बात शेष रह गयी । इसलिए मुक्तिबोध सर्वहारा वर्ग की क्रांति में जनता की मुक्ति की आस्था रखते हैं । यह आस्था मार्क्सवाद की देन है । डा. आलोक गुप्त ने मुक्तिबोध की कविता की केन्द्रीय संवेदना का संकेत करते हुए लिखा है - "मनुष्य को अधिक से अधिक आत्मसजग और कार्यक्षम बनाना । जडता और भीरुता को उत्तरोत्तर छोडते हुए मनुष्य को संघर्षमय बनाना । इस केन्द्रीय संवेदना को प्रबलता मार्क्सवादी दर्शन से मिली है ।"[16]

अतः हम देख सकते हैं कि मुक्तिबोध अपनी रचनाओं को सार्थक निष्कर्षों तक पहुँचाने के लिए मार्क्सवाद से प्रेरणा स्वीकार कर लेते हैं । लेकिन उनका कथ्य पूर्णतः भारतीय है । वह बिलकुल भारतीय परिस्थितियों में संघर्ष करके जीवन बितानेवाले दलित-पीडित जनता पर केन्द्रित है । उनकी यही मान्यता है कि कविता के अन्तर्जगत् में समाहि जीवनानुभवों को अभिव्यक्ति में सघनता लाने केलिए विदेशी प्रेरणा स्वीकार्य है लेकिन शर्त यह है कि वस्तुतत्व विदेशी प्रेरणा का उत्पन्न न होकर अपने परिवेश और संस्कृति का पैदावार हो ।[17] अतः उनके काव्य में प्रयुक्त दार्शनिक दृष्टि को एकदम विदेशी नहीं कह सकते । मार्क्सवादी सिद्धांत का अपने देश-काल के अनुसार आत्मसात करना ही उनका लक्ष्य था । इसका अर्थ उनके काव्य में अभिव्यक्त मार्क्सवाद का तिरस्कार करना नहीं है । बल्कि उसके प्रति उनकी मौलिक दृष्टि को स्पष्ट कर देना है । यह मौलिकता उन्हें प्रगतिशील कविता के क्षेत्र में एक अलग व्यक्तित्व के अधिकारी भी बना देती है । डा. शशि शर्मा का कथन है - "भारतीय संदर्भों में उन्होंने मार्क्सवादी पीडा को भोगा - शोषित-जन की द्वन्द्वपूर्ण अनुभूति उनके संपूर्ण व्यक्तित्व से "इन्वाल्व्ड" थी - उत्पीडित व अन्यायग्रस्त भूखी-बिलखती जनता की चीत्कार मुक्तिबोध के "ड्राइंग रूम" का विषय नहीं थी - एक संघर्षशील भुक्तभोगी की हैसियत से उन्होंने उस यथार्थ को अनुभूत किया था और उसपर उनका प्रातिभिक व्यक्तित्व । इसलिए उन्हें शोषण के दोहरे पक्ष (शारीरिक व बौद्धिक) को व्यक्त करने का आधार मिला सिद्धांत और संवेदना के जुडाव के फलस्वरूप उन्होंने अपने रचनात्मक चिन्तन को भी भारतीय संस्कृति के संदर्भ में सामाजिक संपृक्ति की अपरिहार्य स्थिति से समन्वित किया ।"[18] याने कवि को भारतीय समाज की निम्न श्रेणी के पीडित-शोषित मानव की स्थिति का सीधा अनुभव है । वे अपने काव्य में उस संघर्षरत मानव को स्वर देते हैं । इनकी अनुभूतियों के पीछे जनसंपर्क की

पृष्ठभूमि है । मुक्तिबोध के ही शब्दों में - "आखिर मैं अनुभवों को कैसे झुठलाए उनके बिना ज्ञान तो असंभव है । इन्हीं अनुभवों के द्वारा मुझे दुनिया की पहचान होती है ।"[1] अत: मार्क्सवाद मुक्तिबोध के लिए एक बैसाखी नहीं था, बल्कि उनके काव्य और व्यक्तित्व का आस्था-स्तंभ था ।[20] इसलिए ही मुक्तिबोध की कविताओं में अभिव्यक्त मार्क्सवादी दर्शन की मौलिकता उन्हें प्रगतिवाद के तथाकथित महारथों से भिन्न बनाती है ।

असल में उनके पूर्ववर्ती और समकालीन प्रगतिवादियों के लिए कविता राजनीति के प्रचार का साधन थी । इसलिए उनकी कविताओं में नारेबाजी की प्रमुखता थी । ये लोग जीवन को उर्वर भूमि से और उसके यथार्थ से अलग होकर मार्क्सवादी सिद्धांत का सिर्फ अनुकरण करते हुए नकली संवेदना प्रकट करते थे । इसके अतिरिक्त उनमें गहन अध्ययन का अभाव था । मुक्तिबोध के अनुसार - "हम यह कर देंगे, वह कर देंगे, दुनिया के तख्ते को पलट देंगे वाले कवि महान् राजनैतिक भावनाओं के वस्तुपरक, वस्तु सत्यात्मक, यथार्थ चित्रण से अछूते रहे हैं, जो राजनैतिक जीवन के राजनैतिक संघर्ष में प्राप्त अप्रतिम हृदय विस्तार के रूप में वास्तविक जीवन में हमें प्राप्त होती है । खेद है कि मानवमुक्ति की राजनीति की महान मनुष्यता का विश्वदर्शी काव्य हिन्दी में नहीं आ सका है ।"[21] मुक्तिबोध अन्य प्रगतिवादियों से अलग होकर राजनीति को कविता में लाने की कोशिश करते हैं । डा. रमेश शर्मा का कथन इसको और अधिक स्पष्टता लाता है - "...किन्तु मुक्तिबोध और उनके पूर्ववर्ती प्रगतिवादियों के बीच बहुत बड़ा अन्तर है, जबकि प्रगतिशील कवि, कविता में राजनीति ला रहे थे, मुक्तिबोध राजनीति को कविता में बनाना चाहते थे । मुक्तिबोध कविता में जिन मानव सिद्धांतों का प्रतिपादन कर रहे थे उन्हें कविता के बाहर कभी मानवतावाद और साम्यवाद या मार्क्सवाद भी कहा जाता है । यहाँ यह आशय नहीं कि मुक्तिबोध अपनी कविता की विचारधारा के प्रति चैतन्य नहीं थे, उन्होंने जो भी लिखा है वह बहुत लंबे सोच-विचार के बाद लिखा है और जल्दबाजी की कमज़ोरि उनमें नहीं है, किन्तु उनका मार्क्सवाद "डास कैपिटल" का तर्जुमा नहीं है वरन् भारतीय जलवायु के अन्तर्गत एक भारतीय परंपरा से जुड़े हुए विद्रोही कवि की अपनी एकांतिक मार्क्सीय व्याख्या है ।"[22]

इसप्रकार मुक्तिबोध हिन्दी काव्य-जगत् में एक नयी धारा के प्रवर्तक बन जाते हैं । वे स्थापित करते हैं कि दार्शनिक विचारधारा संवेदन-क्षमता को किसी प्रकार की बाधा नहीं डालती । इसके साथ अन्य साहित्यकारों द्वारा विदेशी और केवल

राजनीति घोषित करके उपेक्षित मार्क्सवाद को उन्होंने अपनी कविताओं में एक नया रूप और भाव दिया जो बिलकुल हमारी संस्कृति के अनुकूल होता है । इसप्रकार मुक्तिबोध मार्क्सवाद के संबन्ध में डा. रांगेय राघव के कथन को सार्थक प्रामाणित करते हैं - "जबकि मार्क्सवाद केवल राजनीति नहीं है, वह जीवन मूल्यों का नया निर्धारण है जो व्यक्ति, समाज और संस्कृति के मूल प्रश्नों को उठाता है और उनमें द्वन्द्व नहीं समन्वय स्थापित करना चाहता है ।"[23]

छायावाद से यथार्थवाद की ओर मुक्तिबोध की कविता का ऊर्ध्वगमन

सन् 1935 के आसपास ही मुक्तिबोध की सर्जना सक्रिय होने लगी थी । वह दरअसल छायावाद और प्रगतिवाद का संधिकाल रहा था । इसलिए उनकी कविताओं में छायावादी सौन्दर्य दृष्टि के साथ प्रगतिवादी यथार्थ दृष्टि भी विद्यमान है । इतना ही नहीं इन दोनों का द्वन्द्व भी स्पष्ट दिखाई देता है । इसकी सूचना मुक्तिबोध ने खुद दी है - "उन दिनों भी एक मानसिक संघर्ष था । तालस्ताय के मानवीय समस्या संबन्धी उपन्यास या महादेवी वर्मा' समय का प्रभाव कहिए या वय की मांग या दोनों, मैं ने हिन्दी के सौन्दर्य लोक को ही अपना क्षेत्र चुना और मन की दूसरी मांग वैसे ही पीछे रह गयी जैसे अपने आत्मीय राह में पीछे रहकर भी साथ चले चलते हैं "[24] मुक्तिबोध की 1935 से 48 तक की रचनाओं के भाव, भाषा और शैली मुख्यतः छायावादी रही है । उनकी आयु के अनुसार इसप्रकार होना स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक लगता है ।

मुक्तिबोध के द्वारा छायावाद से प्रेरणा लेने के दो ही कारण हो सकते है- मध्यप्रदेश का तत्कालीन वातावरण, दूसरा उनकी रोमांटिक प्रकृति । 1936 में लखनाउ में प्रेमचन्दजी की अध्यक्षता में "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना हुई थी । उत्तर भारत के अधिकांश प्रेदशों के साहित्य इससे प्रेरणा प्राप्त करने लगे । लेकिन मध्यप्रदेश के साहित्य में इसका बहुत कम असर हुआ । वहाँ के प्रमुख साहित्य नायक छायावाद के वक्ता थे जिन्में प्रमुख थे माखनलाल चतुर्वेदी और श्री रमाशंकर शुक्ल "हृदय" । इसके अतिरिक्त पाठशालाओं में बडी चाव से छायावादी रचनाओं का अध्ययन हो रहा था । कविता-रचना में रमाशंकर शुक्ल "हृदय" से मुक्तिबोध को काफी प्रेरणा मिलती रही । मुक्तिबोध इंटरमीडि में पढते समय उसकी प्रथम कविता प्रकाश में आयी । यह रमाशंकर शुक्ल हृदय के द्वारा प्रकाशित की गयी थी । स्वाभाविक रूप से मुक्तिबोध उनसे प्रभावित हुए ।

मुक्तिबोध स्वभाव से रोमांटिक भाव के व्यक्ति रहे थे। ऐसे कल्पना-प्रवण व्यक्ति के लिए छायावादी प्रेरणा से प्रेरित होना और जीवन का सुखद व कमनीय रूप ही अभीष्ट होना स्वाभाविक है। उन्होंने अपनी डायरी में एक स्थान पर लिखा है - "मैं रोमांस प्रिय हूँ। मैं बचपन से ही रोमांटिक हूँ। मैं आज की अपेक्षा अधिक कल्पना प्रिय था।"[25] जिन्दगी स्वयं उनके लिए रोमांस थी। उनके अनुसार जीवन में रोमांस है तो सबकुछ हितकर प्रतीत हो जाएगा। रोमांस जिन्दगी को पूर्ण बनानेवाली चीज़ है।[26]

इस रोमांटिक प्रकृति की वजह मुक्तिबोध प्रकृति सौन्दर्य और प्रेम के प्रति आकृष्ट हो गये। उज्जैन और मालवा के प्रकृति सौन्दर्य ने उनको सौन्दर्य की नयी दुनिया में प्रतिष्ठित किया। सचमुच मालवा की प्रकृति रमणीयता ने उनकी सौन्दर्य चेतना को स्वच्छ भूमिका प्रदान की। उन्होंने स्वयं स्वीकारा है - "मालवे के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त भव्य साँझें और विविध रूप, वृक्षों की छायाएँ मेरे किशोर कवि की आद्य सौन्दर्य प्रेरणाएँ थीं। उज्जैन नगर के बाहर का वह विस्तीर्ण निसर्ग-लोक उस व्यक्ति के लिए जिसकी मनोरचना में रंगीन आवेग ही प्राथमिक है, अत्यंत आत्मीय था।"[27] अतः मुक्तिबोध का प्रारंभिक काल में छायावाद की ओर आकृष्ट होना, एक स्वाभाविक प्रक्रिया रही थी।

मुक्तिबोध की दूर तारा पूर्णतः एक छायावादी कविता है। कवि ने अन्य छायावादी कवियों के समान ही अपने बाह्य और आभ्यंतर में छाये हुए अकेलेपन को तारे में आरोपित करते हैं। कवि तारे की गति में उदय और अस्तमय की अनुभूति प्राप्त करते हैं -

> तीव्र - गति / अति दूर तारा / वह हमारा / शून्य के विस्तार नीले में चला है।
> और नीचे लोग / उसको देखते हैं, नापते हैं गति, उदय और अस्त का इतिहास।[28]

यह तो सर्वविदित है कि छायावादी कवियों की रचनाओं में अनन्त परमात्मा की रहस्यानुभूति मुखरित है। आत्मा, परमात्मा के प्रति प्रेम के कारण उसमें विलीन होने की ललक से तड़प रही है। मुक्तिबोध की "तू और मैं" में यह रहस्यानूभूति स्पष्ट दिखाई देती है -

मैं बना उन्माद री सखि, तू तरल अवसाद / प्रेम-पारावार पीडा, तू सुनहली याद
तैल तू तो दीप मैं हूँ, सजग मेरे प्राण ! / रजनी में जीवन-चिता औ" प्रात में
निर्वाण ।[29]

जैसे कि सूचित किया गया कि मुक्तिबोध स्वभाव से रोमांटिक थे । इसलिए उनकी कविता में भी कल्पना प्रियता, प्रकृति के प्रति आकर्षण, वेदना की अनुभूति आदि स्पष्टतः विद्यमान है । उन्होंने अपने को "वेदना का कवि" और "कल्पना का मृदु चितेरा" घोषित किया था । कवि अश्रुओं में प्रियतमा का प्रतिबिंब देखते हैं । वे स्मृति के कांटों को नये फूलों में परिवर्तित करना भी चाहते हैं -

वेदना का कवि बनूँ मैं, कल्पना का मृदु चितेरा / प्राण मेरे अश्रु बनकर प्रिय उषा को
देखते हैं /   / किन पदों की लालिमा से आज शोभन दुख-सबेरा
प्राण वे कब जानते थे अश्रु में प्रतिबिंब उनका'[30]

तरुण, भावुक मुक्तिबोध कभी सौन्दर्य और प्रेम में मुग्ध होकर स्वस्थ भाव से रचना करते थे । ऐसी रचनाओं में प्यार की प्यास, तडप और बेचैनी चित्रित है । प्रणयानुभूति और वेदनानुभूति में तल्लीन होकर वे गाते हैं -

कौन मदिरा माँगता हूँ' यह हृदय की प्यास आली ।
और यौवन के खिले अरमान हैं, मधुमास आली ।।
या तो ज्वाला ही लगा दो, और तिनके जल उठेंगे ।
किन्तु प्यासे इन दृगों को हैं बडा विश्वास आली ।[31]

मुक्तिबोध की प्रारंभिक रचनाओं में नारी सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन भी मौजूद है । छायावादी कवि तो अवश्य नारी सौन्दर्य के अनश्वर गायक रहे थे । नारी सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी है । प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में प्रेयसी की छवि ढूँढना छायावादियों की विशेषता है । प्रसाद और पंत नारी की रूपमाधुरी में मुग्ध हुए थे । मुक्तिबोध ने भी इसी परंपरा का अनुसरण किया है । प्रकृति में सर्वत्र अपनी प्रेयसी की सुन्दर मूर्ति देखकर वे आत्मविभोर हो जाते हैं -

तुम कुहर-विपिन में छिपी रही / कोमल पातों पर पारिजात /
इस स्निग्ध मध्य रजनी में / प्रिय-स्मृति ले आया है सुरभि वात
/ तुम क्षितिज बनी तारक बन बैठी /
चन्द्र बनी आकाश बनी / मैं तिमिर बना पदचाप बनी तुम /
सूने गृह की वातास बनी / घन के हिम सित शिखरों से /
अरुण न हो उद्धत विलोक / मेरे उमर में काँपेगा फिर /
स्मृति कुसुमित यह तिमिर लोक ।[32]

अन्य छायावादी कवियों के मुताबिक मुक्तिबोध में भी कल्पना लोक में विचरण करने की भावना प्रबल है । वह एकान्त में अपनी प्रेयसी के कानों में प्रेम की कथा गुनगुना ही नहीं भ्रमर बनकर पुष्पों में जा बैठना भी चाहता है -

तरुणि, तेरे पास आया इन कणों का भार लेकर
बादलों के पार होने इन्द्रधनु का प्यार लेकर
मरण आकर्षण बना री सुमुखि ! प्रिय के रूप - मधु - सा
आज जीवन स्खलित होता प्रिय मधुर मधुसार लेकर ।।[33]

मुक्तिबोध की प्रारंभिक रचनाओं में दुख को ओर सहज झुकाव भी द्रष्टव्य है । उनपर महादेवी का स्पष्ट प्रभाव पडा है जिसका उन्होंने तारसप्तक के वक्तव्य में स्वीकार किया है ।[34] महादेवी की कविताओं की करुणा और वेदना का जैसा भाव मुक्तिबोध में अवश्य परिलक्षित है । जैसे कि डा. जनक शर्मा ने सूचित किया है - "ऐसा प्रतीत होता है कि अपने आरंभिक रचनाकाल में मुक्तिबोध को महादेवी और पंत जी विशे प्रिय रहे हैं । संभव है कि उन दिनों की मनःस्थिति के महादेवी अधिक अनुकूल रही हों, उनका वेदनाभाव कवि के मन को समीप से छू सका हो । यही कारण है कि मुक्तिबोध क कविताओं में महादेवी की भाव, भाषा, शैली का अधिक अनुकरण हुआ है ।"[35] देखिए -

मेरे पथ के दीपक पावन / मेरा अन्तर आलोकित कर / अन्तहीन पथ के साथी
नभ के ये अगणित तारागण / अन्तहीन दुख का साथी है / स्नेहशील शशि का नवयौव
मेरे पथ के दीपक पावन जल-जल उठते मादकदम क्षण / किन्तु न रहते साथ सदा तुम
मैं एकाकी, ~~तुम एकाकी~~, / से मिलकर पाता दुख का तम ।[36]

"मरण-रमणी" कविता में मुक्तिबोध ने मृत्यु को सुन्दरी नारी के रूप में चित्रित किया है । छायावादियों के समान मृत्यु के प्रति यह आकर्षण उपर्युक्त कविता में उपलब्ध है । यह जीवन दुखमय होने के कारण नहीं है । मुक्तिबोध का विश्वास है मरण-रमणी हमारी आशाओं को पूर्ण करनेवाली है । इसलिए ही उन्होंने मृत्यु को "प्रेयसी", "ममतापरी", "सखी", "आली" आदि कहा है ।[37]

तरुणि मेरा मुख ढँके स्नेहाल तेरे बाल काले
मृदुल कर का स्पर्श कम्पित आज मेरी प्यास पा ले
मैं उठूँ सखि तरुणता-सा, तू बिठा सखि, वासनामयि,
ऊष्ण कर चिर-शीत कर दें मधुर तेरे गाल बालें ।[38]

मुक्तिबोध पर छायावादी परंपरा का प्रभाव अधिक समय तक नहीं रहा । जिस समय मुक्तिबोध की सृजन-प्रक्रिया तीव्रतर होने लगी थी तब तक छायावाद का पतन भी शुरू हो गया था । उस काव्य-विधा के विरोध में आवाज़ उठने लगी । युग की माँग थी कि कविता जीवन के झुलसते अनुभवों से संबन्धित रहे । इसके अलावा युगीन परिवेश के अनुकूल मार्क्सवाद ज़ोर पकड रहा था । इस दर्शन के आधारतत्व - जगत् का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन है - को साहित्यकारों ने भी आत्मसात किया । इस प्रकार कवियों की दृष्टि व्यक्ति से हटकर समाज की ओर उन्मुख हो गयी । "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना से यह दृष्टिकोण प्रखर एवं व्यापक हो गया ।

परिवेश के प्रेरणा स्वरूप मुक्तिबोध जान पाये थे कि छायावादी परंपरा के बहिष्कार से ही कविता जन-मन में प्रतिष्ठित हो सकती है । इसके लिए यथार्थ की स्थापना की भी आवश्यकता है । इसलिए मुक्तिबोध ने अनुभव को ज्यादा मान्यता दी । इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने कल्पना को पूर्णतः अस्वीकार किया । वे जानते थे कि कल्पना पर आधारित रचना में जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति असंभव है । "छायावादी कवि अनुभूति पर बल देते थे और मुक्तिबोध अनुभव को ।"[39] उनमें भावुकता और कल्पना प्रिय अवश्य है । लेकिन उनकी दृष्टि अधिक सामाजिक थी । "मुक्तिबोध की भाव-भूमि में रोमांटिक भाव उनके भावुक, कल्पनाशील स्वभाव का परिचायक है, जबकि कवि की दृष्टि पूर्णतः समाजवादी रही है ।"[40]

धीरे-धीरे मुक्तिबोध के काव्य का स्वर बदलने लगा । "तारसप्तक" तक आते आते यह परिवर्तन अत्यंत स्पष्ट हुआ । इसमें संकलित रचनाओं में रचना-प्रक्रिया की सही पहचान और विकास स्पष्ट होता है । उनकी परवर्ती रचनाओं में रोमांटिक और छायावादी कुछ तत्व शेषित होने पर भी रचना-प्रक्रिया में भिन्नता स्पष्ट झलकती है । उनकी दृष्टि "नर की बस्ती" की वास्तविकता की ओर अवश्य उन्मुख हुई है । "मृत्यु और कवि" नामक कविता इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है । इसमें कवि ने जीवन की वास्तविकता और करुण स्थिति का वर्णन करते हुए कहा कि "मानव जीवन क्षण भंगुर" है । लेकिन इस क्षणभंगुरता से आतुर होकर फिर महान जीवन के संबन्ध में बखान करते हैं । कवि के अनुसार क्षणभर के दुख के कारण चंचल और दुखी होना श्रेयस्कर नहीं है । कवि की दृष्टि आशावादी रही है, इसलिए वे मरणगीत को सृजनशीलता के स्वर में गाते हैं -

सृजनशील जीवन के स्वर में गाओ मरण-गीत तुम सुन्दर ।
तुम कवि हो, ये फैल चले मृदुगीत निबल मानव के घर घर
ज्योतित हों मुख नव आशा से, जीवन की गति, जीवन का स्वर ![41]

मुक्तिबोध की कविताओं की स्वर परिवर्तन में कई बातें निहित हैं । मुक्तिबोध की जीवनगत परिस्थितियाँ अत्यंत जटिल होती गयी थीं। इन परिस्थितियों ने कल्पना जगत पर तीव्र प्रहार किया था । अपनी इच्छा के अनुसार विवाह करने के लिए उन्हें अनेक संघर्ष झेलने पडे । परंपरा और परिवार के विरोध में विद्रोह करना पडा । इसने उन्हें जीवन के यथार्थ धरातल पर खडा कर दिया । इन सब के अतिरिक्त मध्यवर्गीय परिवार के सदस्य होने से उन्हें आर्थिक कठिनाइयाँ भी झेलनी पडीं । परिवार के प्रति अपने दायित्व निभाने में वे असफल हुए । इस असमर्थता की वजह उन्हें तनाव पूर्ण जीवन बिताना पडा । यों पारिवारिक समस्यायें, आर्थिक अभाव और स्वयं की विषम स्थिति से उनके भावुक व्यक्तित्व को गहरा आघात लगा । उनके रोमानी संसार की कमनीयता वर्तमान संसार की विषमता से टकराकर विकृत हो गयी ।

मुक्तिबोध की कविता के स्वर-परिवर्तन में तत्कालीन साहित्यिक वाताव की भी बडी देन रही है । जैसे कि सूचित किया गया है कि जिस समय मुक्तिबोध का लेखन-कार्य सक्रिय होने लगा तब छायावाद अपने उत्कर्ष के बाद पतन की ओर अग्रसर होने लगा और प्रगतिवाद का उत्कर्ष और बढ़ने लगा । 1936 में "प्रगतिशील लेखक संघ" की

ओर से प्रगतिवादी परंपरा को प्रश्रय मिला । पंत जैसे छायावाद के सुकुमार कवि भी धरती के गायक बने । ऐसे वातावरण में छायावाद का केवल अनुकरण करनेवाला मुक्तिबोध की प्रतिभा भी झकझोर हो उठी । जैसे कि डा. जनक शर्मा ने सूचित किया है - "...जब इतने परिपक्व छायावादी कवि कल्पना के सौन्दर्य लोक का परित्याग कर यथार्थ जीवन के चित्रण करने लगे, तब फिर मुक्तिबोध के लिए, जिनको काव्य रचना का यह शैशव काल ही था, जिसकी कोई स्वतंत्र एवं मौलिक विकासावस्था नहीं थी-जो छायावादी कवियों का मात्र अनुकरण ही कर रहा था ।"[42] अत: हम देख सकते हैं कि अध्ययन और चिन्तन के अनुसार मुक्तिबोध की प्रतिभा प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती गयी । और तत्कालीन परिस्थिति की माँगों की ओर वे आँखें नहीं मोड सके । इस प्रकार वे धीरे-धीरे मानव मेदिनी के कवि बन गये ।

मुक्तिबोध के यथार्थवाद की ओर उन्मुख होने में मार्क्सवाद का भी बडा हाथ था । जैसे कि सूचित किया गया है कि शुजालपुर के शारदा-शिक्षा-भवन में मुक्तिबो का परिचय नेमीचन्द्र जैन से हुआ और उनके संपर्क और आलोचना के फलस्वरूप मुक्तिबोध की चिन्ताधारा में आमूल चूल परिवर्तन भी आया । उसे मार्क्सवादी विचारधारा की मज़बूत नींव मिली और यों उनमें प्रगतिशीलता भी आयी । इस सन्दर्भ में डॉ. नारायण विष्णु जोशी ने लिखा है - "कवि मुक्तिबोध और नेमीबाबू की घनिष्ठता आये दिन बढती ही गयी । दोनों ही व्युत्पन्न साहित्यकार थे । कुछ अंशों में दोनों परस्पर पूरक थे । मुक्तिबोध में भावुकता के साथ साथ कला की प्रवृत्ति बढी चढी थी तो नेमीबाबू कवि की अपेक्षा समर्थ आलोचक थे । नेमीबाबू की आलोचना के प्रकाश में मुक्तिबोध की पुरानी छायावादी भावुकता काफूर हो गयी । जो कुछ भी बाद में लिखा जाने लगा उसमें प्रगतिशील मूल्यों का ज़ोरदार अंकन होने लगा ।"[43]

इस प्रकार छायावादी मन:स्थिति से मुक्त होकर वे समसामयिक सामाजि यथार्थ के धरातल की ओर ही बढे थे । सृजन-प्रक्रिया के विकास के अनुसार उनकी यथार्थ सामाजिक दृष्टि समाज और उसकी विषमताओं और विद्रूपताओं को देखने-परखने सक्षम हु इनके प्रति जो आक्रोश उमड़ पड़ा वह कविता में परिणत हो गया । यह आक्रोश पूंजीवा के प्रति विरोध और पीड़ित जनता के प्रति सहानुभूति के रूप में ही हुआ । अत: मुक्ति समाज की पीडित दलित जनता के जीवन यथार्थ और उनकी समस्याओं को पूरे दिल और दिमाग के साथ अपने में समाहित करने लगे । उनके लिए रचना प्रक्रिया का पूरा अर्थ समाहित करना मात्र नहीं बल्कि इन समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान निकालना भी है

इसके लिए अनुयोज्य दृष्टि उनका लक्ष्य है ताकि वे मानव-समस्याओं के कारणों की खोज और उनका हल करने में समर्थ हो सकें। इसलिए उन्होंने संसार की महान दार्शनिक विचार धाराओं का मनोयोग से अध्ययन किया। गांधीवाद से वे सहमत नहीं हो सके क्योंकि - "असल में यह गांधीवादी प्रवृत्ति प्रश्न, विश्लेषण और निष्कर्ष की बौद्धिक क्रियाओं का अनादर करती है।"[44] अंत में संवेदनशील व्यक्तित्व के कवि मुक्तिबोध जनजीवन की समस्याओं को समझने के लिए सक्षम बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टि मार्क्सवाद में प्राप्त कर लेते हैं। "तारसप्तक" के वक्तव्य में वे लिखते हैं - "क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।"[45] इसकी वजह मुक्तिबोध की रचनाओं में नकली बौद्धिकता के स्थान पर ज्ञानालोकित दार्शनिक का आभास मिलता है साथ ही साथ उनकी अनुभूति परिष्कृत और उच्चतर स्थिति का अधिकारी भी हो गयी है। इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मुक्तिबोध अपनी कविताओं के द्वारा मार्क्सवाद के विदेशी और राजनीतिक विचार होने के आरोपण से मुक्त कर देते हैं। इस कथन को सत्य सिद्ध कर देते हैं कि मार्क्स राजनीतिक विचार-धारा मात्र न हो कर जीवन मूल्यों के निर्धारण का मापदण्ड भी है।

मुक्तिबोध और दुःख

समाज के अमानवीय यथार्थ की पहचान से मुक्तिबोध दुखी थे। कुछ आलोचक लोग आरोप लगाते हैं कि मुक्तिबोध की कविता में अभिव्यक्त दुख उनके अपना वैयक्तिक दुख है और इसलिए महादेवी और उनके दुख में समानता है। मुक्तिबोध का जीवन विषमताओं और अभावों से ग्रस्त था फिर भी उन्होंने अपने आदर्शों के विरुद्ध किसी भी सिद्धांत से समझौता नहीं किया। अपने दुख को समाज के धरातल पर व्यक्त किया। अपनी प्रारंभिक रचनाओं में महादेवी के प्रभाव को कवि ने खुद स्वीकार किया है। लेकिन परवर्ती कविताओं के बारे में यह आरोप निराधार है कि मुक्तिबोध की वेदना महादेवी की रहस्यानुभूति की वेदना से समता रखती है। यह तो सच है कि उनके वैयक्तिक दुख उनकी यथार्थ दृष्टि को अधिक तेज़ बना दिया है पर "मैं नीर भरी दुख की बदली" "विरह जलगत जीवन" आदि महादेवी की पंक्तियों में व्यक्त रहस्य भावना मुक्तिबोध कहीं भी नहीं। जैसे कि हुकुमचन्द राजपाल ने उल्लेख किया है कि "महादेवी के काव्य लौकिक प्रेम अलौकिकता के धरातल पर व्यंजित किया है - जब कि मुक्तिबोध का दुख [शब्दों में इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रोश] लौकिक एवं यथार्थ धरातल पर स्थिर है।"

मुक्तिबोध मानते हैं कि यथार्थ के साक्षात्कार के लिए आत्मचेतस् से विश्वचेत में परिवर्तित होने की ज़रूरत है । आत्मचेतस् का विश्वचेतस् में विस्तार अवश्य होता है । युग के व्यापक यथार्थ के साक्षात्कार के लिए ज्ञान-क्षेत्र का विकास, अत्यन्त महत्वपूर्ण शर्त है । पर असल यही होता है कि जीवन जगत् के प्रति वास्तविक विश्व दृष्टि का विकास होता है और फिर वह विश्व दृष्टि मानसिक प्रतिक्रिया की प्रेरक बन जाता है । मुक्तिबोध इस प्रकार आत्मचेतस् से विश्वचेतस् बनकर व्यक्तित्वांतरित होकर जीना चाहते थे -

> कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में / उमग कर / जन्म लेना चाहता फिर से /
> कि व्यक्तित्वांतरित होकर / नए सिरे से समझना और जीना / चाहता हूँ सच ।[47]

आत्मचेतस् होने से उनके अन्तर हमेशा आत्मालोचन, प्रत्यालोचन और आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति रही थी । विश्वचेतस् होने केलिए कवि प्रत्येक मनु-पुत्र से परिचय पाना और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में से गुज़रना चाहते हैं ताकि उनकी अपनी दृष्टि विस्तृत हो जाए । ज़माने की प्रत्येक गतिविधी की जानकारी प्राप्त करने की लालसा उन में मिलती है -

> मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में / चमकता हीरा है, / हर एक छाती में आत्मा अधीरा है, / प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है, / मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में / महाकाव्य पीडा है, / पल-पल मैं सब में से गुज़रना चाहता हूँ, प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूँ ।[48]

मुक्तिबोध अनुभव को अत्यन्त महत्व देनेवाले कवि रहे थे । उनमें जीवन के प्रत्येक पहलू से जूझने की अपार क्षमता थी । इस मनस्थिति ने उनकी आत्मा को विस्त किया था । उनमें जीवन की गहराई तक जाने की ललक थी । जितनी भी पीडा सहन करने के लिए भी वे तैयार थे । उन्हें जीवन में कदम-कदम पर चौराहे मिलते थे और वे सबसे गुज़रना चाहते हैं -

> मुझे कदम-कदम पर / चौराहे मिलते हैं / बाहें फैलायें / एक पैर रखता हूँ कि सौ राहें फूटती हैं । / मैं उन सब से गुजरना चाहता हूँ / बहुत अच्छे लगते हैं / उनके तजुर्बे और अपने सपने / सब सच्चे लगते हैं /अजीब सी अकुलाहट दिल में उभरती है / मैं कुछ गहरे उतरना चाहता हूँ / जाने क्या मिल जाए ।[49]

और उससे प्राप्त ज्ञान कवि के अन्तःकरण में आन्दोलन उत्पन्न करता है । उनमें जो

अनुभव और उससे प्राप्त ज्ञान कवि के अन्तःकरण में आन्दोलन उत्पन्न करता है । उनमें जो ज्ञान की पीडा है उससे कवि दृष्टि नये संसार की खोज में रत रहती है -

> ज्वलन्त अनुभव / ऐसे कि विद्युत धाराएँ झक झोर / ज्ञान को वेदना-रूप में लहराएँ / ज्ञान की पीडा / रुधिर प्रवाहों की गतियों में / परिणत होकर / अन्तःकरण को व्याकुल कर दे ।[50]

अनुभव से कवि में जो पीडा उत्पन्न होती है उससे रचना करने वह विवश हो जाते हैं । लेकिन यह तब संभव होता है जब वह अपने "अहं" रूपी "पत्थरी ढाँचे" से मुक्त होकर समाज के व्यापक धरातल प्राप्त करते हैं । ज्ञान-संवेदन की पीडा जब कवि को अपने ममत्व के संदर्भ से अलग कर ममेतर की पीडा से तादात्म्य करा देती है तभी वह सार्थक हो सकती है । मुक्तिबोध की पंक्तियाँ देखिए -

> संदर्भ हटा, व्यक्ति का कहीं उल्लेख न कर / जब भव्य तुम्हारा संवेदन / सब के सम्मुख रख सका तभी / अनुभवी ज्ञान-संवेदन की दुर्दम पीडा / झलमला उठी ।[50a]

नया सौन्दर्यशास्त्र और यथार्थ

मुक्तिबोध का अपना अलग सौन्दर्यशास्त्र है जो बिलकुल नया है । इसका आधार समकालीन यथार्थ है । उन्होंने जिस वैचारिक दृष्टि से उसे देखा है और संवेदन की संलग्नता से उसे काव्य संपत्ति बनाकर किस प्रकार अभिव्यक्त कर दिया उसका अपना महत्व है । उससे कविता रचना में एक नयी मोड आयी । जैसे कि अशोक वाजपेयी ने सूचित किया है - "आज की महत्वपूर्ण युवा कविता मुक्तिबोध की कविता की तरह खुरदरी विचलित करनेवाली कविता है, चमकीली और प्रीतिकर कविता नहीं है, और मुक्तिबोध की कविता युवा कविता के लिए लगभग उद्गाम- काव्य हो गयी है ।"[51] मुक्तिबोध में जो "ज्ञान-संवेदन" परिलक्षित होता है उसमें कोरी भावुकता कहीं भी नहीं है । उसके पीछे विचारों का दीर्घदोहन अवश्य है । शमशेर ने यों सूचित किया है - "मस्तिष्कहीन कोरी भावुकता" {माइण्ड लेस फीलिंग} नहीं है, उनके भावों के ज्वार के पीछे विचारों का दीर्घ-दोहन है ।"[52] लेकिन उनकी कविताओं के अध्ययन करते समय यह बौद्धिकता नीरस या शुष्क नहीं लगेगी, क्योंकि उनके लिए बौद्धिकता ही सबकुछ नहीं है । उनके जीवनानुभव में

अनुभूति और संवेदना का भी समावेश है । उन्होंने जीवन यथार्थ को अनुभव और अनुभूति दोनों का क्षेत्र माना है, वह केवल एक यान्त्रिक या कार्य-कारण पद्धति से समझा जानेवाला सत्य नहीं है ।[53]

मुक्तिबोध मूर्तिमान यथार्थ का चित्रण करके अन्य कवियों से भी यथार्थ की पहचान और चित्रण की अपील करते हैं । वे बाह्य और आभ्यंतर जगत् के यथार्थ के कवि थे । बाह्य यथार्थ में वे वर्ग-वैषम्य और शोषित जनता का चित्रण और अन्तर्जगत् में जीवन में व्याप्त अनेक भाव-स्थितियों को सम्मिलित करते हैं । उनके लिए यथार्थ अपने चारों और फैले जीवन से संबंधित है । इसे आत्मसात् करना आसान है लेकिन शर्त यह है कि कवि को पूर्ण रूप से ईमानदार होना चाहिए । क्योंकि आज का यथार्थ जनता के जीवन का यथार्थ है । मुक्तिबोध के शब्दों में - "आज का यथार्थ कोई रहस्यवादी धारणा नहीं है जिसको समझने केलिए इडा-पिंगला - सुषुम्ना नाडियों को तीव्र करना जरूरी हो । आज का यथार्थ जनता के जीवन का यथार्थ है जो हम स्वयं रोजमर्श जीते हैं ।"[54] इसलिए कवि ईमानदार नहीं है तो उसका चित्रण सतही और मात्र अनुकरण रह जाएगा ।

मुक्तिबोध वाकई रोमानी भावबोध से ग्रसित कलाकार नहीं हैं । वे यथार्थ-दृष्टि के विकास केलिए सदैव प्रयत्नशील रहे । इसलिए समाज के साथ साक्षात्कार और उसके लिए संघर्ष करने का भाव उनकी कविताओं में आद्यंत मिलता है । उसके जीवन के भयावह यथार्थ की गहराई में पैठकर उसकी अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित अनुभव प्राप्ति की जिज्ञासा, प्रश्नपरकता, यथार्थ से विमुख सौन्दर्यशास्त्र की उपेक्षा, निर्भयता आदि सब कुछ सम्मिलित हैं - "यथार्थ के अन्वेषण, विश्लेषण एवं उद्घाटन में सर्वाधिक बाधक हैं खुद के बने हुए शिकंजे, जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि, सामंजस्यपूर्ण संतुलनात्मक स्थितियों के प्रति मोह, वैयक्तिक स्वार्थ एवं साहस का अभाव । कवि में इन स्थितियों से लडने की आकांक्षा एवं शक्ति विद्यमान है, वह अपने इस कार्य को पूरा करने के लिए मृत्यु तक से नहीं डरता ।"[5]

अनुभव और यथार्थ

मुक्तिबोध अनुभव के कवि हैं । जीवन के सब प्रकार की विषमताओं और अभावों को उन्होंने स्वयं अनुभव किया था । "जीवन के कटु, भयावह यथार्थ क्षणों से उलझने का दावा हर साहित्यकार करता है लेकिन उनमें कितने लोग इस दावे को निभा पाते हैं यह बात और है । किन्तु मुक्तिबोध के सन्दर्भ में यह बात सवासोलह आने तक

ठीक है । मुक्तिबोध ने अपने काव्य-साहित्य को सही मायनों में जीवन यथार्थ का संवाहक बनाया । मुक्तिबोध का साहित्य निस्सन्देह उनके जीवन-संघर्ष की ही गाथा है ।"[56] पीडित शोषित और पद दलितों का जीवन उनका चिरपरिचित जीवन है । इस जन-संपृक्ति ने उनके काव्य में यथार्थ का रूप धारण कर लिया । और जीवन के अनुभव से उन्हें मालूम हुआ कि उनके अपने भावों और समाज के भावों के बीच कोई विरोध नहीं है । उनमें समता की भावना है । जीवन अनुभवों से उनके मन में जो आत्मसंघर्ष उत्पन्न हुआ है उसे उन्होंने जनता के संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया । उनके अनुसार कविता जन-चरित्री है, व्यक्ति के निजी कारणों से कविता सिकुड जाती है । जनता के यथार्थ से वह जीवित रहती है -

गहन गंभीर आगमिव्यत् की / लिए, वह जन-चरित्री है । / नये अनुभव संवेदन /
नये अध्याय प्रकरण जुड / तुम्हारे कारणों से जगमगाती है /
वे मेरे कारणों से सकुच जाती है ।[57]

यथार्थ और कवि व्यक्तित्व

मुक्तिबोध के लिए यथार्थ चित्रण कभी भी प्रदर्शन की चीज़ नहीं रहा । उनके लिए यथार्थ चित्रण अपने कवि व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व था । उन्होंने भारतीय जीवन को उसके समग्र रूप से देखा और अनुभव भी किया । इस संदर्भ में आज के सार्थक कवि व्यक्तित्व के संबन्ध में उनका परामर्श यथार्थ के प्रति उनकी दृष्टि स्पष्ट करता है जो अत्यन्त महत्व रखता है । "आज ऐसे कवि की आवश्यकता है, जो मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करें । उनके संचित जीवन विवेक को स्वयं ग्रहण करें तथा उसे और अधिक निखार कर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज़ उन्हें लौटा दें ।"[58]

लेकिन यह तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक कवि में बाह्य के आभ्यंतरीकरण और आभ्यंतर के बाह्यीकरण की शक्ति नहीं होती । मुक्तिबोध मानते हैं "बाल्यकाल से ही मनुष्य संसार का अनवरत आभ्यंतरीकरण करता रहा है । और इस प्रक वह उस आभ्यंतरीकृत बाह्य को उन विशेषताओं से समन्वित और संपादित करता रहा है इसके "स्व" की विशेषताएँ हैं ।"[59] यह बाह्य का आभ्यंतरीकरण हमारे अन्तिम समय तक

जारी रहता है । इसलिए मुक्तिबोध यथार्थ-बोध और इतिहास बोध में कोई विरोध नहीं मानते हैं । उनकी कविता में यथार्थ का परिप्रेक्ष्य है । उनके सृजनात्मकबोध में बाह्य, अन्दर, चेतना आदि तीन तत्व हैं । बाह्य सत्ता के रूप में सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियाँ हैं जिन्हें रचना-प्रक्रिया के समय आभ्यंतरीकृत किया जाता है और आत्मचेतस् सत्ता उस आभ्यंतरीकरण को भाव-विचार सत्ता के रूप में परिणत कर कल्पना शक्ति द्वारा जीवन का पुनसृजन करती है । इस आभ्यंतरीकरण में कवि की जीवन-दृष्टि और मूल्य दृष्टि का निर्माण होता है । जाग्रत चेतना के समान अवचेतन में भी कवि यथार्थ से गुज़रता है । आभ्यंतरीकृत यथार्थ कवि के मन की गहराई में अंकित रहता है जिसका बाह्यीकरण कवि अपनी रचनाओं में करता है । इस आभ्यंतरीकरण को कवि स्पष्ट करते हैं -

जितना ही तीव्र है द्वन्द्व क्रियाओं घटनाओं का / बाहरी दुनिया में,
उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में / चलता है द्वन्द्व कि
फिक्र से फिक्र लगी हुई ।[60]

अतः निरंतर चलनेवाली इस आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति और समाज के बीच का भेद विलीन हो जाता है । मुक्तिबोध के अनुसार हमारी आत्मा की सारी उपलब्धियाँ समाज से प्राप्त होती हैं । फिर व्यक्ति और समाज के बीच मूलतः कोई भेद नहीं रह जाता । वे स्पष्ट करते हैं -"हमारी आत्मा में जो कुछ है वह समाज प्रदत्त है - चाहे वह निष्कलुष अनिंद्य सौन्दर्य का आदर्श ही क्यों न हो !! हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है । आत्मा का सारा सारतत्व प्राकृत रूप से सामाजिक है । व्यक्ति और समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है , इस विरोध का कोई अस्तित्व नहीं ।"[61]

यथार्थ के विभिन्न आयामों की अभिव्यक्ति

जैसे कि हम देख चुके हैं कि मुक्तिबोध की रचनाप्रक्रिया में पलायन का भाव कहीं नहीं है । उसमें जीवन का विशाल अनुभव-ज्ञान संचित है । इसलिए वे कभी भी यथार्थ से विमुख नहीं हुए । तत्कालीन यथार्थ जितना भी भयावह और खुरदरा हो पूरी

समग्रता के साथ उसे आत्मसात करने की शक्ति उनमें भरपूर थी । वे ईमानदार कवि थे । अपने अनुभव यथार्थ की उपेक्षा को वे खतरनाक और गैर-ईमानदारी मानते थे । साहित्य क्षेत्र में होनेवाली अनुभूत सत्य की उपेक्षा और अनादर के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है - "अनुभूत वातावरण का आज जितना अनादर है उतना पहले कभी नहीं था ।"[62] पूरे मानव-समाज की मुक्ति चाहने के कारण वे परिवेशगत यथार्थ के प्रति अधिक सजग थे । प्रत्येक पीडा को अपने में संभलने और प्रत्येक हृदय से नाता जोडने की अदम्य चाह भी थी । इसलिए ही थकावट या पराजय के भाव से बिलकुल अछूते रहे । शमशेर ने इसके संबन्ध में लिखा है - "मुक्तिबोध अनुभूति के यथार्थ से कतराता हुआ नहीं बल्कि अपने तर्क और भावना की कुदाल से अनुभव की कडी धरती को लगातार गहरे खोदता जाता है । वह कभी भी थककर नहीं बैठता और अपने दायित्व को भी भूलता नहीं ।"[63]

मुक्तिबोध अपने समकालीन कवियों से अलग रहते हैं जो अपने समय के सत्य को कहने डरते हैं । इसका कारण है कि सामयिक यथार्थ अत्यन्त भयावह है । वह "इतना भयावह है कि उसे देखकर आदमी अन्धा हो सकता है, संबोधित करके गूंगा हो सकता है और उससे साक्षात्कार करते हुए आत्मघात कर सकता है ।"[64] उनके विचार में संस्कृति की दुहाई देना और अनीति को दुहराना कवि कर्म की इतिश्री है । ऐसे नपुंसक रचनाकार पर कवि का व्यंग्य देखिए -

> सच्चाई के अधजले मुरदों की चिताओं की / फटी हुई, फूटी हुई दहक में कवियों ने
> बहकती कविताएँ गाना शुरू किया / बाकी सब खोल है, /
> ज़िन्दगी में झोल है ।[65]

मुक्तिबोध सत्यन्वेषी कवि थे । स्वप्न लोक में विचरने वाले नहीं थे वे सत्य की साधना के मार्ग पर उन्होंने कभी भी गलत समझौता नहीं किया । वे जानते थे कि सत्य का साक्षात्कार खतरे से खाली नहीं है । वह कवि के मन को उद्वेलित कर देता है । जिसप्रकार एकलव्य ने ज्ञानरूपी सत्य की प्राप्ति में अपना सबकुछ खो दिया वैसे मुक्तिबोध ने सत्य के संधान में अपने को न्योछावर कर दिया ।

> मैं एकलव्य, जिसने निराला - / ज्ञान के बन्द दरवाज़े की दरार से ही /
> भीतर का गहन मनोमन्थन शाली मनोज्ञ / प्राणाकर्षक प्रकाश देखा ।[66]

मुक्तिबोध में सत्य की रक्षा का संकल्प है, उन्होंने कभी भी सत्य को छिपाकर नहीं रखा। कवि ने इस तत्व को यों प्रस्तुत किया -

जाने कितने कारावासी वसुदेव, / स्वयं अपने कर में, / शिशु आत्मज ले /
बरसाती रात में निकले / जाने किस उर स्थानान्तरित कर रहे वे /
जीवन के आत्मज सत्यों को किस महाकंस से भय खाकर गहरा गहरा।[67]

यथार्थ के साक्षात्कार की आकांक्षा के कारण मुक्तिबोध में जिज्ञासा एवं प्रश्नपरकता का भाव विद्यमान है। उनके मन में प्रश्नों की संकुलता है। यथार्थ के दर्शन से उनमें नये-नये प्रश्न जागरित हो जाते हैं और ये प्रश्न उन्हें यथार्थ की गहराई तक उतर कर खोज करने को प्रेरित करते हैं। उनके प्रश्नों में कहीं भी निरर्थक बकवास का भाव नहीं। उनके सारे प्रश्न जीवन से जुड़े हुए हैं। वह प्रत्येक सड़क पर प्रत्येक चेहरे को झांककर देखते हैं। फिर भी उसमें गहरी असंतुष्टि है। यथार्थ को जानने के लिए जिस प्रकार की जिज्ञासा चाहिए इसकी ठीक पहचान थी मुक्तिबोध में जैसे कि डा. राजेन्द्र प्रसाद ने सूचित किया है -

"जिज्ञासा खोखली और नकली भी हो सकती है किन्तु मुक्तिबोध की जिज्ञासा गहरी है और यह उनकी चेतना को यथार्थ के अन्वेषण एवं उसके वस्तुमूलक विश्लेषण के लिए उत्प्रेरित करती है।"[68] वे जानते हैं कि "कौन हूँ, क्या हूँ, क्यों हूँ, कैसे हूँ" आदि दार्शनिक प्रश्न बनावटी हैं -

मत बनो दार्शनिक बनावटी / तुम क्या हो, कैसे हो, क्यों हो /
इसका उत्तर टीन के कनस्तर ही देंगे।[69]

मुक्तिबोध जानते थे कि हमारे समय की स्थिति अत्यन्त भयावह है। इसके पीछे हमारा भी हाथ है। हम इसे भोगने और सहने केलिए विवश हैं। इस बुरी स्थिति से सीधा साक्षात्कार के कारण मुक्तिबोध को यथार्थ चित्रण में किसी का अनुकरण नहीं करना पड़ा। उनकी खोज सत्य की थी और इस में अनुकरण को कुछ भी गुंजाईश नहीं थी। अतः उनकी कविताओं को उन्होंने जो काव्य-वृत्त {पोयटिक थीम्स} प्रदान किए हैं वे कभी भी झूठे नहीं। "ये काव्य-वृत्त "कला के झूठ" का आश्रय नहीं लेते क्योंकि जिस जीवन-खण्ड से ये वृत्त लिए हुए हैं वह मनुष्य के वर्तमान भयावह वृत्त हैं। मुक्तिबोध ने इनका कलात्मक संयोजन रुचि और प्रभाव दोनों दृष्टियों से विचित्र किया है।"[70] उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है -

मुझे नहीं मालूम / सही हूँ या गलत हूँ या और कुछ /
सत्य हूँ कि मात्र मैं निवेदन सौन्दर्य ।[71]

मुक्तिबोध अपने समाज के यथार्थ को खुलकर दिखानेवाले कवि थे । इसलिए समाज की ओर से उन्हें बहुत सहना पडा । समाज के विलोम शक्तियों ने उनका शोषण किया और उन्हें नष्ट करने की कोशिश की । लेकिन मुक्तिबोध ने अपने समकालीन वातावरण से संघर्ष करते हुए अपनी सामाजिकता की जडों को मजबूत बनाया । सुविधावादी न होने के कारण वे समाज की क्षुद्र शक्तियों से कभी भी समझौता करने को तैयार न थे । मध्यवर्गीय जीवन को उसकी सारी वास्तविकता के साथ प्रस्तुत किया - "उन्होंने वर्तमान जीवन की यांत्रिक सभ्यता से समझौता नहीं किया अपितु घुटते हुए मध्यवर्गीय जीवन की छटपटाहट, हीनता एवं व्याकुलता को अत्यन्त ही निर्ममता से उद्घाटित किया ।"[72]

मुक्तिबोध में कहीं कहीं रहस्यभाव की अभिव्यक्ति मिलती है । इसके कारण उनकी रचनाओं में कुछ दुरूहता अवश्य है, लेकिन ध्यान देने से पता चलता है यह भौतिक जगत के यथार्थ की भयानकता के कारण ऐसा हुआ है । रमेश कुन्तलमेघ ने इस रहस्य वातावरण के संबन्ध में यों विचार व्यक्त किया है - "उन्होंने यथार्थ को विश्लेषित करने और शोषण-आतंक को साक्षात् करने के लिए रहस्य और भय की पद्धति अपनायी है और उसमें अपनी सामाजिक-राजनीतिक समझ आद्यन्त बरकरार रखी है ।"[73] भारतीय वास्तव भीषण दुःस्वप्नों-सा है । कवि पर उसकी प्रतिक्रिया इतनी तीव्र हो गयी कि उनकी उपमाएँ विचित्र-सी लगती हैं । इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार कर कहा कि उनकी कविताएँ "भयानक हिडिंबा" है ।[74] स्वतंत्रता के बाद के भारत के यथार्थ उसके नंगे रूप में मुक्तिबोध की कविताओं में अनावृत हुए । ऐसा अनावरण अन्यत्र नहीं हुआ है । उनकी कविताएँ भयानक खबर की कविताएँ हैं ।[75] उनमें चित्रित यथार्थ हमारे समय की जटिल और भौंचक करनेवाली सच्चाई है ।[76]

समसामयिक यथार्थ के परिचय से चिढनेवाले नहीं थे मुक्तिबोध । इसलि उन्होंने व्यंग्य का अधिक आश्रय नहीं लिया । यथार्थ की भयावहता से मस्तिष्क तन्तुओं में प्रदीप्त वेदना जगती है । उनके अन्तःकरण में प्रदीप्त द्वन्द्व चेतत् और सत्चित् वेदना का फूल खिलता है । वे भीषण यथार्थ के हिम-शीतल सुनील जल में धंसकर अरुण कमल तोड लाना चाहता है । उससे भागकर उन्नति रूपी कन्या के कक्ष में नहीं जाना चाहते ।[77]

मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएँ लंबी हैं। यह अकारण नहीं है। इसके पीछे युगीन चेतना के यथार्थ को मूर्तकरने का आत्म संघर्ष है। यह आत्म संघर्ष आत्मज्ञान पाने या आत्मभिव्यक्ति के लिए नहीं है। यह समाज के शोषित-पीडितों से तादात्म्य स्थापित करने और उनके यथार्थ जीवन को सशक्त अभिव्यक्ति देने के अन्यादृश्य आग्रह के कारण उत्पन्न होता है। उनमें भावावेश कुछ भी नहीं, भावावेश है तो आवेशात्मक अभिव्यक्ति के बाद एकदम कविता खतम हो जाती। मुक्तिबोध के लिए यथार्थ परस्पर गुंफित और गतिशील होते हैं। इसलिए कवि छोटी कविता नहीं लिख सकते हैं। "एक साहित्यिक की डायरी" में उन्होंने लिखा है - "यथार्थ के तत्व परस्पर गुंफित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होते हैं। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील हैं और उसके तत्व भी परस्पर गुंफित हैं। यही कारण है कि मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता और जो छोटी होती हैं वे छोटी न होकर अधूरी होती हैं। और इसप्रकार की न मालूम कितनी ही कविताएँ मैं ने अधूरी लिखकर छोड दी हैं। उन्हें खत्म करने की कला मुझे नहीं आती यही मेरी ट्रेजडी है।"[78]

मुक्तिबोध केवल समाज के दर्शक नहीं रहते। समाज के यथार्थ चित्रण के द्वारा जनता को प्रेरित करना उनका लक्ष्य है। समाज के शोषित और पीडित को अपनी अवस्था का परिचय देना और उनको क्रांति के लिए तैयार करना उनका लक्ष्य था। इस संदर्भ में नामवरसिंह के शब्द महत्वपूर्ण हैं - "समसामयिक यथार्थ का ज्ञान होना काफी नहीं है, बल्कि भावी स्वप्न का स्वरूप भी स्पष्ट रहना चाहिए, जिसपर लेखक की आस्था हो वे अपनी कविता में भविष्य के स्वप्न को साकार करते हैं। और उन्हें पूर्ण विश्वास है कि जनता की क्रांति कभी भी व्यर्थ नहीं हो जाएगी।

> खूब / हम खेल रहे / खूब काम आयें हम / आंखों के भीतर की आंखों में डूब-डूब / फैल गये हम लोग / आत्मविस्तार यह / बेकार नहीं जाएगा / ज़मीन में गडे हुए देहों की कोख से / शरीर की मिट्टी से धूल से / खिलेंगे गुलाबी फूल / सही है कि हम पहचाने नहीं जाएँगे।[80]

अतः हम देख सकते हैं कि अनुभव और समय के अनुसार मुक्तिबोध की दृष्टि अधिक प्रखर सामाजिक बन गयी। यथार्थ उनके काव्य का मूलाधार बन गया। उनका ल केवल यथार्थ केलिए यथार्थ का चित्रण करना मात्र नहीं था। बल्कि नये समाज के निर्माण की प्रेरणा देने केलिए सशक्त माध्यम था।

मध्यवर्ग का यथार्थ चित्रण

हम देख चुके है कि मुक्तिबोध वर्गचितना के कवि हैं। उनके अनुसार साहित्यकार को अपने वर्गीय जीवन को चित्रित करना किसी भी दृष्टि से अनिवार्य है। यदि कलाकार को अपने वर्ग की भावभूमि की नींव नहीं मिलती है तो प्रयत्नरत रहने पर भी उसका स्तर ऊँचा नहीं रह सकता है। अपने वर्ग से भटक कर किसी अन्य प्रवृत्ति को स्वीकारना वांछनीय नहीं है - "वो गुड नोट डेज़र्ट अवर ओन क्लास। हम यदि गरीब मध्यवर्ग में पैदा हुए हैं तो हम उसकी भाव-स्थितियों को अवश्य बतायेंगे। हम से बहुत ऊपर की श्रेणी में मिल गये हैं। वे हमारी भावनाएँ प्रकट करना चाहते हैं।"[81]

किसी एक वर्ग तक सीमित रहना कवि के लिए अभिकाम्य नहीं है। कवि सारे समाज के यथार्थ से संबन्ध रखनेवाले हैं। फिर भी प्रत्येक कवि अपने वर्ग से संबन्ध रखता है और उस वर्ग के संबन्धों के आधार पर अपनी वर्ग चेतना का अतिक्रमण करता है। तभी वह सच्चाई से अपने समाज के मिजाज और उसमें विकसित मानवीय संबन्धों का प्रामाणिक चित्रण कर पाता है। मुक्तिबोध के संबन्ध में भी यह बात ठीक है। वे मध्यवर्ग से आनेव कवि हैं। फिर भी उस वर्ग के आदर्शवाद को स्वायत्त कर और उसके कमीनेपन को समझकर मुक्तिबोध की रचनात्मक प्रतिभा उसकी सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। मुक्तिबोध बहुत ही बेमुरव्वत होकर इस वर्ग को भारतीय समाज का अग्रदूत मानने से इनकार कर देते हैं। यह वह बिन्दु है जहाँ उनकी कविताओं की क्रांतिकारिता स्पष्ट हो जाती है।

भारत की जनता विभिन्न वर्गों में विभाजित हैं। इनमें दीन-दलित जनत एक ओर और दूसरी ओर उसको शोषण के स्याह चक्रव्यूहों में फंसानेवाले शोषक वर्ग। मध्यव की स्थिति इनके बीच की है। ऊँचे और निम्न श्रेणी के बीच पिस जानेवाले मध्यवर्ग की स्थिति तनिक भी बेहतर नहीं है। जैसे कि सूचित किया गया कि मुक्तिबोध मध्यवर्ग का अंग है, इसलिए मध्यवर्ग की प्रत्येक विधियाँ उनकी पकड़ की चीज़ें हैं। वे अपनी कविताओं में इस वर्ग के प्रत्येक अच्छे-बुरे तत्वों को कोई छिपाव-दुराव के बिना पाठकों से परिचित कराते हैं। मध्यवर्गीय जीवन के चित्रण में जितनी समीपता और समग्रता मुक्तिबोध में मि है वह अन्य कवियों में बिलकुल नहीं। उनकी कविताओं में पहलीबार मध्यवर्गीय जीवन के आदर्श और यथार्थ के बीच होनेवाले संघर्ष को अभिव्यक्ति मिली। मध्यवर्गीय व्यक्ति के

इसी संकट को समझने और पूर्ण निष्कर्ष निकालना उनकी कविता का भाव है । इसके दौरान मुक्तिबोध स्वयं बरबाद हो जाते हैं - "मुक्तिबोध की कविताएँ आत्मसाक्षात्कार की कविताएँ हैं और यह सच है कि जीवन के कठोर संघर्ष को एक बार जीवन में और दूसरी बार कविताओं में जीकर उन्होंने अपनी कविताओं को बृहत्तर अर्थ दे दिया है । उनके अनुभवों की जड़ें मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं में है, जिनका सामना करनेवाले अपने ढंग के पहले कवि हैं खुरदुरे, ठोस और सबसे निर्मम ।"[82]

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि मुक्तिबोध मध्यवर्ग का प्रतिनिधि कवि हैं । लेकिन उनकी व्यापक सामाजिक चेतना के कारण अपने वर्ग के संकुचित दायरे में सीमित भी नहीं हैं । वे जानते हैं कि वर्गापसरण के द्वारा अपने मध्यवर्गीय व्यक्तित्व को सर्वहारा से मिला देना ही श्रेयस्कर है । अनुभवी कवि जानते हैं कि यह वर्गापसरण कष्टसाध्य है । इसकेलिए अपने आपसे संघर्ष करना पड़ेगा । मुक्तिबोध वर्ग से भटकने और वर्गापसरण में अंतर मानते हैं । इसके लिए आत्म-निरीक्षण और आत्मालोचना की आवश्यकता है । इसलिए ही मुक्तिबोध के काव्य में आत्म-भर्त्सना और अपराध बोध के भाव मिलते हैं । लेकिन इसमें व्यक्तिवाद सचमुच नहीं है । पर जो आत्मसंघर्ष झलकता है वह व्यक्ति के अपने संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर जनसामान्य के विशाल क्षेत्र में प्रवेश पाने का है । उनके आत्मसंघर्ष में आत्मनिष्ठा के प्रति आलोचना और व्यक्तित्वांतरित न होने की पीडा निहित है । वह जानता है कि वर्गापसरित होने में ही व्यक्ति का विकास संभव होता है । सर्वहारा के संघर्षों में सहयोग देने में ही सार्थकता है - "आत्ममंथन द्वारा आत्मग्रस्तता की आलोचना, वर्गापसरित [डिक्लास] न होने के कारण पैदा हुई पाप भावना, जनसंघर्षों से संपर्क और अन्ततः जनक्रांति में हिस्सेदारी की यह तकनीक कविता के संपूर्ण ढांचे में विकसित होती हुई अपने समस्त संदर्भों में सही उतरती है ।"[82a]

मुक्तिबोध मानते हैं कि मध्यवर्ग आधुनिक युग का सर्वाधिक संवेदनशील, प्रबुद्ध, चेतना युक्त जनसमूह है । समाज को आगे बढाने वाले सारे तत्व इस वर्ग में आते हैं । जीवन के प्रत्येक पहलुओं से इस वर्ग का सीधा संबन्ध होता है । फिर भी इसवर्ग की स्थिति विशेष प्रकार की है । आगे हम देख सकते हैं कि मुक्तिबोध इस वर्ग को कैसे शब्द - चित्रों में प्रस्तुत करते हैं

मध्यवर्ग का व्यक्ति आजीवन संघर्ष को झेलने के लिए अभिशाप्त हैं । उसे दो स्तरों पर संघर्ष झेलना पडता है । एक ओर व्यक्ति के मनोजगत् का संघर्ष है तो दूसरे स्तर पर सामाजिक के रूप में विभिन्न स्थितियों से संघर्ष । मध्यवर्गीय व्यक्ति को समाज में होनेवाले अन्याय, अत्याचार के विरोध में विद्रोह करने की बेचैनी होती है । लेकिन वह इसके लिए जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं । क्योंकि वह अपने जीवन की सुविधाओं को छोडना नहीं चाहता है । उनके मन में कर्तव्य और कमज़ोरियों के बीच संघर्ष चलता है । इसे कवि अपने अन्तर्द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं । कवि अपनी "परम अभिव्यक्ति" का प्रती "रक्तालोक स्नात पुरुष" को गले लगाना चाहता है । लेकिन उसका सुविधाभोगी मन उससे बचना भी चाहता है -

> बाहों में कस लूँ, / हृदय में रख लूँ / घुल जाऊँ, मिल जाऊँ लिपट के उससे /
> परंतु, भयानक खड्डे के अंधेरे में आहत / और छत-विक्षत, मैं पडा हुआ हूँ,
> शक्ति ही नहीं है कि उठ सकूँ ज़रा भी / (यह भी तो सही है कि
> कमज़ोरियों से ही लगाव है मुझको)
> इसलिए टालता हूँ उस मेरे प्रिय को / कतराता रहता / डरता हूँ उससे ।
> वह बिठा देता है तुंग शिखर के / खतरनाक, खुरदरे कगार-तट पर /
> शोचनीय स्थिति में ही छोड देता मुझको ।[84]

मध्यवर्गीय लोग उदरंभरि हैं । अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कुछ भी करने वे तैयार रहते हैं सारे मूल्यवान तत्वों को त्यागने में उन्हें ज़रा भी हिचक नहीं । लोलुपता और अवसरवादिता के कारण वे आत्मा को भी बेचने को तैयार हो जाते हैं ।

> दुनिया का उदरंभरि मध्यवर्ग थर्राकर / (रोटी की तलाश में) बेचता है आत्मा को
> वेश्या की देह-सा व्यभिचार के लिए ।[85]

अपनी कविताओं में मुक्तिबोध मध्यवर्ग के समझौतावादी स्वभाव को अनावृत करते हैं । वर्ग का व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का हनन करके भी किसी भी परिस्थितियों से समझोता डालता है - "सामंजस्य स्थापना के फलस्वरूप सब लोग टूट गये हैं, उनके दिल की कई c हो गयी हैं ।"[86] "अंधेरे में" कविता में बरगद के नीचे रहनेवाला सिरफिरा व्यक्ति गीत गाता है । आज वह जागरित बुद्धि या प्रज्वलित धी है । उसकी वाणी मध्यव जीवन की क्षुद्रता का पोल खोलती है -

> ओ मेरे आदर्शवादी मन, / ओ मेरे सिद्धांतवादी मन / अब तक क्या किया? / जीवन क्या जिया ! ! / उदरंभरि बन अनात्म बन गये, / भूतों को शादी में कनात-से तन गये, / किसी व्यभिचारी के बन गये बिस्तर, / बताओ तो किस-किस के लिए तुम दौड गये, करुणा के दृश्यों से हाय ! मुँह मोड गये, / बन गये पत्थर, / लो-हित-पिता को घर से निकाल दिया, / जन-मन-करुणा-सी माँ को हंकाल दिया, / स्वार्थों के टेरियार कुत्तों को पाल दिया .../ विवेक बधार डाला स्वार्थोंक के तेल में / आदर्श खा गये ।[87]

अकर्मण्यता मध्यवर्ग की मुख मुद्रा है । ये लोग आरामतलब । सुख, सुविधा, लालसा और आराम का जीवन जीने का स्वप्न उन्हें अलसता का कवच पहना देता है । अलसता के कारण यह वर्ग कर्ममय जीवन से विमुख हो जाता है । दुनिया को सजीव बनानेवाली विचारधारा के प्रति उनके मन में वितृष्ण जागती है -

> मिर्चों की धाँस को खाँसी-सी / पीडित उन्हें करती है / जन-जन की साहसी विचारधारा / कर्ममयी अग्निधारा दर्पोद्धत / जिन्दगी के सूने अकेले एक / कमरे में चुपचाप / (भूत से) / आत्मा को वासना-संवेदनों में बोरकर / लालसामयी जीभ को चलाते हुए / खाते हैं सुख को आराम की / वे बासी मिठाइयाँ / पूंजीवादी चोट्टों के घर की ।[88]

इस अकर्मण्यता मध्यवर्ग को अपने गयी-बीती स्थिति के कारणों की खोज से विमुख कर देती है -

> सुविदित रूप से नहीं ज्ञात / सुस्पष्ट रूप से नहीं पहचानते / / लगा लिये खोज लिये जाते हैं ।[89]

पूंजीवादी व्यवस्था में मध्यवर्ग की स्थिति अत्यंत डरावनी है । अज्ञान-अन्धकार की घाटी में रहनेवाले हैं ये मध्यवर्ग । इस व्यवस्था की भयानक परिस्थितियों के कारण मध्यवर्ग के परिवार में विकृताकृति के बच्चे जन्म लेते हैं -

> सच जन्म-कक्ष में शिशु की मेरी आँखों को / दिख गया खुली खिडकी में एक विरूपाकृति जानकर / मानव-जगह ही से चुरा लिया ।[90]

मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति स्वच्छ नहीं होती । उनकी स्थिति निम्नवर्ग के निकट होती है । लेकिन मध्यवर्ग में उच्चवर्ग के समान धन बटोरने की अदम्य लालसा है लेकिन उसे इस कार्य में सफलता नहीं मिलती है । उच्चवर्ग के साथ होती होड में उसका सारे अवसर बेकार हो जाते हैं । मुक्तिबोध मध्यवर्ग की इस बुरी स्थिति को यों चित्रित करते हैं -

> यद्यपि कर पाता मैं / अपने हित उन्नति के / लिए न कुछ / [बडे-बडे मगर मच्छ / चट करते बीच में / फेंके गये दाने जो मेरे हित] / फिर भी देहान्त तक / जीवन-आयोजन बनाता हूँ / और इसी अनबूझे धतूरे के / जहरीले नशे में, हाय / मुर्गी के नपुंसक पंख फडफडाता हुआ / उडता हूँ उस बौने वृक्ष तक / किन्तु लाल कलगी से अपने ही, / अकस्मात् डरकर मैं / वापिस ज़मीन पर सिहर उतर आता हूँ ।[9]

अपनी मंजिल तक पहुँचने की इस दौड धूप में मध्यवर्ग सारे जीवन मूल्यों की उपेक्षा करता है । वह सभी प्रकार के दाँव-पेंच करने को तैयार हो जाता है । इसकेलिए दूसरों के साथ उन्हें असंगत व्यवहार करना पडता है । आवांछित संबन्ध रखने केलिए मजबूर हो जाता है । फिर भी उन्हें हाथ में कुछ भी हासिल नहीं होता है ।

मुक्तिबोध के अनुसार मध्यवर्गों के बीच फिर देहाती और शहरी जैसा विभाजन निरर्थक है । इन दोनों वर्गों की समस्याएँ समान हैं । देहाती किसान निरन्तर शोषण और उत्पीडन के शिकार हो रहे हैं । वे सामन्तवाद, उपनिवेशवाद और पूंजीवाद जैसी प्रतिगामी शक्तियों से संघर्ष में लगे रहे हैं । लेकिन शहर के मध्यवर्गीय लोग इस वर्ग-संघर्ष में अपना कर्तव्य निभाने के बदले शोषकों और उत्पीडकों का समर्थन करते हैं । ये लोग शोषकों के समर्थन ही नहीं करते बल्कि आम जनता के संघर्ष का विरोध भी करते हैं । "इस बैलगाडी को" कविता के किसान शहरी मध्यवर्ग से कहते हैं -

> किन्तु तुम असफलता, कमज़ोरी हमारी / हृदय के भीतर की जेब की नोटबुक में / ज़रूर आँक लेते हो !! / गलत कारण गलत सूत्र, / गलत स्रोत प्रस्तुत करते हुए / सिद्ध करना चाहते हो / कि हम बिलकुल गलत हैं / हमारा चलना गलत / गलत अस्तित्व ही !! / हम साफ कह दें कि/असल में यह है कि नागवार /

गुज़रता है तुमको कि हम लोग / निरन्तर युद्धमान / जीवन के शास्त्र और
शास्त्र हैं / ऐतिहासिक दृष्टि है, अस्त्र हैं / क्योंकि हम / देखते हैं अनिवार्य / मृत्यु
उस सभ्यता को / जिसका तुम जाने-अनजाने नित / करते हो समर्थन !![92]

देहाती किसान शहरी मध्यवर्ग से उसके मन में निहित किसान के प्रति घृणा को त्याग ने की अपील करते हैं । वे मानते हैं कि दोनों की स्थितियाँ बिलकुल एक-सी हैं । दोनों के बीच का आपसी झगडे की उपेक्षा करनी चाहिए ।

अपन दोनों भाई हैं / और दोनों दुखी हैं / दोनों हैं कष्टग्रस्त / फिर भी तुम
लडते हो हमसे / बैलगाडी एक है / और वही हाँकना / सिर्फ एक फर्क है /
फर्क आबोहवा का ।[93]

ये मध्यवर्गीय लोग समाजवादी समाज की स्थापना से डरते हैं । वे सोचते हैं कि समाजवाद की स्थापना से समाज में जो परिवर्तन होंगे वे उनके खिलाफ होंगे इसके पीछे मध्यवर्ग का व्यक्तिवादी मनोवृत्ति काम करती है । "निजत्व रेखाएँ, व्यक्ति रेखाएँ आत्मवादी मध्यवर्ग की विशेषताएँ हैं ।"[94] वे सिर्फ अपनी रक्षा चाहते हैं । कवि कहते हैं कि समाजवाद काफी दूर है । लेकिन मध्यवर्ग उससे डरता है ।

दीखता शून्य में कोटि योजनाओं दूर सूर्य / पर उससे निज संबन्ध बनाने की इच्छा /
को धमकाता रहता विचित्र-सा भय विचित्र आशय / अपना-अपना सब को
प्रिय है / बस उसी हमारी कक्षा निज रक्षा है ।[95]

"विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर" में कवि मध्यवर्गीय व्यक्ति के विक्षुब्ध अहं का चित्रण करते हैं । मध्यवर्ग अपने वर्गगत चरित्र को छोड नहीं सकता । मध्यवर्गी अपने अपने खूंटों से बंधे हुए बैल हैं जो अपनी परिधि का अतिक्रमण नहीं कर पाते । यह खूंटा कैसा है इसका परामर्श देखिए -

यह खूंटा - स्वर्ण-धातु का है /स्वार्थैक ज्योति का है / आत्मैक प्रीति का है ।[96]

इसप्रकार अपने खूंटों से बंधित होने के कारण मध्यवर्ग सत्य प्राप्ति में समस्याओं का सामना करने से डरते हैं । ये सुविधावादी लोग अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त कर नहीं पाते । वे अपने अनुभूत सत्यों को उस प्रकार नष्ट कर देते हैं जिसप्रकार मार्जारी अपने नवजात शिशुओं को खा लेती है ।

वह काले-काले बाल-ढँका / अत्यन्त प्रदीर्घ मूर्ख जबडा । / दांतों के बीच-बीच लहराते रक्त-ताल / मुख अन्तराल में जिसके वह माता शूकरी / तुरत खा गयी / ताजे जन्मे पुत्रों को ही । / चमकदार पथरीली आंखोंवाली वह / उद्दंण्ड चतुर मार्जारी भी सद्योजातों को हडप गयी / उसकी मूँछों के लंबे-लंबे बाल / रक्त से स्नात / वह मूर्ख शूकरी और चतुर मार्जारी भी × / अन्तस्तल की वासिनी तुम्हारी है ।[97]

मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी क्रांति के मार्ग में बाधा डालते हैं । मुक्तिबोध के अनुसार मध्यवर्ग के व्यक्ति वर्गापसरित होकर जब सर्वहारा के साथ देता है तभी उसकी मुक्ति हो जाती है । लेकिन पदलोलुपता, स्वार्थपरता आदि के कारण वे शोषकों और उत्पीडकों के शिविरों में ये शरण लेते हैं और अपने को सुरक्षित समझते है । मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की इस मनःस्थिति को कवि यों प्रस्तुत करते हैं -

लोगो / एक ज़माने में जो मेरे ही थे , / बहुत स्वप्न-द्रष्टा थे , / कवि थे , चिन्तक और क्रांतिकारी थे / क्या हो गया तुम्हें अब - / प्रतिदिन कर उपलब्ध सत्य / अब खो देते अगले क्षण ही / निज द्वारा अनुसन्धानित होते हैं अन्तर्हित / बाहरी जिन्दगी के हो-हल्ले-मेले में / अपने अनुभव के पुत्र गवाँ देते हो क्यों / क्यों बिछुडे तुम अपनों ही से ।[98]

लेकिन मध्यवर्ग के आदर्शवादी बुद्धिजीवी समाज में परिवर्तन लाने केलिए संघर्षरत हैं । उनका आदर्शवादी मन हमेशा समाज की अव्यवस्था और उत्पीडन को समाप्त कर समाज में परिवर्तन लाने के लिए लालायित है । ब्रह्मराक्षस कविता का ब्रह्म राक्षस अपने शरीर के मैल छुडाने केलिए शरीर को घिस रहा है । लेकिन वह इस काम में असफल हो जाता है ।

बुद्धिजीवी की स्थिति भी इसी ब्राह्मराक्षस के समान है । ब्रह्मराक्षस द योनियों के बीच खडा है । वही स्थिति बुद्धि जीवी की भी है । जैसे कि चंचल चौहान ने सूचित किया है - "यहाँ तक बात ध्यान में रखने योग्य है कि "ब्राह्मराक्षस" विचारशी किन्तु अप्रतिबद्ध और सिनसियर किन्तु अकर्मण्य बुद्धिजीवी है जो गंभीर आक्रोश से जन, सम और राजनीति की समस्याओं का अपना गणित करता हुआ मर जाता है ।"[99] इसप्रकार

स्थितियों और चीज़ों में परिवर्तन न लाने के कारण उसे असीम पीडा सहनी पडती है । पीडा सहने की यह अभिशप्त स्थिति उसके मन में द्वन्द्व को जन्म देती है । परिस्थितियों के ऊपर न उठ सकने की असमर्थता के कारण उसके मन में अपराध भावना पैदा होती है । इस अपराध भावना की मैल छुडाने के लिए वह अपने शरीर को निरंतर साफ कर रहा है । यह प्रक्रिया धीरे-धीरे मानिया बन जाती है ।[100]

"तन की मलिनता / दूर करने के लिए प्रतिपल / पाप छाया दूर करने केलिए, दिन, रात / स्वच्छ करने - / ब्रह्मराक्षस / घिस रहा है देह / हाथ के पंजे, बराबर, / बांह छाती - मुंह छपाछप / खूब करते साफ / फिर भी मैल / फिर भी मैल ।[101]

मुक्तिबोध के अनुसार बुद्धिजीवी की इस असफलता का कारण ज्ञान (idea) को क्रिया (action) में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक साहस का अभाव है । बाह्य जगत में इच्छित परिवर्तन असंभव हो जाता है । कुछ कर दिखाने की क्षमता के बिना आकांक्षा मात्र से कुछ नहीं हो जाता । अन्तर्जगत के विचारों को रूप देने का वैभव चाहिए । इसके अभाव में बुद्धिजीवी बाह्य और अन्तर के कठिन पाटों के बीच पिस जाने को विवश हो जाता है -

पिस गया वह भीतरी / औ" बाहरी दो कठिन पाटों बीच, /
ऐसी ट्रेजेडी है नीच ।।[102]

मुक्तिबोध अपनी कविताओं में मध्यवर्गीय स्थिति और कमज़ोरियों के चित्रण करने पर भी वे यह नहीं मानते हैं कि मध्यवर्ग के सारे लोग बिके हुए हैं । इस वर्ग में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो मध्यवर्गीय क्षुद्रताओं के विषम-वृत्त से मुक्त हुए हैं और ऐसे भी जो उसके लिए अनवरत संघर्षरत भी रहते हैं । मुक्तिबोध की प्रस्तुत पंक्तियाँ देखिए -

हम इसमें खुश हैं कि मुक्ति की तुम्हें खोज / विचार तुम्हारे सूक्ष्म /
बिजली के बल्ब प्रतीकों में बँधते हैं / बंधने तो / तुम भी लड़ते हो /
सुना है कि तुम भी खूब ।[103]

मुक्तिबोध जानते हैं व्यक्ति का कल्याण अपने में केन्द्रित रहने से नहीं, बल्कि समाज के साथ देने से ही संभव होता है । इसकेलिए व्यक्ति को समाज के निम्न वर्ग से जा मिलना है । आत्मकेन्द्रित रहने से व्यक्ति का कुछ लाभ नहीं होता और

समाज का भी इससे कोई फायदा नहीं । इसलिए मुक्तिबोध मध्यवर्ग से अपने चारों ओर फैले अज्ञान के अन्धकार से मुक्त होकर आम जनता से मिलने का आह्वान करते हैं । "भाग गयी जीप" नामक कविता की पंक्तियों में यह द्रष्टव्य है -

हीन-चित् हीन-सत् / उसी समय हीन-मति / तत्काल सिद्ध होते /
वह तुम्हें कभी नहीं / अपने ठण्डे ढ़ाल पर / स्नेह से पिलाती जल /
हृदय का, प्राण का !![104]

व्यक्तित्वांतरण में ही मध्यवर्ग की भलाई निहित है । जब मध्यवर्ग का व्यक्ति अपनी वैयक्तिक सीमा को तोड़कर समाज के निम्न वर्ग के साथ जुड़ जाता है तब उसका वर्गापसरण होता है । तब समाज में उसको मुक्ति संभव हो जाती है । इसके लिए प्रयत्नरत रहना चाहिए । मुक्तिबोध की कविता में इस संघर्ष का साक्षात्कार निरन्तर होता है । जैसे कि चौहान जी ने सूचित किया है - "मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएँ प्रतीकात्मक स्तर पर मध्यवर्गीय वाचक को वर्गापसरण की प्रक्रिया में ले जाती है । तनाव और आत्मसंघर्ष बराबर चलता रहता है ।"[105] व्यक्तिमूल सभ्यता के क्षेत्र के वासी मध्यवर्गीय व्यक्ति को अपनी गलती का अहसास तब होता है जब ज्ञानात्मक संवेदन के कनपटी पर जोर से आघात होता है । इस आघात से वह आत्मचेतस् प्रकाश पा सकता है । कन्धे से वाचक का आत्मनिष्ठ मध्यवर्गीय सिर उड़ जाता है और वर्गापसरण की प्रक्रिया आरंभ होती है । तब उसे पता चलता है कि जिन छातियों को उसने पैरों तले कुचल डाला उनके संपर्क के बिना वह अपूर्ण है । उसे ज्ञात हो जाता है कि सर्वहारा वर्ग से मिलने से ही मुक्ति मुमकिन है -

लिखा था यह - / अरे ! जन संग-ऊष्मा के / बिना, व्यक्तित्व के स्तर जुड़ नहीं
सकते । / प्रयासी प्रेरणा के स्रोत, / सक्रिय वेदना की ज्योति, / सब साहाय्य
उनसे लो । / तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी । / कि तद्गत लक्ष्य में से ही /
हृदय के नेत्र जागेंगे, / वह जीवन-लक्ष्य उनके प्राप्त करने की क्रिया में से / उभर ऊपर
विकसते जायेंगे निज के / तुम्हारे गुण /
कि अपनी अपनी मुक्ति के रास्ते / अकेले में नहीं मिलते ।[106]

"अन्तर्दर्शन" कविता में मध्यवर्गीय व्यक्ति का आत्मपक्ष प्रबल होने पर भी व्यक्तित्वांतरण के आरंभ का संकेत मिलता है । उसमें आत्मदाह की ज्वलित पिपासा पैदा होती है । यह आत्मदाह वास्तव में अपने व्यक्तित्व के कारे से मुक्ति को चाह है । इस आत्मदाह के कारण वह सर्वहारा से जुड़ जाना चाहता है -

मैं ने मरण-चिन्तना को, जब जीवन का था दर्द बढ़ चला ।
मानवता का कटु आलोचक अपने को ही दण्ड दे चला ।।
मेरा मन गलता निज में जब अपने से ही हार खा चुका ।
दारुण क्षोभ-अग्नि में अपना प्रायश्चित-प्रसाद पा चुका ।।
रक्त-स्रोत अन्तर से फूटा - लाल-लाल फव्वारा दुख का ।
आत्म-दाह की ज्वलित पिपासा के युग में आयाक्षण सुख का ।।[107]

"इस चौड़े ऊँचे टीले पर" कविता में टीला मध्यवर्ग का प्रतीक है । भूरे केसरिया सूखे घास के रोम-आवरण से ढंके रहने के कारण यह टीला अपनी शोषित स्थिति को अनावृत नहीं कर पाता । इस टीले पर मध्यवर्गीय व्यक्ति की स्याह जिन्दगी की जंग खायी अध-टूटी मोटर पड़ी है । लेकिन इस टीले पर आकर काव्य-नायक जिन्दगी के केन्द्र-सत्य रूपी लाल-भवन पर थपथपी लगाता है और उस वैज्ञानिक विचारधारा की आकृति का साक्षात्कार करता है जिसके सावधान हाथों से उसका वर्गांतरण होता है । लेकिन फिर भी उसमें अपने व्यक्तित्व के प्रति लगाव होने के कारण उसे मुंडेरे से अतल-पाताल में फेंके जाने पर भी वापस मुंडेरे पर आ बैठता है ।

क्षण का गहरा गहरा कुआँ / मैं मुंडेरे से गिरा अतल-पाताल अंधेरे में कि / तले तक ज्यों ही पहूँचा था कि / वहाँ अज्ञात हाथ ने फिर फेंका / बहुत ज़ोर से यों कि तुरत वापस मुंडेरे पर मैं आ बैठा । / कुआँ नहीं यह नहीं कहीं कुछ ऐसा-वैसा / मैं जिन्दा हूँ, मैं हूँ, "आई एग्ज़िस्ट" साबित सही सलामत ।[108]

मध्यवर्ग शोषक वर्ग की मशीन का पूर्जा है । स्वयं शोषण-चक्र में पिसते रहने के कारण वह भी मुक्ति चाहता है । पूंजीवादी व्यवस्था के शोषण से तंग उठने पर मध्यवर्गीय व्यक्ति के मन में आत्मसंघर्ष, जागृत हो जाता है । उसे कुछ कुछ तेजस्क्रिय तत्यों के अणु दिखाई देता है । तब उसके अन्तर्मन में भीषण भभक उठती है । लेकिन मध्यवर्ग संगठित न होने के कारण उनकी वर्गचेतना की प्रारंभिक दशा बेकार हो जाती है -

परंतु यह भी तो सच है कि ऐसी / समस्त अग्नियाँ, अकेले में जलती हुई / करती है अपनी ही / ऐसी की तैसी !![109]

इस असफलता का कारण प्रगतिशील चिन्तन का अभाव है । मध्यवर्गीय व्यक्ति के व्यक्तित्वांतरण के लिए प्रगतिशील विचारधारा का योगदान चाहिए ।[110] टूटते मध्यवर्ग रूपी टीले के भीतर उत्पन्न सत्य के अणुरेणु से प्रताडित होता है वह । ऐसी स्थिति में प्रगतिशील चिन्तन की हवा टीले के कपोलों को चूमती है । टीला स्वप्न से जाग कर हवा से कहता है -

ओ, नभयात्री, / अगिनत प्रकाश-वर्षों की यात्राएँ दो मुझे, / व्यक्तित्वघात तुम्हारा / ज्ञान का आघात / तडित्-प्रहार-सा प्राप्त हो ।[111]

कवि देखते हैं कि मध्यवर्ग रूपी टीले की दुखभरे कमज़ोर छाती पर पहाड के समान कोई डाकू आ बैठता है । यह डाकू पूंजीवादी डाकू है । प्रगतिशील हवा मध्यवर्ग के चरित्र की कमज़ोरियों को अच्छी तरह जानती है । उसे पता है कि बुर्जुआ दुष्टव्यवस्था को बरकरार रखने में मध्यवर्ग का भी योगदान है । हवा उसे समझाती है -

दस्यु-पराक्रम / शोषण पाप का परंपरा-क्रम / वक्षासीन है / जिसके कि होने में गहन अंशदान / स्वयं तुम्हारा, / इसीलिए, जब तक उसकी स्थिति है, / मुक्ति न तुम को / याद रखो,/कभी अकेले में मुक्ति न मिलती, / यदि वह है तो सब के ही साथ है ।[112]

मुक्तिबोध ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ ढंग से मध्यवर्गीय जीवन का वर्णन किया है । स्वयं मध्यवर्ग के होने के कारण उनमें अपने वर्गगत स्वभाव से लगाव है । लेकिन उनकी चेतना विशाल जन-जीवन की ओर उन्मुख होने की वजह उनके अन्तर यह बेचैनी है कि रोमांटिक स्वप्न और जीवन के संघर्षपूर्ण यथार्थ में से किसको स्वीकारना है । उनका अर्थखोजी मन हमेशा मध्यवर्गीय खोखलेपन का परित्याग करना चाहते हैं । इसप्रकार वर्गापसरण की प्रक्रिया में अनेक परिस्थितियों से उन्हें संघर्ष करना पडा । इस संघर्ष में हारे जाने पर भी वे कभी भी थके नहीं -

पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं, /
जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं ।[113]

"जिन्दगी का रास्ता" मुक्तिबोध की प्रशस्त रचना है । इसमें मध्यवर्ग का अंग रामू के मानसिक संघर्ष का बहुत ही मार्मिक चित्र मिलता है । अपने वर्गगत कष्टमय जीवन के कारण रामू के मन में एक ओर उच्चवर्गीय जीवन के प्रति आकर्षण है तो दूसरी ओर विश्वचेतस् होने के कारण उस मार्ग को स्वीकार भी नहीं करता । अभिजात वर्ग के जीवन की असलियत को जानने के कारण उनके मन में विचारों का द्वन्द्व चलता रहता है । उनके लिए जीवनानुभव व्यापक है । अपने अनुभव निजी वर्ग से परे रहने के कारण ज़िन्दगी के रास्ते की खोज करनेवाले रामू को वह रास्ता तथाकथित उच्चवर्ग की शानदार दुनिया में नहीं बल्कि उन लोगों के बीच में मिलता है जहाँ लोग जिन्दगी के सारे बोझों को ढोते हैं फिर भी अपना जीवन बनाते हैं -

हरहराते भावों के आंसूभरे मानवीय वेग में / आत्मबलिदान की कठोर प्रतिज्ञा कर / जिन्दगी का रास्ता / पूंजीवादी दानवों औ मध्यवर्गीय नपुंसक मानवों / की वंचना-नगरी से छिटककर / टूटे-फूटे घरोंवाली सील-खायी / गलियों के अन्धेरे में / रहनेवाले आगामी युगों के स्रष्टाओं / के चौराहों पर मिलता है ।[114]

वर्ग वैषम्य जनित यथार्थ का चित्रण

अबतक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है । स्वतंत्र और अस्वतंत्र, धनी और निर्धन के बीच हमेशा यह संघर्ष होता रहा । सरल शब्दों में कहें तो पीड़क और पीड़ित एक दूसरे के विरोध में संघर्ष करते रहे । मानव इतिहास के प्रत्येक युग में यह प्रवृत्ति जारी रही । इस वर्ग संघर्ष का परिणाम समाज का संपूर्ण परिवर्तन है । सामन्त युग में यह संघर्ष सामन्तों और उनके दासों के बीच हुआ तो आज इस पूँजीवादी साम्राज्यवादी युग में पूँजीपतियों और मज़दूरों व अन्य शोषितों के बीच हो रहा है । इस वर्ग संघर्ष के संबन्ध में मार्क्स ने मार्क्सिस्टपार्टी के घोषणा पत्र में स्पष्ट रूप से कहा है - "पिछले प्रत्येक समाज का इतिहास वर्ग विरोधों के विकास का इतिहास है, उन वर्ग विरोधों का जिन्होंने भिन्न युगों में भिन्न रूप धारण किया था ।"[115]

साहित्य मानव इतिहास का सौन्दर्यात्मक चित्रण होता है । हमने देखा, मानव का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है । वर्ग विभक्त समाजों में जो वर्ग उत्पादन के साधनों पर प्रभुत्व जमाए होता है वह साधनहीन वर्गों को शोषित करके स्वयं बलवान-धनवान बन जाता है । शोषक वर्ग अपने प्रभुत्व को अमर बनाए रखने के लिए मिथ्या चेतना का प्रचार प्रसार करता है और सत्य को उद्घाटित न होने केलिए भरसक प्रयत्न करता है । इसलिए कि प्रभु वर्ग की सारी प्रभुता शोषित वर्ग के श्रम का परिणाम होती है ।

समाज वर्ग विभक्त है तो साहित्य भी वर्ग विभक्त रहता है । साहित्य जिसमें मानव के विचार, भावनायें परिलक्षित होती है-भी इसके अनुकूल रहता है । समाज में वर्ग संघर्ष मौजूद है तो साहित्य में भी उसकी मौजूदगी अवश्यभावी है ।

जैसे कि सूचित किया गया है कि मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद का गहरा अध्ययन किया था । मानव के प्रति आस्थापूर्ण होने के कारण वे उससे अवश्य प्रभावित भी हुए थे । जिस प्रकार मार्क्सवाद मानव के सामाजिक विकास के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास मानता है उसे मुक्तिबोध भी स्वीकार करते हैं - "समाज तथा उसके भीतर वर्गों की परस्पर संबन्धित स्थिति के अनुसार जो वास्तविक मानव-संबन्ध तैयार होते हैं वे मानव-संबन्ध ही मनुष्य के कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक नियम विधानों में व्यक्त होते हैं । इन मानव-संबन्धों की स्थिति, स्वरूप तथा विकासावस्था के आधार पर, तथा उनके अनुसार हमारी विश्व-दृष्टि, नैतिकता तथा जीवन-मूल्य बनते हैं । यह विश्व-दृष्टि और जीवन-मूल्य हमारी अभिरुचि, संस्कार, शिष्टता की मर्यादाएँ तो बनाते हैं, साथ ही वे वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे दृष्टिकोण का भी निर्माण करते हैं इस दृष्टिकोण को अलग कर अनुभूति की स्थिति असंभव है ।"[116] मार्क्सवाद की सहायता से उन्होंने वर्ग-भेद, वर्ग-चरित्र, वर्ग-संघर्ष, वर्ग शक्तियों का पारस्परिक संबन्ध आदि तमाम बातों का ज्ञान हासिल किया था और अपनी कविताओं में उनका चित्रण भी किया । वर्गविषम्य जनित यथार्थ से परिचित होने के कारण मुक्तिबोध समाज की गहराई तक उतरने और समाज के ज्वलन्त समस्याओं की ओर प्रकाश डालने में सफल हुए । मुक्तिबोध की कविताओं के वर्ग-वैषम्य की भूमिका को नकारनेवालों का खण्डन करते हुए मुक्तिबोध की वर्गीय चेतना और वर्ग-वैषम्य की भूमिका का समर्थन देते हुए डॉ. महेश भटनागर ने लिखा है

"वर्गों में बँटे आज के समाज की वास्तविकताओं से वे भली-भाँति परिचित थे। मार्क्सवाद ने उन्हें वर्गचेतना दी और वर्ग चेतना ने उन्हें समाज की भीतरी पर्तों तक पहुँच सकनेवाली दृष्टि दी। कुछ लोग मुक्तिबोध की इस भूमिका को अस्वीकार करते हैं, जिस प्रकार समाज में व्याप्त वर्ग-संघर्ष की सत्ता को। परंतु लाख अस्वीकार के बावजूद जिस प्रकार समाज में व्याप्त वर्ग संघर्ष आज की सामाजिक व्यवस्था का एक ज्वलन्त सत्य है, उसी प्रकार मुक्तिबोध की वर्ग-चेतना की भूमिका भी।"[117]

मुक्तिबोध साहित्य को सामाजिक उत्पन्न मानते हैं। सामाजिक व्यवसाय तो उत्पादन और आर्थिक शक्तियों पर आधारित है। इनके आधार पर ही विभिन्न वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। समाज के सभी प्रकार की भिन्नताओं का आधार विरोधात्मक व असंगत श्रमविभाजन है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध ने लिखा है - "सामाजिक उत्पादन प्रणाली, कार्यविभाजन के अनुसार विविध वर्ग तथा उनके जीवन-यापन की विशेष प्रणालियाँ ही मानव संबन्धों को निर्धारित करते हैं।"[118]

अत: वर्ग विभक्त समाज में आर्थिक असमानता ज़रूर रहती है। साहित्य में इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक भी है, क्योंकि साहित्यकार का सारा अनुभव सामाजिक है। लेकिन कलावादी साहित्य चिन्तक साहित्य सृजन में मनुष्य को उसकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से अलग कर देखता है। उनका दावा है कि मनुष्य उनकी सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों से स्वतन्त्र है। लेकिन प्रगतिशील साहित्यकार मानव को उसकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से जोड़कर ही मानव की तथाकथित प्रतिभा का भी मूल्यांकन करते हैं। कॉडवल ने सूचित किया है कि संस्कृति उत्पादन प्रणाली से निर्धारित होती है। इसी प्रकार कविता भी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। इससे कवि भी रचना करते समय आर्थिक समस्याओं की ओर ध्यान देना पड़ता है।[119] इस विचार से सहमत होने की वजह मुक्तिबोध भी मानते हैं कि जीवन के वैषम्य के कारण सामाजिक और आर्थिक अंतरविरोध हैं। समाज के वर्ग संघर्ष से वह भली-भांति परिचित हैं और इस वर्ग-भेद को समाप्त करनेवाली शक्तियों को जानते हैं और वर्ग संघर्ष को पूर्ण-निष्कर्षों तक पहुँचाना भी चाहते हैं।

भारत के सामाजिक व आर्थिक परिवेश से मुक्तिबोध पूर्णतः अवगत थे। यहाँ धनवान दिन-प्रतिदिन वैभव संपन्न हो रहे हैं। उनका जीवन भोग-विलास पूर्ण हो रहा है। इसके ठीक विपरीत निर्धन अधिक नीचे गिर जाते हैं। इसके अतिरिक्त मध्यवर्ग में भी दो वर्ग हैं। इस श्रेणी के संपन्न लोग निम्न-मध्य वर्ग के लोगों से बहुत दूर रहते हैं। मध्यवर्ग के उच्चवर्ग अपने वर्ग के गरीबों के साथ देने की अपेक्षा धनवानों के साथ देते हैं। इसके संबन्ध में उन्होंने लिखा है - "भारत की पूरी ऐतिहासिक स्थिति ही ऐसी है कि गरीब वर्ग अधिक से अधिक गरीब होते जा रहे हैं और - धनीवर्ग अधिकाधिक श्रीमान मध्यवर्ग की खाती-पीती-शिष्ट श्रेणी - और उसी वर्ग की गरीब श्रेणी में भयानक खाई पड़ी हुई है जो दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। ये गरीब श्रेणी अब इस नतीजे पर पहुँच रही है कि उसका पूरा उद्धार सभी गरीब वर्गों की मुक्ति के साथ है उनसे अलग होकर नहीं।"[1]

मुक्तिबोध स्वयं इस वर्ग-वैषम्य का शिकार हुए थे। अपने व्यक्तिगत अनुभव को वे समाज के अनुभव के रूप देते हैं। "शोषितों के तुलसीवन में आग लगते" हुए और "शोषकों की शोभायात्रा" में चलते हुए देखते हैं। इन दोनों अवस्थाएँ उनके मन में जीवन के प्रति आलोचना-प्रत्यालोचना को प्रेरित करती है। "शोषित एवं शोषक के जीवन के गहरे वैषम्य को कवि अपने जीवन में पद-पद पर अनुभव करता है। उसके मन के भीतर निरंतर सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण चलता रहता है, उसकी चेतना मानव जीवन की मर्मी आलोचना करती रहती है। उसे यह बात समझे देर नहीं लगति कि मानव के "तुलसी वन में" आग क्यों लगी और वह उस पूरी व्यवस्था को बदल डालने की बात सोचने लगता है।"[121]

मुक्तिबोध कवि का यह प्रथम दायित्व मानते हैं कि वह जीवन के साथ निकट संपर्क स्थापित करे और उसे उसकी समग्रता के साथ ग्रहण करे। इस प्रक्रिया में कवि कभी भी तटस्थ या निरपेक्ष नहीं रह सकता है। उसकी तटस्थता में भी तन्मयता और तन्मयता में भी तटस्थता रहती है। संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं के आधार पर ही यह आत्मविस्तार संभव हो सकता है।[122] शोषित और शोषक वर्गों के बीच जो संघर्ष हमारे ज़माने में आकर इतना बुलन्द बन गया है, उसके प्रति कवि उपेक्षा नहीं दिखा सकते। मुक्तिबोध के अनुसार कवि को आज वैविध्यमय जीवन के कारण आत्मसंघर्ष झेलना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस ह्रासग्रस्त सभ्यता में कविता को अपने सामाजिक परिवेश से सामंजस्य की तुलना में द्वन्द्वात्मकता को स्वीकारना पड़ता है।[123] इस

द्वन्द्वात्मकता कवि को तनाव की स्थिति में ला खड़ा करता है । क्योंकि "आज का कवि एक असाधारण असामान्य युग में रह रहा है । वह एक ऐसे युग में है, जहाँ मानव-सभ्यता-संबन्धी प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठे हैं । समाज भयानक रूप से विषमताग्रस्त हो गया है । चार और नैतिक-ह्रास के दृश्य दिखाई दे रहे हैं । शोषण और उत्पीडन पहले से बहुत अधिक बढ गया है । नोचखसोट, अवसरवाद, भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है । कल के मसीहा आज उत्पीडक हो उठे हैं । अध्यात्मवादी विचारक, जनता से दूर जा बैठे हैं । अधिकांश समीक्षकों का जीवन से कोई संबन्ध नहीं रहा । वे जीवन के कलात्मक साहित्यिक बिंबों की तो व्याख्या करेंगे, किन्तु जीवन से दूर रहेंगे । सर्वत्र क्षोभ, कष्ट, अन्याय और उत्पीडन के दृश्य दिखाई दे रहे हैं । समाज के भीतर के विभिन्न वर्गों की खाइयाँ और भी चौडी हो गयी हैं । यहाँ तक कि मध्यवर्ग में भी दो श्रेणियाँ पैदा होकर अपनी परस्पर खतरनाक तरीके से गहरी और चौडी कर रही हैं । जनपद-स्कूल के शिक्षक और यूनिवर्सिटी प्रोफेसर के बीच, गरीब जनता और खद्दरधारी नेता के बीच, क्लर्क और अफसर के बीच, दूरियाँ और खाइयाँ मुँह फाडे खडी हैं - किसान-मजदूर और पूंजीपति-जमीन्दार के बीच की दूरियों का तो क्या कहना ! मानव-संबन्ध टूट-फूट गये हैं, उलझ गये हैं । समाज के शोषकों, उत्पीडकों और उनके साथियों का ज़ोर बढ गया है । नयी कविता के क्षेत्र में भी दो दल तैयार हो रहे हैं । एक दल वह जो उच्च-मध्यवर्ग का अंग है दूसरे वे हैं जो निचले गरीब मध्यवर्ग से संबन्धित हैं । उनकी वर्गीय प्रवृत्तियाँ न केवल उनके काव्य में, वरन् साहित्य-संबन्धी उनके सिद्धांतों में, परिलक्षित होती है ।"[124] समूचे साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इस वर्ग भेद की खाई बढ रही है । साहित्यकारों का एक वर्ग उच्च-मध्यवर्ग से आया है और दूसरा निम्न-मध्यवर्ग से । जीवन के प्रति इनकी दृष्टि बहुत भिन्न है । इन दोनों वर्गों की अनुभूति अलग-अलग होती हैं । इसलिए उनकी संवेदनात्मकता में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । अधिकांश रूप में निम्नवर्ग के कवियों में प्रगतिशीलता के तत्व दृष्टिगोचर होते हैं । जीवन संघर्ष के कारण इनमें अन्तर्मुखता और भावसघनता होती है । लेकिन काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इनकी रचनाएँ अधिक महत्वपूर्ण नहीं है । लेकिन जीवन को निकट से देखने, परखने और प्रस्तुत करने की कोशिश उनमें अधिक है । समाज का वर्ग-संघर्ष ही उनकी प्रमुख विषय-वस्तु है ।

जैसे कि पहले ही सूचित किया गया है कि मुक्तिबोध की कविता अन्तर्जगत् एवं बाह्य जगत् के यथार्थ चित्रण की कविता है । उनके बाह्य यथार्थ चित्रण में दरअसल वर्ग वैषम्यजनित यथार्थ ही प्रमुख रहा है । उसमें वर्ग-वैषम्य जनित समाज से बचाव का आभास वाकई नहीं है । इसलिए ही उसमें निरंतर नवीनता मिलती रहती है । डा हुकुमचन्दराजपाल इसकी सूचना यों देते हैं - "मुक्तिबोध वर्गीय विषमताग्रस्त समाज से विमुख नहीं होते इसलिए उसे कदम-कदम पर नवीन समाज, लोक मिलते हैं तथा वास्तविक समाज को संगठित कर उसे क्रांति अथवा बदलाव की "अंगारो चेतना" का स्वर समझता है वर्ग विभक्त समाज में अमानवीय कार्य कर रहे है शासक वर्ग और संपन्न वर्ग । शोषित लोग इन वर्गों से त्रस्त रहता है । शोषित वर्ग की दयनीय स्थिति के चित्रण के लिए कवि हरिजन बस्तियों और गरीबों के गांवों का चित्रण करते हैं ।

मुक्तिबोध आत्मसंघर्ष के कवि हैं । यह आत्म संघर्ष उनके अपने वैयक्तिक जीवन की असंगतियों के कारण मात्र नहीं बल्कि बाह्य संघर्षों की प्रतिक्रिया के रूप में भी स्थापित होता है । बाह्य संसार में जितने संघर्ष हो रहे हैं उनसे भी बहतर रूप में संघर्ष से जटिल है । आन्तरिक जगत उनके अनुसार सचमुच आत्मपक्ष और बाह्य पक्ष में कोई अन्तर नहीं है । दोनों वास्तविकता के अंग होते हैं । मुक्तिबोध अपने आत्म संघर्ष का कारण वर्ग वैषम्य में हो ढूँढते हैं । उन्होंने लिखा है - "मेरी अपनी जिन्दगी जिन तंग गलियों में चक्कर काटती रही, उन्हें देखते हुए यही मानना पडता है कि साधारण श्रेणी में रहनेवाले हम लोगों का अस्तित्व संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होना है । मेरा अपन प्रदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है जो उस स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने केलिए पुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हो जिससे कि वे परिव सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें और साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का ऐसा प्रयोग भी कर सकें जो विवेक पूर्ण और लक्ष्योन्मुख हो । जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यंतर लोक में दुख की स्थिति उत्पन्न करती है । यह एक दारुण सत्य है । मैं कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है ।"[126] मुक्तिबोध के इस मत को मान्यता देते हुए नामवर सिंह ने भी लिखा है कि "इस प्रकार आत्मसंघर्ष का गहरा संबन्ध बाह्य सामाजिक संघर्ष से है । जाहिर है कि सामाजिक संघर्ष में भाग लेकर ही इस आत्मसंघर्ष को निर्णायक दिशा की ओर उन्मुख किया जा सकता है ।"[127] इस प्रकार मुक्तिबोध ने आत्मसंघर्ष से वर्ग संघर्ष के महत्व को रेखांकित किया है । दर असल उसकी प्रतिबद्धता एवं पक्षधरता भी इसी में से विकसित हुई है ।

मुक्तिबोध की सारी कविताओं में वर्ग संघर्ष का चित्रण किसी न किसी रूप में हुआ है । इससे उनकी कविताओं की जन संबद्धता स्पष्ट भी हो जाती है । वे जानते हैं सारे उत्पीडक एक जैसे होते हैं चाहे कुछ अधिक शोषण करते हैं तो कुछ कम । अतः एक ओर उनकी कविताओं में शोषकों के प्रति घृणा, आक्रोश का भाव है तो दूसरी ओर पददलितों और शोषितों के प्रति सहानुभूति की बाढ दिखाई देती है । समाज में हो रहे वर्ग संघर्ष और विभिन्न वर्गों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया वे "दो ताल" कविता में स्पष्ट करते हैं -

विकराल मानव-शत्रु से / दोनों परस्पर मित्र प्रतिक्षण जूझते - /
मुझ में घृणा का दैत्य जो नंगा खडा, / औ' स्नेह का शुचि-कान्त मादक देवता ।
चल रही है जिन्दगी की राह / मादक राग-सी दो ताल पर /
गहरी घृणा के, स्नेह के ।[128]

वह वर्ग वैषम्य के चित्रण द्वारा शोषित वर्ग के संघर्ष के साथ शोषकों की संत्रस्त मानसिक स्थिति का भी उन्मीलन करते हैं । "लकडी का बना रावण" का प्रतिपा यही है । लकडी का बना रावण शोषण व्यवस्था का प्रतीक है । वह अपने को पर्वत शिखर पर स्वतन्त्र, सत्‌चित् और सुरक्षित मानता है । इसकी नीति दमन तंत्र की है -

इस शैल शिखर पर, / खडा हुआ दीखता है एक द्यौःपिता भव्य /
निःसंग / ध्यान-मग्न ब्रह्म / मैं ही वह विराट पुरुष हूँ /
सर्वतंत्र, स्वतन्त्र, सत्-चित् !! / मेरे इन अनाकार कन्धों पर विराजमान /
खडा है सुनील / शून्य / रवि-चन्द्र-तारा-द्युति-मंडलों के परे तक ।[129]

फिर भी उसे इस बात की समझ है कि अब स्थिति खतरे से खाली नहं है । साधारण जनता उसके विरोध में संघर्ष के पथ पर अग्रसर हो रही है । वह उसक सत्ता के स्वर्णाभशिखरों पर आक्रमण करने को सुसज्जित होकर आ रही है । पत्थर व काले रंग के इन लागों के मुख उसकेलिए परिचित है ।

शोषकों ने कभी भी शोषितों के अधिकारों को मान्यता नहीं दी है ये उन्हें केवल "भीड" मानते आये हैं और शोषण सभ्यता के अत्याचारों के विरोध में उठनेवाली क्रांति-चेतना को हमेशा दिमाग की भ्रांति मानते हैं -

बढ न जायँ / छा न जायँ / मेरी इस अद्वितीय / सत्ता के शिखरों पर स्वर्णाभ,
हमला न कर बैठे खतरनाक / कुहरे के जनतंत्री / वानर ये, नर ये !!
समुदाय, भीड, / डार्क मासेज़ ये मॉब हैं / श्यामवर्ण मूढों के दिमाग खराब है,
हलचले गडबड, / नीचे थे जब तक / फासलों में खोये हुए कहीं दूर, पार थे ,
कुहरे के घने-घने श्याम प्रसार थे ।[130]

मुक्तिबोध की कविताओं में वर्ग-संघर्ष से जनित क्रांति-चेतना की अभिव्यक्ति भी मिलती है । "चांद का मुह टेढा है" कविता का वातावरण वर्ग संघर्ष को साकार कर देता है "पोस्टर" को इसमें वर्ग संघर्ष के माध्यम के रूप में चित्रित किया गया है ।[131] इसमें ए स्थान पर पेन्टर और कारीगर के बीच संवाद चल रहा है । इसके द्वारा कवि यही र करना चाहते हैं कि वर्ग-संघर्ष में कलाकार की सार्थकता कहाँ तक है । याने वह पेन्टर पोस्टरों के द्वारा यथार्थ स्थिति को जनता के सामने अनावृत करना चाहते हैं । लेवि कारीगर जिन्दगी के आर्थिक संघर्ष से निराश है । उसमें चित्र खींचने की अदम्य इच ज़रूर है फिर भी उनका मत है कि सारी अभिलाषाएँ अन्ध हैं और ऊपर के कमरे ब लेकिन पेन्टर उसे समझाता है और कहता है -

गलत है यह, भ्रम है / हमारा अधिकार सम्मिलित श्रम और /
छीनने का दम है ।[132]

पेन्टर के इन शब्दों में मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित वर्ग-सं स्पष्ट लक्षित है । यहाँ पेन्टर, पोस्टर को वर्ग-संघर्ष को धधकाने को साधन आदमी की वेदना से लिखे जानेवाले लाल घनघोर धधकते पोस्टर मनुष्य के वे को पुकार कर कहेंगे -

फिलहाल तस्वीरें / इस समय हम / नहीं बना पायेंगे / अलबत्ता पो
जायेंगे । / हम धधकाएँगे । / मानो या मानो मत / आज तो च
पोस्टर ही कविता है !! / वेदना के रक्त से लिखे गये / लाल-ल
धधकते पोस्टर / गलियों के कानों में बोलते हैं / धडकती छाती व
गरमी में / भापु-बने आसू के खूंखार अक्षर !![133]

मुक्तिबोध समझते हैं कि वर्ग-संघर्ष सर्वव्यापी है । यह मालिक और मज़दूर से सरकार औ जनता तक व्याप्त है । सरकार आमतौर पर शोषकों का पक्ष लेती है और जनता को द देती है । मुक्तिबोध की कविताएँ इस संघर्ष को हूबहू अभिव्यक्ति देती हैं । नामवर ि ने लिखा है - "मुक्तिबोध के काव्य-संसार की पटभूमि में असंदिग्ध रूप से ऐसी शासन-व्यवस्था सत्ता है, जो निहायत चालाक होने के साथ ही आततायी है । करफ्यू और मार्शल-लॉ इस सत्ता के आम तरीके हैं ।"[134] "चकमक चिनगारियाँ" कविता में आम जनता को चकनाचूर करने के लिए शासकीय स्तर पर होनेवाले अत्याचार को कवि ने यों शब्दबद्ध किया है -

> शहरी रास्तों पर भीड़ से मुठभेड़ । / जमकर पत्थरों की चीखती बारिश /
> व गालियों के तेज़ नारंगी / धड़ाकों में उछलती आग की बौछार ।
> / मुझ पर क्षुब्ध बारूदी धुएँ की झार आती है / व उन पर
> प्यार आता है / कि जिनका तप्त मुख / सँवला रहा है / धूम लहरों में कि
> जो मानव भविष्यत्-युद्ध में रत है, / जगत् की स्याह सड़कों पर ।[135]

इस वर्ग-संघर्ष में पीड़ित और शोषित लोगों को कवि मानव-भविष्य के निर्माण के लिए जिन्दगी की स्याह सड़कों पर युद्ध रत मानते हैं । क्योंकि अपने सारे भौतिक अभावों के बावजूद ये लोग संसार को जीवित रखने में संघर्षरत रहते हैं । उनके यहाँ ही संसार के सारे स्वच्छ व स्वस्थ भाव पोषित होते हैं । जिस ब्रह्मदेव की छत्रछाया में धनवान, और धनवान हो जाता है और निर्धन अधिक गरीब ।[136] उसके अन्यायपूर्ण व्यवहार से जिस प्रकार एक ओर कुछ लोगों का जीवन सुखमय हो जाता है और दूसरी ओर अधिकांश जनता का जीवन के अभावों के बीच अवमानित हो जाते हैं इसकी सूचना मिलती है आगे की पंक्तियों में -

> रिफ़्रीजरेटरों, विटैमिनों, रेडियोग्रैमों के बाहर की / गतियों की दुनिया में /
> मेरी वह भूखी बच्ची मुनिया है शून्यों में / पेटों की आंतों में न्यूनों की पीड़ा है
> छाती के कोषों में रहितों की व्रीड़ा है ।[137]

वर्गों में विभक्त समाज में उच्चवर्ग और शासक वर्ग निम्नवर्ग का शोषण करता रहता है । यह वरेण्य वर्ग निम्नवर्ग के शोषण को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है । निम्नवर्ग के प्रताड़ित लोगों की दीनता उनके लिए कुछ भी मूल्य नहीं रखती है । "किसी से" शीर्षक कविता में इस वर्ग वैषम्य की अत्यंत ज्वलंत तस्वीर उपलब्ध है -

सारे प्रमाद करने का अधिकार उन्हें, / अपराध सत्य-सा रेंगने का अधिकार उन्हें, उनके तो सारे मनोभाव नित्य सत्य-रूप हैं । / उनके प्राण महासागर हैं / बाकी सारे अन्धकूप हैं । / उनकी व्यथा-वेदना की स्वतन्त्र-सत्ता है, / उसकी अपनी अलग महत्ता, / उसका मूल्य / सदा तुम-तुम से परे उच्च है । / उसकी अपनी अलग इयत्ता । / उनका सारा अहंभाव भी अति सुन्दर है, / स्वाभाविक है, मानवीय है, / लेकिन तेरे मनोभाव / वह क्षोभ, द्रोह-सब भद्दे हैं, सब दानवीय हैं । / उनका व्यंग्य सत्य की उज्ज्वल चिनगारी, / औ तेरा भद्दा क्रोध हाय वह सारी गाली । / वे शासक हैं - उनमें शासन की वाणी है, / तू बौनी है ।[13]

इस वर्ग विभाजित समाज में मानव की इज्जत नहीं के बराबर है । क्योंकि ऐसे समाज क बुनियाद पैसा है । यहाँ धन ही मान और मूल्य का मापदण्ड रह गया है -

केवल मानव की इज्जत क्या / कभी कर सकी दुनियादारी ? / सारा स्नेह, शक्ति, गुण, प्रतिभा रहती धन-सीमा से सीमित / यह है अन्तिम सत्य अनाहत / इस सारे समाज के वक्ता सारे / सत्य और आदर्शवाद ही / नित बरतें, उसको खाते, उसको पीते / और चाट जाते हैं, रुचि से ।[139]

इस समाज में सत्य का रूप परंपरावादी है । शोषण तो स्वीकृत शिष्टाचार है । इस समाज के अधिकांश सत्य समय के टकराव से असत्य या गलत साबित हुए हैं । यह परंपरा धारणा है कि मनुष्य को कर्मफल पर अधिकार नहीं । मुक्तिबोध ने इस परंपरागत धारण को वर्ग वैषम्य युक्त समाज में शोषण को बरकरार रखने का बहाना मानते हैं -

समूहीकृत गुणों में है निर्गुण / अपौरुषेय, झूठ, / भयंकर दुःस्वप्न का विश्व-रूप, / कर्म के फल पर नहीं-कर्म पर ही अधिकार / सिखानेवाला वचन का आडंबर ।[140]

जब समाज में प्रचलित विचारधारा परंपराबद्ध हो जाती है तब नयी विचारधारा का ज स्वाभाविक है । नये सत्य के साक्षात्कार से समाज में नयी तरंगें उमड पड़ती है । सत्ता और व्यवस्था इसे पसंद नहीं करतीं । क्योंकि परंपरावादी सत्यों के सहारे ही अपने अधिकारों को सुरक्षित रखते हैं । अपने को "विराट, स्वतंत्र, सर्वतंत्र और सत्-चित्" माननेवाले ये लोग अपनी प्रभुता को खतरे में "डालना कदापि पसंद नहीं करते । इसलिए ये नये विचारों को सहते भी नहीं । अतः उनके खिलाफ सभी प्रकार के अत्याचार जुटा के वास्ते कमर बांध लेते हैं । जो उनके यथार्थ को नंगी रूप में देख लेते हैं उनका जीवन खतरे में पड जाता है -

मारो गोली, दागो स्साले को एकदम / दुनिया की नज़रों से हट कर /
छिपे तरीके से / हम जा रहे थे कि / आधी रात - अन्धेरे में उसने /
देख लिया हम को / व जान गया वह सब / मार डालो, उसको खत्म करो
एकदम" / रास्ते पर भाग-दौड धक्का-पेल !! / गैलरी से भाग मैं पसीने से
शराबोर !![141]

मुक्तिबोध की रचनाओं में वर्ग-संघर्ष को प्रभावशाली बनाने के लिए, अभिव्यक्ति के सारे खतरों को उठाने की अभूतपूर्व आज्ञाशक्ति दिखाई देती है। कभी कभी वे जासूसी और रोमांचकारी कहानी के सांचों का इस्तामाल करते हैं तो कहीं पागल, मणि धर नाग, माँ और शिशु और रावण, वासुदेव जैसे पौराणिक प्रतीकों को अपनाते हैं। ये सब वे इसलिए नहीं प्रयुक्त करते हैं कि इनके द्वारा उनकी कविताएँ अधिक सुन्दर हो जाएँ बल्कि इसलिए कि आज के वर्ग-विभक्त समाज का चित्रण सार्थक और संवेदनपूर्ण हो। डा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी इसे यों सूचित करते हैं - "लेकिन इन सब का उपयोग वर्गों में विभक्त समाज और सत् और असत् के संघर्षयुक्त समसामयिक सच्चाई का ठोस, सघन और बांध देनेवाली अभिव्यक्ति के लिए करते थे।"[142]

वर्तमान आधुनिक समाज में भी अन्यायी और अधर्मी कौरव का शासन ही चल रहा है। लेकिन जो भलेमानस होते हैं, जो सत्य और धर्म के रास्ते पर चलना चाहते हैं, जिनमें अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध शब्द उठाने का साहस होता है वे भी किसी न किसी कारण उन अत्याचारी और दंभी लोगों का साथ देने केलिए मज हो जाते हैं। जैसे कौरव सभा में द्रोण, कर्ण, कृप, सात्यकि और भीष्माचार्य पांचाली वस्त्रउतार के संदर्भ में अपनी आँखें बंदकर बैठने के लिए मजबूर, हुए थे। आज भी वैसा ी हालत है। "कौरव नगरी" में वह लिखते हैं -

इस नगरी हमें कौरव के घर / वीर द्रोण की थकन भरी है भूरी-भूरी /
पोली है सूरत अनचाहों की सेवा में / कुन्ती-पुत्र कर्ण-कृप-सात्यकि की ग्रीवा में /
की गर्दन का पट्टा / दुखते हिय से भीष्माचार्य की मजबूरी / कौरव के घर।[14:]

वर्ग-संघर्ष का परिणत रूप वर्गहीन समाज की स्थापना है। मार्क्स अ एंगल्स के अनुसार - "अन्त में वर्ग संघर्ष बढता-बढता जब निर्णायक घडी पर पहुँच जाता तो शासक वर्ग ही नहीं, संपूर्ण पुराने समाज के अन्दर टूट-फूट की क्रिया इतना उग्र औ

स्पष्ट रूप धारण कर लेती है कि स्वयं शासक वर्ग का एक छोटा-सा हिस्सा अलग होकर क्रांतिकारी वर्ग के साथ-उस वर्ग के साथ जिसके हाथ में भविष्य की मशाल है - आ मिलता है।"[144] इसी प्रकार वर्ग-वैषम्य का चित्रण करते हुए भी मुक्तिबोध वर्ग-वैषम्य को मिटते देखना चाहते हैं। समाज का आमूल परिवर्तन उनका अभीष्ट है। लेकिन वह यह नहीं मानते कि सामाजिक परिवर्तन धीरे-धीरे संभव है। अहिंसा से समाज को परिवर्तित करने के लिए बहुत काल से परिश्रम चलता आ रहा है। फिर भी वर्ग वैषम्य मिटकर समाज का आमूल परिवर्तन अब तक संभव नहीं हो सका है। समाजवाद की कल्पना कल्पना मात्र रह गयी है यह बात मुक्तिबोध अच्छी तरह जानते हैं। वह यह भी जानते हैं कि अवसरवादी सुविधाभोगी और साम्राज्यवादी लोग समाज के परिवर्तन में बाधाएँ डालते हैं। फिर भी मुक्तिबोध अपनी आकांक्षा और चाह नहीं छोडते - डा. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में "मुक्तिबोध में वर्ग वैषम्य को मिटाने की भावना इतनी गहरी है कि स्वप्न में भी उनका काव्य-नायक उससे अपना पिंड नहीं छुडा पाता।"[145]

मुक्तिबोध के अनुसार शोषण रहित वर्गहीन समाज की स्थापना तभी संभव हो सकती है जब व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार के द्वारा "स्व" का संशोधन करके अपने को प्रतिबद्ध बनाता है। तब व्यक्ति को अपनी स्वार्थ सिद्धियों को नकारना पडता है। व्यक्ति को आत्मसंघर्ष से जूझना, पडता है। रचना प्रक्रिया के तीन क्षणों में दूसरा क्षण "स्व" की संकुचित सीमा से ऊपर उठने का आत्म संघर्ष का क्षण है। कवि के शब्दों में "दो, कलात्मक चेतना के अंगस्थ संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, जीवन-जगत् में भोगने रमने, अपने को निजबद्धता से अधिकाधिक दूर करने और अधिकाधिक मानवीय बनाने के आत्मसंघर्ष।"[146] मुक्तिबोध अपनी कविताओं में बाह्य जगत् में चलनेवाले संघर्ष को आत्म संघर्ष के रूप में व्यक्त करते हैं। लेकिन उनका लक्ष्य तो शोषण मुक्त समाजवादी समाज। मुक्तिबोध की कविताओं के मूलकथ्य की ओर इशारा करते हुए इसकी सूचना शशिशर्मा ने दी है - "मुक्तिबोध के काव्य का मूल कथ्य वह संघर्ष है जो आत्मसंघर्ष के माध्यम से संघर्ष की ओर अग्रसर होता हुआ एक शोषण रहित वर्गहीन समाज की कल्पना करता है। इसलिए कवि व्यक्ति से अपने कंधों पर शोषक वर्ग के दस्यु को लेकर लुढ़कते चलने की राय देते हैं जिससे वह पिस जाएगा। यहाँ कवि "लुटेरे गिरोहों" और "पीडित जनों" में चलनेवाले वर्ग-संघर्ष को व्यक्त करते हैं। इस वर्ग संघर्ष में "लुटेरे गिरोहों" का नाश चाहते हैं कवि। यहाँ वे अहं के टूटने की आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं -

अपने ही दरों के / लुटाके इलाकों में जोरदार / आज जो गिरोह हैं, /
पीड़ित जनों को / जनसाधारण को उनकी ही टोह हैं / पूर्ण विनाश
अनस्तित्व का चरम विकास है । / इसलिए दुष्ट् आत्मन् / कट जाओ
टूट जाओ / टूटने से जो विस्फोट शब्द होगा / गूंजेगा जग भर /
किन्तु, अकेली की तुम्हारी ही वह सिर्फ / नहीं होगी कहानी ।[148]

मुक्तिबोध अपनी कविताओं में इच्छित जीवन-उद्देश्यों को काव्य रूप देते हैं । इनमें प्रमुख है वर्गहीन समाज की कल्पना । इस वर्ग हीन समाज की स्थापना से प्रेरित होने के कारण ही कवि को जीवन के विविध क्षेत्रों में संघर्ष का सामना करना पडता है । इसलिए वे राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण और अन्याय के प्रति संघर्ष करते हैं लेकिन उनके संघर्ष में अराजकवादी तत्वों के लिए कुछ भी स्थान नहीं है । उनकी कवित में अभिव्यक्त संघर्ष मानव मूल्यों पर आधारित है । उनकी स्थापना के लिए वे पूरे मन साथ प्रयत्नरत रहते हैं । "मुक्तिबोध ने तो अपनी कविता संबन्धी धारणा को ही अप जन-संघर्ष की अपरिहार्यता से एक कर दिया है और इसी शोषण और अन्याय से मुक्ति लिए उत्प्रेरित जनसंघर्ष के विविध आयामों और आत्मीय छवि-चित्रों के चित्रण में ही उ वर्गहीन समाज के निर्माण की परिकल्पना व्यापक मानवमूल्यों से जुडते हुए सार्थक होती

शोषण और शोषित जनता का चित्रण

मुक्तिबोध कला या साहित्य को उपयोगिता की दृष्टि से देखते हैं । इसलिए साहित्य को व्यक्तिगत अभिव्यक्ति मानने पर भी जनता से संबंधित रहने की आवश्यकता पर वे बल देते हैं । उनके अनुसार लेखक का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत न ह सामाजिक एवं सामूहिक है । साहित्य में मार्गदर्शन का भाव होने से कोई आपत्ति न है - "जिन्दगी को जीने और ले चलने का उत्साह और दीप्ति हमें काव्य से मिलनी चाहिए । जीवन के विविध अनुभवों के सामान्यीकरण से उत्पन्न जो निष्कर्ष रूप दी है वही दे सकती है । कविता यदि जीवन का लालटेन हो सके इसका हमें प्रयत्न कर होगा ।"[150]

यह बात तभी संभव हो सकती है जब साहित्य जीवन के विविध पक्षों के अनुभव-निष्कर्षों पर आधारित हो । इस जीवन के विविध पक्षों का अनुभव तबतक अधूरा रह जाता है । जब तक उसमें उत्पीडित और शोषित मुखों के बिंब दिखाई नहीं देते, उनके हृदयों का आलोक दिखाई नहीं देता ।[151]

इस महान साहित्यिक विचार से युक्त मुक्तिबोध की सारी रचनाएँ शोषि जनता के लिए समर्पित हैं, ऐसा कहना कोई अतिरंजना की बात नहीं । मानव के इतिहास का गहरा अध्ययन उसे यह ज्ञान देता है कि सारी मानव-राशी का निर्माण समाज के उच्चवर्ग से अपमानित और शोषित "भीड" कहलानेवाली आमजनता से हुआ है । इसलिए मुक्तिबोध में इस साधारण जनता के प्रति निरंतर हमदर्दी दिखाई देती है । इस पर डा. वीरेन्द्रसिंह का ख्याल है - "भीड के प्रति कवि का एक रागात्मक संबन्ध था क्योंकि वह उसी वर्ग का व्यक्ति था । उसके शोषण के प्रति वह सचेत था, उसका विवेक उस शोषण को एक गहरी संवेदना से व्यक्त करता था । इतिहास की पूरी प्रक्रिया इसी शोष या यू कहें कि जन-शोषण की एक घिनौनी प्रक्रिया है जो कवि को दर्द और व्यथा से भर देती है । यह दर्द या व्यथा आरोपित नहीं, बल्कि कवि का अपना भोगा हुआ यथार्थ है जो उसकी रचना-प्रक्रिया में घुलमिल गया है ।"[152]

मुक्तिबोध ने कभी भी शोषित एवं अभावग्रस्त भारतीय समाज की वेदना से पलायन नहीं किया बल्कि सदा ही उससे एक प्राणमय प्रेरणा ग्रहण करते रहे । भारती जनता की उनकी अपनी वेदना है । लेकिन इस वेदना के सम्मुख उन्होंने समर्प नहीं किया इस लिए आँसू बहाने के स्थान पर वे आक्रोश और विद्रोह को अन्तस् में लिए हमेशा संघर्ष होते दिखाई देते हैं । लेकिन यह संघर्ष अपनी शोषित अवस्था से उभरने के लिए नहीं ब सारी मानवता की मुक्ति के लिए लक्षित है । इस प्रकार सारी मानवता से नाता जो यह व्यापक दृष्टि के पीछे मार्क्सवाद ही काम करता था । इसे चंचल चौहान ने यों सू किया है - "मुक्तिबोध की रचनाओं के पीछे एक विश्व-दृष्टि है । यह विश्व-दृष्टि शोषित जन से प्रतिबद्धता का विज्ञान - मार्क्सवाद - ने दी है ।"[153]

लेकिन मुक्तिबोध के साहित्य-चिन्तन में मार्क्सवाद पूर्ण रूप से हावी ; ऐसा समझना युक्तिसंगत नहीं । क्योंकि वे अपने गद्य लेखों और काव्य रचनाओं में अपन विचारधारा को मौलिक सिद्ध करते हैं । शोषित जनता को देखने-परखने की उनकी दृ में मार्क्सवाद का योगदान निर्विवाद होने पर भी उसे मात्र मार्क्सवादी प्रभाव घोषि करना ठीक नहीं है । उनकी कविताओं का वस्तुनिष्ठ अध्ययन इस बात को प्रमाणि

करेगा कि वह शोषित जनता के हमराही थे। मार्क्सवाद का अध्ययन उन्हें शोषितों से और प्रतिबद्धित करता है।

अतः हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध के लिए यह पीड़ा कोई अलंकार की चीज़ नहीं थी जिससे उनके काव्य-सौन्दर्य दुगुना हो जाए - "एक संघर्षशील भुक्त-भोगी की हैसियत से उन्होंने इस यथार्थ को अनुभूत किया था, और उसपर उनका प्रातिभिक व्यक्तित्व। इसलिए उन्हें शोषण के दोहरे पक्ष [शारीरिक व बौद्धिक] को व्यक्त करने का अवसर मिला। मार्क्सवादी चिन्तन ने उन्हें स्वानुभूति को व्यापक सामाजिक धरातल पर व्यक्त करने का आधार दिया सिद्धांत और संवेदना के जुड़ाव के फलस्वरूप उन्होंने अपने रचनात्मक चिन्तन को भी भारतीय संस्कृति के संदर्भ में सामाजिक संपृक्ति को अपरिहार्य स्थिति से समन्वित किया।"[154]

भारत की अधिकांश जनता अभावग्रस्तता और व्यवस्था के क्रूर हाथों से निरंतर प्रताड़ित रहती है। मार्क्सवाद में पीड़ित और शोषित किसान-मज़दूर वर्ग सर्वहारा के अन्तर्गत आते हैं जबकि मुक्तिबोध इसे व्यापक सन्दर्भ में देखते हैं। जैसे डाक्टर वीरेन्द्र सिंह मुक्तिबोध के संबन्ध कहते हैं - "मार्क्स ने "सर्वहारा" को शोषण-चक्र में पिसता हुआ माना है पर मुक्तिबोध ने भारतीय संदर्भ को ध्यान में रखकर उसे विशाल जन-समूह को सर्वहारा माना है जो गरीबी, तन्त्र, और व्यवस्था की विसंगतियों में पिस रहा है।"[1]

इस सर्वहारा के साथ मुक्तिबोध की जो निकटता होती है वह आरोपित ज़रा भी नहीं मालूम होती है। उनमें जिम्मेदारी का भाव है मुख्य रूप से। अपने व्यक्तित्व विस्तार के द्वारा व्यक्ति की सीमा से ऊपर उभरने का परिश्रम है उनमें चाहे उससे उन्हें महान संघर्ष झेलना पड़े। "यह सर्वहारा उन्होंने बाहर भी देखा है और अपने भीतर भी। इसीलिए उनकी कविताओं को जो नव-सत्य सौंपा गया है वह भी उसी ने दिया है। कवि ने इस नव-सत्यरूपी शिशु को गोद लिया है और अपनी ज़िम्मेदारी निभाई है। इस ज़िम्मेदारी को निभाने के लिए उसने अपने आत्मा को विस्तृत किया अकेलेपन की गुंजलक से निकल कर उसने अपने व्यक्तित्व का विलय सर्वहारा वर्ग में करके द फैलेफैलेपन की मिठास को अनुभव किया है।"[156]

मार्क्सवाद सारे संसार की निंदित-व-पीडित जनता के लिए प्रतीक्षा और प्रेरणा का स्रोत है । इसी दृष्टि से मुक्तिबोध अपनी सारी सहानुभूति इस प्रताडित जनता के प्रति उंडेलते हैं । डा. हुकुमचन्दराजपाल सूचित करते हैं - "जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं उसकी दृष्टि मार्क्सवादी हो जाती है और वह आम लोगों के दुख-दर्दों की पहचान कविता में करवाता है । इसलिए जीवन की सार्थकता गरीबों के प्रति सहानुभूतिमय मानता है ।"[157] मुक्तिबोध के अनुसार शोषित जनता के चित्रण मात्र से कवि के कर्तव्यों की समाप्ति होती नहीं है । उसे शोषण की समाप्ति के लिए जो निरंतर संघर्ष होगा उसमें शोषित वर्ग को विजय के लिए उसका साथ देना होगा । मुक्तिबोध के शब्दों में "शोषण और सत्ता के घमण्ड को दूर करनेवाले स्वातन्त्र्य और मुक्ति के गीतोंवाला साहित्य ही" श्रेष्ठ साहित्य है ।

यहाँ मुक्तिबोध की विशेषता इस बात में है कि उनकी कविताओं में मात्र सहानुभूति नहीं, बल्कि शोषण चाहे शारीरिक हो या बौद्धिक उससे सारी मानवता को मुक्त करने का अन्यादृश्य तडप है । मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरणा पाकर कवि अपनी सारी सहानुभूति सर्वहारा-वर्ग के प्रति प्रकट ही नहीं करते बल्कि उसके संघर्षमय जीवन को कुछ संगत निष्कर्षों तक पहूँचाना चाहते हैं । वे सर्वहारा वर्ग को सारे आर्थिक शोषणों से मुक्त होकर सुख और समता का जीवन बिताते देखना चाहते हैं । इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं में शोषित मानवों और उनके जीवन के प्रति सहानुभूति, शिशुओं के प्रति वात्स दृष्टि, जड परंपराओं और सामाजिक विसंगतियों का शिकार बनी नारी के प्रति स्नेह और सजल दृष्टि की अभिव्यक्ति मिलती है ।

इतिहास के सच्चे ज्ञाता और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से युक्त ह के नाते मुक्तिबोध जानते हैं, अब तक के सारे मानव समाजों की पीडा का कारण जीव विविध स्तरों पर होनेवाला शोषण ही है । वे यह भी जानते हैं कि शोषित-जनता पीड़ा पर ही अब तक के सारे के सारे दर्शनों और विचारों का निर्माण हुआ है । इतिहास की नींव इस शोषण प्रक्रिया पर रखी हुई है । संसार की सारी "फिलासफी का ढांचा इस पर बनाया गया है । कवि इसकी सूचना यों देते हैं -

> कसकते हैं खून-भरी आंखों में सत्यें के अणु-रेणु / दुखते ही रहते / दिख नहीं पाते हैं,/ दिख नहीं पाते / पर, कुछ उनकी ही पीडा की बुनियाद पर ही / खडा किया गया एक ढांचा, / ऐ फिलासफी ।[159]

इस ऐतिहासिक कलंक को जो मानवराशी के चेहरे पर पडे हुए है । उसके प्रसारण में समाज के कुछ बुद्धि-जीवियों का भी हाथ है । रक्तपायी वर्ग से नाभीनाल संबन्ध रखनेवाले ये लोग अपने सामने प्रकट इस ऐतिहासिक सत्य से पूर्ण रूप से अवगत होने पर भी उसे छिपाने की कोशिश करते हैं । उसके प्रति इन लोगों में तिरस्कार का मनोभाव है । अपनी नपुंसकता की प्रवृत्ति के कारण ये लोग चुप्पी का साथ लेते हैं -

> सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक् / चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं / उनके खयाल से यह सब गप है / मात्र किंवदन्ती । / रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग / नपुंसक भोग-शिरा- जालों में उलझे ।[160]

लेकिन मुक्तिबोध इनसे बिलकुल अलग हैं । मानव समाज में हो रहे शोषण के प्रति वह आँखें मूंद नहीं सकते । वह यथार्थ के कवि हैं । "चंबल की घाटी में" मुक्तिबोध की बहुचर्चित कविता है । इसमें कवि ज़माने के शोषण तंत्र को साकार कर देते हैं । कवि इन्हें देखने केलिए मज़बूर और विवश हैं । उनके अनुसार ये शोषण की हरकतें चंबल की घाटियों में घटित बर्बरता के समान ही हैं ।

> यों मेरी कविता है बिना-घर / बिना-छत गिरस्तिन, / जिसमें कि मेरा भाव / ज्वलन्त जागता / जिसे लिए हुए मैं / देख रहा ज़माने की गयी परिपाटियाँ, / चंबल की घाटियाँ । [161]

वर्तमान समाज की नृशंसता आम जनता की जिन्दगी को बरबाद कर र है । इसके लिए समाज उपयुक्त तरीकों को अपनाता है । इसके द्वारा बनाये हुए सारे नियम साधारण लोगों के गले घोंटकर उन्हें नाश की भीषण गर्त में निर्मम फेंक देते हैं । शोषण की नीति से बनाए गए स्याह चक्रव्यूहों में पडकर जनता तड़प रही है । कवि मन में इन निरीह जनता की याद हमेशा सजीव रहती है । उन्हें उसकी करुण पुकार करुण पुकार सी लगती है -

> शोषण की सभ्यता के नियमों के अनुसार / बनी हुई संस्कृति के तिलस्मी / सियाह चक्रव्यूहों में / फंसे हुए प्राण सब मुझे याद आते हैं ; / मर्माहत कातर पुकार सुन पडती है / मेरी ही पुकार-जैसी चिन्तातुर समुद्विग्न ।[162]

अतः मुक्तिबोध के काव्य में सर्वत्र शोषित जनता उभर आयी है । उसके प्रति कवि के मन में सहज उद्भूत आकर्षण की वजह से ही कवि के हृदय में बिजली के झटके भी उठते हैं -

> चाहें जहाँ, चाहे जिस समय उपस्थित / चाहे जिस रूप में / चाहे जिन प्रतीकों में प्रस्तुत, / इशारे से बताता है, समझाता रहता, / हृदय के देता है बिजली के झटके ।

"सूखे कठोर नंगे पहाड" नामक कविता का पहाड युगों से चले आनेवाले शोषण का प्रतीक है इस पहाड की काली छाया इतपर्यंत तक की सारी समस्याओं को पतन के गर्त में डालने की कोशिश करते आ रही हैं । इसने मानव मन की सारी सद्भावनाओं को कुचल डाला । मानव और समाज के विकास में यह बाधा डालती है । बाधाओं के ये काले जिन्न शोषण में प्रसन्न हैं -

> मानव की बाधाओं के हैं जो स्याह जिन्न / ये अहं-गर्भ, अज्ञान-प्राण, शोषण-प्रसन्न / युग-युग की संचित "संस्कृति" के ये सड रूप / हैं खडे हुए उद्धत अखण्ड / उद्दण्ड विजड खल्वाट-शीर्ष / रख आसमान में दर्पपूर्ण, / काले पत्थर का तान धृष्टतापूर्ण सीना कठोर / हैं रहे रोक आतुर वर्षा लेकर आती व्याकुल समीर / इनसे टकरा आहत होकर वापिस जाती ठण्डी बयार / कर गिरफ्तार ये शिला-वक्ष शैतान घोर ! / सूखे पहाड नगे कठोर ।[164]

शोषित जनता की अभावग्रस्तता और संघर्ष ने स्याह पहाड का रूप धारण कर लिया है -

> आज के अभावों के व कल के उपवास के / व परसों की मृत्यु के / दैन्य के, महा अपमान के, व क्षोभपूर्ण / भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का / दीखता पहाड / स्याह ।[165]

आर्थिक व्यवस्था का उन्मीलन

मुक्तिबोध मार्क्सवादी रचनाकार होने के कारण उनकी कविताओं में शोषण के पीछे की आर्थिक परिस्थितियों की जांच होना स्वाभाविक है । उन्हें अच्छी तरह मालुम है कि पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था ही शोषित-वर्ग की शोचनीय अवस्था का कारण है । इसलिए कवि उस शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था को उस क्रूर ब्रह्मदेव की संज्ञा देते हैं जिसकी असमान नीति में धनवान अधिक धनी और निर्धन अधिक गरीब हो जाता है -

उस ब्रह्मदेव का दर्शन सभी कर सकेंगे, / जिसकी छत्र छाया में रह /
अधिकाधिक दीप्तिमान होते / धन के श्रीमुख, / पर, निर्धन एक-एक
सीढ़ी नीचे गिरते जाते ।[166]

मुक्तिबोध के अनुसार ब्रह्मदेव हमेशा धनिकों और शोषकों का साथ देने से गरीबों का जीवन इस संसार में कठिनतर हो रहा है । ब्रह्मदेव इन गरीबों से इस धरती पर रहने को "रक्त-किराया" मांगता है । कवि का व्यंग्य कितना पैना होता है देखिए

थर्राता रहता विराट् हिम का जाड़ा / तन कण-कण में /
वह दुष्ट ब्रह्म कर रहा जबर्दस्ती वसूल / हमसे तुमसे /
यह रक्त-किराया, अस्थि-मांस-भाड़ा / धरती पर रहने का ।[167]

मुक्तिबोध जानते हैं कि समाज के शोषण की नींव पूंजीवादी व्यवस्था ही इस पूंजीवादी शोषण नीति में आर्थिक शोषण मात्र नहीं अपितु बौद्धिक शोषण भी हो रह "डूबता चाँद कब डूबेगा" शीर्षक कविता में कवि पूछते हैं कि किस महाकंस के डर से अपने आत्मज सत्यों को छोड देते हैं । वे आत्मज सद्योजात या शिशु नये सत्यों और विचार-धाराओं का प्रतीक है ।

जाने कितने कारावासी वसुदेव / स्वयं अपने कर में, शिशु-आत्मज ले, /
बरसाती रातों में निकले, / धँस रहे अंधेरे जंगल में / विक्षुब्ध पूर में यमुना के /
अति-दूर, अरे, उस नन्द-ग्राम की ओर चले / जाने किसके डर स्थानान्तरित
कर रहे वे / जीवन के आत्मज सत्यों को, / किस महाकंस से भय खाकर गहरा-गह

आधुनिक सभ्यता और पूंजीवादी शक्तियाँ विकराल रूप धारण कर रही है । इसकी शोषणनीति जन जीवन को अनंत मुसीबतों में डाल देती है । "जिन्दगी का रास्ता" कविता का नायक रामू देखता है कि पूंजीवादी शक्तियाँ जनता को फासिस्ती दमन भट्टी में फेंक देती हैं । उनकी श्वेत अस्थियों से अराम का फर्नीचर बनाना चाहती हैं । इस अमानवीय स्थिति की ओर कवि का संकेत है -

> पूंजीवादी शक्तियाँ भयंकर, / जन-जन को / दमन की फासिस्ती भट्टी में झोंककर /
> बनाया चाहती हैं वे / उनकी अस्थियों से श्वते / आराम का फर्नीचर ।[169]

इसप्रकार की शोषण-नीति केवल आर्थिक जीवन को ही बरबाद नहीं करती बल्कि सभ्यता को भी नष्ट कर देती है । इस शोषण प्रक्रिया ने कितने महान सभ्यताओं को अन्धकार के काले समुन्दर में डूबो दिया है -

> शोषण की अतिमात्रा, / स्वार्थों की सुख यात्रा, / जब-जब संपन्न हुई /
> आत्मा से अर्थ गया, मर गयी सभ्यता / भीतर की मोतियाँ अकस्मात् धुल गयीं ।
> जल की सतह मलिन / ऊँची होती गयी, / अन्दर सूराख से / अपने उस पाप से /
> शहरों के टावर सब मीनारें डब गयीं, / काला समुन्दर ही लहराया, लहराया ![1]

मुक्तिबोध मूलत: भावावेश के कवि नहीं हैं । लेकिन श्रमिकों की मुसीबतों और लाचारि से अभिभूत होने पर उनमें एकदम भावावेश जागृत हो जाता है । लेकिन ऐसे संदर्भों में उ में कोटी भावुकता की झलक ही नहीं है । उन का भावावेश वेदनानुभव से प्रेरित है । इ इसमें कष्टजीवी जीवन का वह "गहरा आत्मीय ज्ञान" का परिचय भी मिलता है -

> श्रमशील कष्टजीवी मन का जीवन विश्व / समुपस्थित कर अपने असंख्य /
> वेदना-दृश्य, संघर्ष, शिल्प, व्यक्तित्व-चित्र / वह "घोर जागता उपन्यास" /
> मेरे हिय में घुलकर होता आवेग एक / अतिशय सवेग बहते निर्झर-सा अकुलाता ।[17]

मुक्तिबोध अपनी कविताओं में बीसवीं शति के भारतीय जन-जीवन को जो त्रासद तस्वी खींचते वह एकदम दिलकश है । इस शोषण प्रक्रिया को कोई छिपाव के बिना चित्रित से उनकी कविताएँ भीषण हो गयी है । शोषण के शिकंजों में पडकर भारत पिस रहा उसके भयानक जबडों ने झोंपडियाँ गिरा दी हैं । मनुष्य की जिन्दगी धुनकी हुई रुई समान उडती है -

शोषण के भयानक जबड़ों ने फूँक मार / झोंपड़ियाँ गिरा दीं व मकान ढहा दिये / झुलसी हुई पुरानी धुनकी हुई रुई के / टुकड़ों-सी उड़ती है / मनुष्य के सांवले समूहों की जिन्दगी ! / सटर-पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर / पुरुष उबारता - धरे हुए टोकरियों में बिलखाते बच्चों को नारियाँ संवरातीं - बची-सुची जिन्दगी के कराहते पलों को ! / सूखी हुई जांघों की लंबी-लंबी अस्थियाँ / हिलाता हुआ चलता है / लंगोटीधारी यह दुबला मेरा हिन्दुस्तान / रास्ते पर बिखरे हुए / चावल के दानों को बीनता है लपककर / मेरा यह सांवला इकहरा हिन्दुस्तान ।[172]

भारत में सांस्कृतिक धर्मिक , सामाजिक और दार्शनिक मान्यताओं के नाम पर युगों से शोषण हो रहा है । यह शोषण सत्ता सदियों से होकर अपनी सार्वभौमता, प्रभुसत्ता के बलपर आम जनता को धर्म, जाति और वर्ण के आधार पर अपने कब्जे में रखती थी । ईश्वर और सत्ता के नाम पर हो रहे इन अत्याचारों के विरोध में जनता कुछ न कर सकी । "लकडी का बना रावण" में इस शोषण का चित्रण मिलता है । शोषण सत्ता अपनी रक्षा के लिए क्या नहीं करती, देखिए -

आसमानी शमशीरो, बिजलियो, / मेरी इन भुजाओं में बन जाओ / ब्रह्मशक्ति ! पुच्छल ताराओ, / टूट पड़ो बरसो / कुहरे के रंग वाले वानरों के चेहरे / विकृत, असभ्य और भ्रष्ट हैं / प्रहार करो उन पर, / कर डालो संहार !![17]

इसी तरह शोषण सत्ता निरीह जनता को विकृत, असभ्य और भ्रष्ट मानकर उसपर बलपू[र्वक] अपने अधिकार की स्थापना करती है । इसके अतिरिक्त पूंजीवादी शासन में शोषितों निस्सार सुख सुविधाओं के प्रलोभन देकर उनमें जो गतिमयता और संघर्षशीलता रहती है रोक देती है । इसलिए मुक्तिबोध इस शोषण सत्ता की तुलना यातुधान से करते हैं । यातुधान के शोषण-चक्र में पड़कर पत्थर बन गये शोषितों का चित्र देखिए -

हो न हो, / बीते हुए ज़माने में ये / मनुष्य थे सब । / संभव है, ज्ञानी और त्यागी रहे हों / पर, किसी पुरातन कथा अनुसार / कोई यातुधान / (कोई जादू-गर) / इन्हें खींचकर / सहस्र आकर्षण-जालों में इन्हें रुद्ध कर / प्रलोभन-सूत्रों में इन्हें बद्ध कर / शिला-रूप दे गया, / कर गया कैद ,[174]

इस प्रकार जिन्दगी के आकर्षण के कारण शोषण परिपाटियों से सामंजस्य स्थापित किया है अधिकांश लोगों ने । उनमें शोषण के विरोध के भाव का अभाव है । इसलिए ही वे सारे प्रस्तरीभूत हो गये । इसके फलस्वरूप मनुष्य का सारा व्यक्तित्व उसके नीचे दब गया । उसका जीवन मशीनी चाल का एक पुर्जा मात्र रह गया जो-शोषण के अज्ञात करों से चलता फिरता है । अपनी गति को संभलना अब उसके वश की बात न रह गयी -

"प्रस्तरीभूत मैं गतियों का हिम हूँ, / बीच ही मैं टूट गया कोई पराक्रम हूँ,
चट्टानों-टीलों की जमी हुई तह से / दुनिया को पाषाणीभूत सतह से /
सामंजस्यों के कठघरे में खुद / संगति-बद्ध ही रहने की है जिद्द / /
अज्ञात हाथ ही घुमाता है उसको,/किसी मशीन का पुर्जा है वह भी, /
आदत, आदत, आदत / दिल व दिमाग की, रूह की आदत ।।[175]

कवि आम जनता की शोषित अवस्था से ही परिचित नहीं बल्कि उनके शोषण में शोषकों के साथ देनेवाली प्रतिलोम शक्तियों से भी परिचित हैं । समाज के बुद्धिजीवी अपनी स्वार्थता के कारण शोषकों का साथ देते हैं । शोषित व्यवस्था के विरोध में प्रत्यक्ष रूप से कुछ कहने का साहस नहीं उनमें । उनकी इस नपुंसकता की ओर कवि का संकेत -

तू ने किया अध्ययन / गहरे जन-अनुभवों के सत्यों का । / समाज के ह्रासग्रस्त
भवनों के पहरेदार / शोषकों के दलों के स्निग्ध-मृदु चेहरों को देखकर /
उन्हीं के कैम्प में ही अपनी खैर-सलामत माननेवाले / सज्जनों के सांस्कृतिक
आकारों को देखकर / निहार उस क्रोध को / जो मात्र एकान्त में ही /
शोषक के अत्याचारी जाल पर गरजता है ।[176]

मुक्तिबोध हमेशा दीन-दलित शोषितों का सक्रिय पक्षधर रहे थे । ये मेहनत के पुतले युग-युगों से शोषित रहने पर भी कर्मशील होकर युग-निर्माण में लगे हुए हैं । कवि इनको "दुख के स्वामी" कहते हैं -

एक चित्र आता है आँखों के सम्मुख कोमल / तैर-तैरकर । / एक गांव है, वहाँ नदी
है, / नदी कूल से दूर दिशा तक खेत बिछे हैं / हरे हरे वे श्यामल-श्यामल, /
जिन में छिपी, छिपी फिरती है लाल ओढनी, / मुंह की श्यामल चमक सुरीली /
साथ-साथ, मेहनत के पुतले / शोषण-हत गम खानेवाले / दुख के स्वामी /

अविश्रान्त वे काले-काले हाथ व्यस्त हैं / रिक्त पेट की आंखों में दुख के प्रवाह ले / जिनकी बेबस कर्मशीलता ने युग-युग के / गौर कपोलों में लाली की मदिरा भर दी । आह त्याग की उत्कट प्रतिमा होरी महतो, भोली धनिया / जाग रहे हैं, / काम कर रहे हैं अब भी अपने खेतों में / उनकी श्वेत अस्थियों से इस युग का वज़्र बनेगा भयकर ।[177]

मुक्तिबोध शोषित सर्वहारा को भविष्य सृष्टा मानते हैं । उनके अनुसार जिन्दगी का सही रास्ता दिखानेवाला यह ही है । इसके अंधेरे सीलखायी घरों में भविष्य का चिराग है -

जिन्दगी का रास्ता / पूंजीवादी दानवों औ मध्यवर्गीय नपुंसक मानवों /
की वंचना-नगरी से छिटककर / टूटे-फूटे घरोंवाली सील-खायी /
गलियों के अन्धेरे में,/रहनेवाले आगामी युगों के सृष्टाओं /
के चौराहों पर मिलता है ।[178]

"भूल गलती" शीर्षक कविता में शोषण व्यवस्था के दरबार का चित्रण है । यहाँ समय और परिस्थिति चापलूस दरबारी के रूप में इस शोषण व्यवस्था की चाटूकारी कर रहे हैं । यह ईमानदारी को कैदी के रूप में क्षत-विक्षत अवस्था में लाया गया है । कवि यही कहना चाहते हैं कि शोषण-ग्रसित समाज में ईमानदारी की कोई कीमत ही नहीं होती ×

सामने / बेचैनघावों की अजब तिरछी लकीरों से कटा / चेहरा /
कि जिस पर काँप / दिल की भाप उठती है / पहने हथकड़ी वह एक
ऊँचा कद, / समूचे जिस्म पर लत्तर, / झलकते लाल लंबे दाग / बहते खून के । /
वह कैद कर लाया गया ईमान ।[179]

इस असंगतियों से भरी दुनिया में मुक्तिबोध को उन धनिकों से कोई नाता नहीं जो शोषण सभ्यता के सिद्ध हस्त स्वामी है । लेकिन वे अपनी पटरी उन लोगों के साथ मानते हैं जो ज़िन्दगी की हर समस्याओं को झेलते हुए इन्सान होने का सच्चा अधिकार रखते हैं । इस तथ्य को किसी के भी सामने खुलकर कहने के आदी हैं मुक्तिबोध । यह साहस अन्यादृश्य है -

अब आप चाहे सरकार हों / या साहूकार हों / उनके साथ मेरी पटरी बैठती है / उनके साथ / हाँ, उन्हीं के साथ / मेरी यह बिजली भरी ठठरी लेटती है / और रात कटती है / शायद यह मेरी बहुत बडी भूल है / लेकिन मेरी यह गरीब दुनिया / उन्हीं के बदनसीब हाथों से चलती है ।[180]

यह इसलिए है कि शोषित जनता में ही आत्मीयता और सहचरता का भाव अधिक है । "इसी बैलगाडी को "शीर्षक कविता में ऐसा एक किसान का चित्रण है जिसे पहाडी चढाव पर अपनी बैलगाडी लेकर चलना पडता है । जब वह रास्ते में रुककर रोटियाँ सकंकता है तब उसके मन में रोटी की खुशबू मर जाती है वह शोषकों के विरुद्ध होनेवाले संघर्ष में अपने परिजनों के साथ नहीं दे सकता है और उस वीरानगी में आग की लपेटों के साथ उन्हें परिजन याद आते हैं -

इस वक्त / परेशान हमने एक काम किया / रास्ते में एक ओर / कण्डे की लाल आग / टिक्कड लगी सेंकने बहुत-बहुत परेशान थके हुए हम भी हैं । / लेकिन सुगन्ध उस / टिक्कड की खूब जो कि / आत्मा में फैलती है / ईमान की भाफ बन !! / / देखते हैं अग्नि में टिक्कड का सिकना / माया का ममता का सहज चमकना / याद आना / भाई बहन माता पिता पत्नी का / वियोग में तडपना !![181]

सहचरमित्र की मौजूदगी

मुक्तिबोध के काव्य में एक सहचरमित्र का उल्लेख सर्वत्र है । इस "सहचर मित्र" के कारण उनकी कविताओं में एक सहचरता का भाव परिलक्षित होता है । शायद यह भाव असुरक्षा से पीडित मानव को असुरक्षा से बचाने का एक उपाय हो सकता है । लेकिन यह आरोप ठीक नहीं कि मुक्तिबोध की कविताएँ उनकी अपनी असुरक्षा की कविताएँ हैं । उनकी यह सहचरता, मित्रता हमेशा सर्वहारा के साथ रही है । उसके प्रति कवि में एक महासक्ति है । उनमें इन शोषितों में प्रत्येक व्यक्ति के साथ संबन्ध स्थापित करने का आग्रह है -

दूर-दूर मुफलिसी के टूटे-फूटे घरों में/-सुनहले चिराग बल उठते हैं , /
आधी-अँधेरी शाम / ललाई में निलाई से नहाकर / पूरी झुक जाती है /
थूहर के झुरमुटों से लसी हुई मेरी इस राह पर ! / धुंधलके में खोये इस /
रास्ते पर आते-जाते दीखते हैं / लठ-धारी बूढ़े-से पटेल बाबा / ऊँचे-से
किसान दादा / वे दाढ़ी-धारी देहाती मुसलमान चाचा और /
बोझा उठाए हुए / माएँ, बहनें, बेटियाँ / सब को ही सलाम करने की
इच्छा होती है, / सब को राम-राम करने के जी चाहता है जो / आँसुओं
से तर होकर प्यार के / "सबका प्यारा पुत्र बन"/ सभी ही का
गीला-गीला मीठा-मीठा आशीर्वाद / पाने के लिए होती अकुलाहट ।[182]

मुक्तिबोध की कविता सत्य की खोज की कविता है ।[183] नये सत्य का शिशु उनकी कविताओं में स्थान-स्थान पर आता है । कवि मानते हैं कि श्रमिक वर्ग के लोग सब प्रकार से हारे जाने पर भी उनके यहाँ इस नये सत्य के शिशु का पालन-पोषण हो सकता है । कवि को पूर्ण विश्वास है कि समाज के शोषित वर्ग ही सत्य की रक्षा करने में प्रयत्नरत रहेगा -

धीमे से चल के / शिशु उसके पास रखो धीरे हलके-हलके । /
तुम खड़े हो चुपचाप !! / सिवन्ती हिली-डुली, / बालक के भी
मन की कर ली । / श्रम-गरिमा की पी दूध / सत्य नव-जात /
विकसता जाएगा ।[184]

नगर का यथार्थ चित्रण करते हुए मुक्तिबोध दरअसल नगर जीवन की तह में व्याप्त शोषण को उभार लाते हैं । नगर जीवन चमकीला होने पर भी अयथार्थ है । उपरिवर्ग यहाँ अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए शोषण के ऐसे तरीके अपनाते हुए लोगों को धोखा देते हैं कि मनुष्य को अपने कर्मों पर ही अधिकार है, कर्मफल पर नहीं । नगर का असली चेहरा चेचक के दाग से विकृत है हालांकि सौन्दर्य साधनों से उसे छिपाने की कोशिश निरंतर ज़ारी है -

नगर है अयथार्थ / मानवी आशा और निराशा के परे की चीज़ / रूप में अरूप /
अथवा आकार में निराकार / समूहीकृत गुणों में है निर्गुण / अपौरुषेय, झूठ, /

भयंकर दुःस्वप्न का विश्व-रूप, / कर्म के फल पर नहीं कर्म पर ही अधिकार /
सिखानेवाले वचन का आडंबर / पावडर में सफेद अथवा गुलाबी /
छिपे बडे-बडे चेचक के दाग मुझे दीखते हैं / सभ्यता के चेहरे पर ।[185]

भारत की अधिकांश जनता शोषण की चक्की में पिस रही है । इनमें भी निम्न मध्यवर्ग की अवस्था बेहद बुरी है । इन फटे हालों में ज्यादतर बेघर, भूखे और नगे हैं । "अंधेरे में" कविता में विशालकाय बरगद की नीचे सोनेवाले गरीबों की त्रासद तस्वीर उभर आयी है -

भयंकर बरगद / सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों / गरीबों का वही घर, वही छत,
उसके ही तल-खोह-अन्धेरे में सो रहे / गृह-हीन कई प्राण । / अन्धेरे में डूबे गये /
डालों में लटके जो मट मैले चिथडे / किसी एक अति दीन / पागल के धन वे । /
हाँ, वहाँ रहता है सिर-फिर एक जन ।[186]

"चकमक चिनगारियाँ" में भी दरिद्र भारत का नक्शा खूब गहरा उतरा है -

भयानक बदनसीबी के । / जहाँ सूखे बबूलों की कंटीली पांत / भरती है हृदय
में धुंध-डूबा दुख, / भूखे बालकों के श्याम चेहरों साथ / मैं भी घूमता हूँ शुष्क, /
आती याद मेरे देश भारत की । / अरे ! मैं नित्य रहता हूँ अंधेरे घर /
जहाँ पर लाल ढिबरी-ज्योति के सिर पर / कसकते स्वप्न मंडराते ।[187]

"चाँद का मुँह टेढा है" कविता में मुक्तिबोध श्रमिक वर्ग को चूसनेवाले कारखानों और आसपास के भयानक परिवेश का चित्रण करते हैं । इस कविता में चाँद पुरानी साहित्य धारणाओं के अनुसार सौन्दर्य का प्रतीक न होकर वह शोषण के प्रतीक के रूप में चित्रित है । इसलिए कवि चाँद के मुँह को टेढा कहते हैं । इसके अतिरिक्त चाँदनी संवलाई दिखाई देती है । कवि इसमें हरिजन गलियों और पुलों के नीचे बहते नालों के किनारे बनी बस्ती का शोचनीय चित्रण करते हैं -

भीमाकार पुलों के बहुत नीचे, भयभीत / मनुष्य-बस्ती के बियाबान तटों पर /
बहते हुए पथरीले नालों की धारा में / धराशायी चाँदनी के होंठ काले पड गये /
हरिजन गलियों में / लटकी है पेड पर / कुहासे के भूतों की साँवली चुनरी - /
चुनरी में अटकी है कंजी आंख गंजे-सिर / टेढे-मुँह-चाँद की ।[188]

शोषण के स्याह चक्रव्यूहों में से किसी की भी मुक्ति नहीं । नन्हे और भोले-भोले बच्चे भी इसके क्रूर हस्तों से प्रताडित होते रहते हैं । "जिन्दगी का रास्ता" में गरीबिनी मां और उसके पाँच वर्ष के बालक को प्रस्तुत किया गया है । खेल-हँसी के जीवन बिताने योग्य उसे इतनी छोटी उम्र में मज़बूर होकर मार खाते हुए काम करना पडता है -

> किन्तु हाय, हाय ! गरीबिन माँ ने ही बेचे हुए, / खाते हुए मार और करते हुए काम नित, / उदास पांच बरस के बलक के / दर्द भरे फटे-हाल जीवन-सा जिसमें / पुचकार का रस / [और प्रोत्साहन] मिला ही नहीं, फिर भी / पढने के शौक और / जानने की चाह ने / मुसीबतें बढा दीं -[189]

ऐसे शोषण पूर्ण बीमार समाज में दो सिर और चार पैरवाले राक्षस बालक जन्म लेते हैं । पर जन्म लेने के पहले ही उनकी मृत्यु हो चुकी होती है -

> गहरे कराहते गर्भों से / मृत बालक ये कितने जन्में, / बीमार समाजों के घर में ! / बीमार समाजों के घर में / जितने भी हल हैं प्रश्नों के / वे हल जीने के पूर्व मरे । / उनके प्रेतों के आसपास / दार्शनिक दुखों की गिद्ध-सभा / आंखों में काले प्रश्न-भरे / बैठी गुम-सुम । / शोषण के वीर्य बीज से अब जनमें दुर्दम / दो सिर के, चार पैरवाले सक्षस - बालक ।[190]

नारी का शोषण

भारतीय समाज में नारी शोषण की कहानी नयी नहीं है । वह बरसों से ज़ारी रही है । उसका शोषण बचपन से ही आरंभ होता है । पुत्री, बहिन, पत्नी, माँ और नौकरानी के रूप में समाज उसे चूसकर हाड मात्र बना देता है । वास्तव में स्त्री अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए - बच्चे, पति और उनके भविष्य के लिए - अपना जीवन समर्पित करती है । घर और बाहर के कामों में लगी हुई स्त्री शायद पुरुषों से भी अधिक और बेहतर रूप में घण्टों तक काम कर रही है । ऐसी स्त्री का चित्र मुक्तिबोध के मन में स्थिर प्रतिष्ठित है -

> आंखों में तैरता है चित्र एक / उर में संभाले दर्द गर्भवती नारी का /
> कि जो पानी भरती वजनदार घडों से, / कपडों को धोती है भाड भाड /

घर के काम बाहर के काम सब करती है / अपनी सारी-थकान के बावजूद / मज़दूरी करती है / घर की गिरस्ती के लिए ही / पुत्रों के भविष्य के लिए सब । / उसके अवसाद भरे कृश मुख पर / जाने किस {धोखे भरी} आशा की दृढ़ता है ।[191]

स्त्री को समाज में अपनी भूमिका अपने के अनुसार उचित हैसियत नहीं मिलती है । वह वासना का साधन मात्र होती है । इस पुरूष-मेधा समाज में समान नीति का हकदार नहीं है वह । इसके अतिरिक्त उसे शारिरिक अत्याचारों का भी मुकाबला करना पड़ता है । समाज के शोषक और वरेण्यवर्ग उसे भोग-वस्तु के रूप में इस्तेमाल करते हैं और मूल्यांकन भी करते हैं । "एक भूत पूर्व विद्रोही का आत्म कथन" कविता में स्त्रियों के प्रति होनेवाले अत्याचारों की ओर प्रकाश डालते हैं कवि -

ख़ूबसूरत कमरों में कई बार, / हमारी आंखों के सामने,/हमारे विद्रोह के बावजूद, / बलात्कार किये गये / नक्षीदार कक्षों में । / भोले निर्व्याज नयन हिरनी-से / मासूम चेहरे / निर्दोष तन-बदन / दैत्यों की बाहों के शिकंजों में / इतने अधिक / इतने अधिक जकड़े गये / कि जकड़े हो जाने के / सिकुड़ते हुए घेरे में वे तन-मन / दबते-पिघलते हुए एक भाफ बन गये ।[192]

"मेरे लोग" कविता में गन्दी बस्तियों का जीवन चित्रित है । वहाँ गरीबों के गन्दे बच्चे लोहे की बनी मनुष्य आकृतियाँ जीवन बिता रहे हैं । यह दृश्य देखने पर कवि के मन में अपनी सभ्यता और श्वेत वस्त्रों पर गहरी ग्लानि लगती है -

गन्दी बस्तियों के पास नाले पार / बरगद है / उसी के श्याम तल में वे / रँभाती कई गाएँ । / कि पत्थर-ईंट के चूल्हे सुलगते हैं । / फुदकते हैं वहीं दो-चार बिखरे बालवाले काले बालकों के श्याम गन्दे तन / व लोहे की बनी स्त्री-पुरूष आकृतियाँ / दलिद्दर के भयानक देवता के भव्य चेहरे वे / चमकते धूप में !![193]

संयुक्त परिवार में औरतों और मेहनतकशों का हाल पूछने की आवश्यकता ही नहीं है । "एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन" नामक कविता में इनकी दीनता और मजबूरी को कवि यों शब्दबद्ध करते हैं -

अजीब संयुक्त परिवार है - / औरतें व नौकर और मेहनतकश / अपने ही वक्ष को खुरदरा वृक्ष-धड़ / मान कर घिसती हैं, घिसते हैं / अपनी ही छाती पर जबर्दस्ती / बहुएँ मुंडेरों से कूद अरे ! / आत्महत्या करती हैं !![194]

पूंजीवादी समाज में श्रमिक केवल धनिकों और शोषकों के आदेशों को ढोनेवाले जानवर मात्र हैं। उनका जीवन दुखों का क्रम है। "मैं तुम लोगों से दूर हूँ" कविता में शेव्रलेट-डॉज के नीचे पुर्जों को सुधारनेवाले मज़दूर का रूप देखिए -

> मैं कनफटा हूँ हेठा हूँ / शेव्रलेट-डॉज के नीचे मैं लेटा हूँ / तेलिया-लिबास में
> पुरजे सुधारता हूँ / तुम्हारी आज्ञाएँ ढोता हूँ।[195]

मुक्तिबोध आत्मालोचन और आत्म संघर्ष के कवि रहे हैं। इसलिए वे मानते हैं कि समाज में प्रचलित शोषण-नीति के पीछे उनके हाथ भी हैं। यह विचार मुक्तिबोध की कविताओं की सामाजिक चेतना का आधारभूत तत्व है। यह अपराध भाव समाज के प्रति वितृष्णा के कारण नहीं बल्कि समाज के साथ उनकी निकटता के कारण उद्भुत है -

> अचानक जाने किस चेतना में डूब / उर में समाये हुए अपने तलातल / टटोलता हूँ .../
> क्या कहीं मेरा अपराध? / मेरा अपराध?[196]

इस आत्मालोचना के कारण वे कभी भी व्यावहारिक नहीं हो सके। उनका सारा जीवन शोषित जनता को शोषण के निर्मम कारे से मुक्त करने में व्यतीत हुआ। इसके लिए उन्हें अपने जीवन को ही हवन करना पड़ा। वे कभी भी शोषित जनता को छोड़कर जीवन के तथाकथित सफलता के मार्गों के राही नहीं रहे। वे "बिज़ी" थे शोषित मानवता की खोज में और उसे नयी दिशा और गति देने में। कवि स्पष्ट करते हैं -

> जीवन की तथाकथित / सफलता को पाने की हम को फुरसत नहीं /
> खाली नहीं हम / बहुत बिज़ी हैं हम। /[197]

यथार्थ के कवि होने के नाते मुक्तिबोध में यथार्थ के प्रति जिज्ञासा रहती है। इसलिए उन में कई प्रश्न जाग उठते हैं। लेकिन वे ऐसे विवेकशील कवि हैं जो यह जानते हैं कि कौन-कौन प्रश्न महत्व रखते हैं। कवि का लक्ष्य है मानवता को शोषण मुक्त कर देना। कवि अपनी रचना को इस स्वप्न-पूर्ति के माध्यम बना देता है। इसलिए वे जानते हैं कि केवल एक ही समस्या महत्वपूर्ण है बाकी सब खोखले हैं। वह एक ही समस्या है -

> मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में / सभी मानव / सुखी, / सुन्दर व शोषण मुक्त /
> कब होंगे।[198]

मुक्तिबोध जानते है कि यह शोषण नीति अधिक काल तक टिक नहीं सकेगी । बहुतकाल से होकर पददलित शोषित जनता धीरे-धीरे इससे परिचित हो जाएगी और इसके विरोध में जागृत हो जाएगी । सारे संसार की जनता चाहे वह एशिया की हो या यूरोप की इस शोषण सभ्यता को नष्ट करनेवाली क्रांति में एकत्रित हो जाएगी । उस मुक्तिसेना का सारा क्रोध अग्निज्वाला के रूप में भभक उठेगा । कवि को मालुम है -

> मुझे मालुम, / अनगिन सागरों के क्षुब्ध कूलों पर / पहाडों-जंगलों में मुक्तिकामी लोक सेनाएँ / भयानक वार करती शत्रु-मूलों पर / व मेरे स्याह बालों में उलझता और / चेहरे पर लहराता है / उन्हीं का अग्नि-क्षोभी धूम !![199]

"अंधेरे में" कविता में शोषित जनता के जागरण को प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं कि शोषित जनता भुलावों में नहीं पडेगी । इसमें गांधीजी काव्य नायक के हाथों में एक शिशु को सौंप देते हैं, जो शोषित जनता का प्रतीक है, और उसे संभलकर रखने को कहते हैं । काव्य-नायक उसे ले चलता है । सहसा वह शिशु रो उठता है । काव्य-नायक के कई भुलावों के बावजूद भी वह ज़ोर-ज़ोर से रो उठता है और उसकी आवाज़ क्षोभ भरी और शिकायत की है -

> एकाएक उठ पडा आत्मा का पिंजर / मूर्ति की ठठरी । / नाक पर चश्मा, हाथ में डण्डा, / कन्धे पर बोरा, बाँह में बच्चा । / आश्चर्य !! अद्भुत ! यह शिशु कैसे !! / मुसकरा उस द्युति-पुरुष ने कहा तब- / "मेरे पास चुपचाप सोया हुआ यह था । / संभालना इसको, सुरक्षित रखना " / /
> सहसा रो उठा कन्धे पर वह शिशु / अरे, अरे, वह स्वर अतिशय परिचित !! / पहले भी कई बार कहीं तो भी सुना था/ उसमें तो स्फोटक क्षोभ का आवेगा, / गहरी है शिकायत, / क्रोध भयंकर ।[200]

इसप्रकार मुक्तिबोध की कविताओं में शोषण और शोषित जनता का यथार्थ चित्रण भरा पडा है । उसमें कवि कवि केवल इस शोषित जनता के प्रति आंसू नहीं बहाते हैं बल्कि उसमें निहित संगठित शक्ति की पहचान के कारण उसको जागरित करने का परिश्रम करते हैं । अतः मुक्तिबोध अपनी कविताओं के द्वारा उपेक्षित और अभिशाप्त शोषित मानवों की ठठरियों पर सहानुभूति का अमृतकण छिडककर उन्हें जागरित करने का दायित्व उठाते दिखाई देते हैं ।

अध्याय - तीन

1. देवेन्द्र इस्सर साहित्य और आधुनिक युगबोध , पृ: 84.
2. मुक्तिबोध मुक्तिबोध रचनावली-5 , पृ: 357.
3. वही नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , भूमिका
4. मुक्तिबोध , तारसप्तक , पृ: 42.
5. Bergson's contention is that this 'elan vital' is the turning force behind evolution and that it, is impossible to explain how and why movement of evolution occurs - C.E.M.Joad . Introduction to Modern Philosophy., p.89. गजानन माधव मुक्तिबोध : व्यक्तित्व एवं कृतित्व पृ: 122 से उद्धृत ।
6. The truth is that we change without ceasing and the state itself is nothing but change ... There is no feeling, no idea , no vilotion which is not undergoing change at every moment. If mental state ceased to vary, its duration would cease to flow." - H.Bergson, Creative - p.1-2. ग० म० मुक्तिबोध : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : पृ:123 से उद्धृत ।
7. मुक्तिबोध , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 4.
8. वही नये साहित्यिक का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 104.
9. वही तारसप्तक , पृ: 42.
10. डा. नगेन्द्र , आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ , पृ: 100.
11. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 99.
12. त्रिलोचन शास्त्री , आलोचना अंक-89 , अप्रैल-जून 1989 मुक्तिबोध और धूमिल के बारे में त्रिलोचन और वीरेन्द्र मोहन की बातचीत
13. डा. शिवकुमार मिश्र , नया हिन्दी काव्य , पृ: 147.
14. डा. वीरेन्द्र सिंह , मुक्तिबोध काव्य बोध का नया परिप्रेक्ष्य , पृ: 52.
15. वही पृ: वही ।
16. डा. आलोक गुप्ता मुक्तिबोध युग चेतना और अभिव्यक्ति , पृ: 70.
17. मुक्तिबोध , नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 47.
18. डा. शशि शर्मा मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन , पृ: 133.
19. मुक्तिबोध , एक साहित्यिक की डायरी , पृ: 72.
20. देवी शंकर अवस्थी माध्यम , नवंबर 1964.
21. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्यनिबन्ध , पृ: 52.

22. रमेश शर्मा , कवि मुक्तिबोध एक विश्लेषण , पृ: 51-52.
23. डा. रांगेय राघव , आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली , पृ: 35.
24. मुक्तिबोध , तारसप्तक (द्वि. सं.) पृ: 41.
25. Death romance most sacred, risk romance most facinating love romance most enchanting. When the life is itself a romance then what is to be needed.
मुक्तिबोध ग. मा. मुक्तिबोध : व्यक्तित्व एवं कृतित्व , पृ: 80 से उद्धृत ।
26. I want romance. I am romantic since my childhood ... I was very imaginative - much more imaginative than I consider myself at present to be so.
ग. मा. मुक्तिबोध व्यक्तित्व एवं कृतित्व , पृ: 80 से उद्धृत × ।
27. मुक्तिबोध , तारसप्तक , पृ: 41.
28. वही - पृ: 43.
29. वही - मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 37.
30. वही - पृ: 43.
31. वही - पृ: 35.
32. वही - पृ: 51-52.
33. वही - पृ: 50.
34. वही - तारसप्तक , पृ: 41.
35. डा. जनक शर्मा गजानन माधव मुक्तिबोध व्यक्तित्व एवं कृतित्व , पृ: 96
36. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 72-73.
37. वही पृ: 44.
38. वही पृ: 45.
39. सुरेन्द्र प्रताप मुक्तिबोध , विचारक , कवि और कथाकार पृ: 59.
40. डा. हुकुमचन्द राजपाल , मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य संकल्प पृ:
41. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 87.
42. डा. जनक शर्मा, ग. मा. मुक्तिबोध व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ: 108.
43. डा. नारायण विष्णु जोशी , कवि मुक्तिबोध के कुछ स्मरण , राष्ट्रवाणी जनवरी-फरवरी 1965 , मुक्तिबोध विशेषांक , पृ: 295.
44. मुक्तिबोध , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 42.
45. वही तारसप्तक (वक्तव्य) , पृ: 42.

46. डा. हुकुमचन्द राजपाल , मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य संकल्प पृ: 22.
47. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 165.
48. वही , पृ: 72.
49. वही , पृ: 72.
50. वही , पृ: 259.
50a. वही पृ: 177.
51. अशोक वाजपेयी फिलहाल , पृ: 118.
52. शमशेर बहादुर सिंह , चाँद का मुँह टेढ़ा है , [भूमिका] पृ: 23.
53. डा. वीरेन्द्र सिंह , मुक्तिबोध काव्यबोध का नया परिप्रेक्ष्य , पृ: 7.
54. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-5, पृ: 285.
55. डा. राजेन्द्र प्रसाद तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना पृ: 285.
56. सुरेश ऋतुपर्ण , मुक्तिबोध की काव्य सृष्टि , पृ: 37.
57. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 165.
58. वही नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 21.
59. वही पृ: 27.
60. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 365.
61. वही नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 57-58.
62. वही एक साहित्यिक की डायरी, पृ: 37.
63. शमशेर बहादुर सिंह , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 20.
64. श्रीकान्त वर्मा जिरह , पृ: 50.
65. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 39-40.
66. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 271.
67. वही , पृ: 333.
68. डा. राजेन्द्र प्रसाद , तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना पृ: 284-285.
69. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 225.
70. डा. महेश भटनागर , ग. मा. मुक्तिबोध जीवन और काव्य , पृ: 42-43.
71. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 84.
72. रमेश शर्मा , कवि मुक्तिबोध एक विश्लेषण , पृ: 14.

73. रमेश कुन्तलमेघ , ग. मा मुक्तिबोध [सं] डा. लक्ष्मणदत्त गौतम , पृ: 251-2
74. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 193.
75. अशोक वाजपेयी , फिलहाल , पृ: 56.
76. वही , पृ: 15.
77. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 329.
78. वही , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 31.
79. डा. नामवर सिंह , इतिहास और आलोचना, पृ: 30.
80. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 152.
81. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 57.
82. परमानन्द श्रीवास्तव , नयी कविता का परिप्रेक्ष्य , पृ: 33.
82a. कर्णसिंह चौहान आलोचना के नये मान , पृ: 171-172.
83. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 353.
84. वही पृ: 354.
85. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 236.
86. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 43.
87. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 277-278.
88. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 236.
89. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 102.
90. वही , पृ: 141.
91. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 355.
92. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 103-104.
93. वही पृ: 99.
94. चंचलचौहान , मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 86.
95. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 139-140.
96. वही , पृ: 138.
97. वही , पृ: 125.
98. वही , पृ: 124.
99. चंचल चौहान , मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 71.
100. सुरेन्द्र प्रताप , मुक्तिबोध विचारक, कवि और कथाकार , पृ: 75.

101. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 345.

102. वही , पृ: 349.

103. वही , पृ: 102.

104. वही , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 145.

105. चंचल चौहान , मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 71.

106. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 152.

107. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 94-95.

108. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 220-221.

109. वही पृ: 251.

110. चंचल चौहान मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 87.

111. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढा है पृ: 258.

112. वही पृ: 264.

113. वही तारसप्तक , पृ: 55.

114. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 251.

115. "The history of all past society has consisted in the development of class antagonisms that assumed different forms of different epochs". Marx-Engles, Manifesto of the Communist Party- p.73.

116. मुक्तिबोध , नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र , पृ: 116-117.

117. डा. महेश भटनागर ग. मा. मुक्तिबोध जीवन और काव्य पृ: 28.

118. मुक्तिबोध नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 113.

119. कॉडवेल इल्यूजन एण्ड रियालिटी पृ: 16.

120. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 46.

121. डा. राजेन्द्र प्रसाद , तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना , पृ: 247.

122. मुक्तिबोध नयी कविता का आत्मसंघर्ष , पृ: 66-67.

123. वही , पृ: 30.

124. वही , पृ: 32.

125. डा. हुकुमचन्द राजपाल , मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य संकल्प , पृ:

126. मुक्तिबोध , तारसप्तक {पुनश्च} , पृ: 75.

127. डा. नामवरसिंह , कविता के नये प्रतिमान , पृ: 225-226.

128. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 136-137.

129. वही , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 20-21.

130. वही , पृ: 24-25.

131. डा. शशिशर्मा , मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन , पृ: 159-160.

132. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 42.

133. वही पृ: 42-43.

134. डा. नामवर सिंह , कविता के नये प्रतिमान पृ: 220.

135. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 164-165.

136. वही , पृ: 142.

137. वही पृ: 109.

138. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 156-157.

139. वही पृ: 157-158.

140. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 78.

141. वही पृ: 279-280.

142. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी मुक्तिबोध , पृ: 11.

143. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 326.

144. Marx-Engels - Manifesto of the Communist Party - Collected Works, Vol-6, p.482.

145. डा. राजेन्द्र प्रसाद , तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना पृ: 247.

146. मुक्तिबोध , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 19.

147. डा. शशि शर्मा मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन , पृ: 149.

148. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 259.

149. डा. शशि शर्मा , मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन पृ: 150.

150. मुक्तिबोध , नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 50.

151. वही , नयी कविता का आत्मसंघर्ष , पृ: 36.

152. डा. वीरेन्द्रसिंह , मुक्तिबोध काव्य का नया परिप्रेक्ष्य , पृ: 21-22.

153. चंचल चौहान , मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 16.

154. डा. शशि शर्मा , मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन , पृ: 133.

155. डा. वीरेन्द्र सिंह , मुक्तिबोध काव्यबोध नया परिप्रेक्ष्य , पृ: 22-23.

156. चंचल चौहान , मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 49.
157. डा० हुकुमचन्द राजपाल , मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य संकल्प पृ:
158. मुक्तिबोध , नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 79.
159. वही , चाँद का मुँह टेढा है , 248-249.
160. वही पृ: 311.
161. वही पृ: 246.
162. वही पृ: 78.
163. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 353.
164. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 219.
165. वही चाँद का मुँह टेढा है पृ: 76.
166. वही पृ: 142.
167. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 140.
168. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 50.
169. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 242.
170. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 198-199.
171. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 301.
172. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 267.
173. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 24-25.
174. वही , पृ: 240.
175. वही पृ: 247-248.
176. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 284-285.
177. वही पृ: 147-148.
178. वही पृ: 251.
179. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 1.
180. वही , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 249-250.
181. वही पृ: 97.
182. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 80-81.
183. चंचल चौहान , मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 95.
184. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 139.
185. वही , पृ: 77-78.

186. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 282.

187. वही पृ: 161.

188. वही पृ: 27.

189. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 235.

190. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 47.

191. वही पृ: 79.

192. वही पृ: 61.

193. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 241.

194. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 62-63.

195. वही पृ: 109.

196. वही पृ: 233.

197. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 318.

198. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 164.

199. वही पृ: 159.

200. वही पृ: 295-296.

अध्याय - चार

मुक्तिबोध की कविता में मूल्य संबन्धी दृष्टिकोण और मानवीयता

मूल्य युग व समाज सापेक्ष होते हैं । यानी युग व समाज के बदलते, मूल्यों में भी बदलाव आता है । आधुनिक युग में भारतीय समाज में बरकरार परंपरागत मूल्यों का तीव्र गति से परिवर्तन हो गया था । उसके पीछे सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्र की असलियतों की अहं भूमिका रही थी । मुक्तिबोध की कविता ने इन सब के प्रति प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए इन तत्वों को उन्मीलित करने की कोशीश भी की है । अपनी मूल्यदृष्टि की अवतारणा के साथ उसके परिप्रेक्ष्य में मूल्य और परिवेश के मूल्यांकन का सायास प्रयास भी मुक्तिबोध की कविता में उपलब्ध है ।

1. मूल्य परिवर्तन के नींवाधार कारण

पूँजीवाद

भारत की आर्थिक व्यवस्था और उस पर आधारित सामाजिक जीवन पूँजीवादी व्यवस्था की नींव पर खडे हैं जो निजी संपत्ति को पवित्र मानते हैं और उसके विकास केलिए हर संभव प्रयास निरंतर करता रहता है । पूँजीवादी समाज हमेशा धन के मोह से पीड़ित रहता है । उसमें सारे संबन्ध और रिश्ते धन पर आधारित होते हैं इसलिए धनी और निर्धन के बीच खाई बढ जाती है । यह व्यवस्था मानव-मानव के बीच स्पर्धा उत्पन्न कर देती है । इस कारण समाज में वैमनस्य की भावना उत्पन्न हो जाती है । व्यक्ति अन्धा हो जाता है और अपने सहजीवी के साधनों को भी हडप लेने को तैयार हो जाता है । अतः शोषण, व्यवस्था की मुखमुद्रा बन जाता है । मान- को मानव का सम्मान नहीं मिलता है । सब को समान अवसर जताने पर भी उसकी आड़ में लोग अपनी स्वार्थता की पूर्ति करते हैं ।

समाज में प्रतिष्ठा के वास्ते लोग बड़ी मात्रा में उपभोग वस्तुएँ खरीदने के लिए मजबूर हो जाते हैं । और यों आदमी उत्पन्नों को खरीदनेवाला साधन मात्र रह जाता है । इस प्रकार उसका पद गिर जाता है । वस्तु वस्तु न रहकर मूल्य बन जाती है । फलतः उत्पादन, विक्रय और उपभोग के बीच कुछ कृत्रिम बाजारू नियमों का आविष्कार हो जाता है । माँग और उसकी पूर्ति के क्षेत्र में उत्पादन मूल्य और बाजारू मूल्य में बडा अन्तर्विरोध आ जाता है । इस सभ्यता में वस्तुएँ बेचने केलिए खरीदी जाती हैं और खरीदने केलिए बेची जाती हैं और इसी से क्रय-विक्रय मूल्यों में भी अन्तर्विरोध मिलना साधारण-सी बात है । इन कृत्रिम नियमों के कारण उत्पादक और उपभोक्ता, विक्रेता और उपभोक्ता के बीच गहरा वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है । यह वैमनस्य समाज के हरेक क्षेत्र में प्रतिफलित हो जाता है ।

मुक्तिबोध के समय में भारत की परिस्थितियाँ पूँजीवादी विकृतियों को तेज़ करने में सार्थक भूमिका अदा कर रही थीं । आज़ादी मिलने पर हमारी सरकार ने जिस राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीति के मार्ग से भारत की जनता को नये प्रभात की ओर ले चलने का निश्चय किया, वे सारी नीतियाँ आर्थिक वियोजन की गति को तीव्र बनाने में लग गयीं । इस प्रकार भारत की कहानी एक अन्य मोड़ पर आ गयी इसमें साधारण जनता की जिन्दगी और पूँजीपतियों की जीवन-पद्धति के बीच परस्पर संघर्ष का भाव उत्पन्न हो गया । व्यक्ति और समाज के बीच की कड़ियाँ टूट गयीं । स्वार्थपरता, अवसरवाद, सामाजिक और राजनैतिक भ्रष्टाचार अभूतपूर्व रूप से जीवन के हर क्षेत्र में ज़ोर पकडे । शासनचक्र ने जिस वर्ग के साथ घूमने का दावा किया था वह कुछ सीमित लोगों के हाथों से घूमने लगा । जिस आम जनता की संगठित शक्ति के बल पर अंग्रेज़ों के हाथों से आज़ादी छीन ली गयी इसकी अवगणना हर स्तर पर हुई । सेना, पुलीस, नौकर-शाही, न्याय व्यवस्था की सहायता सिर्फ पूँजीपतियों को मिलती रही ।

मुक्तिबोध मार्क्सवादी रचनाकार होने के नाते जानते कि समाज की मूल्यहीनता का आधार पूँजीवादी व्यवस्था है । वे वर्तमान समाज से अच्छी तरह परिचि हैं जिसमें मानव ब्रह्मराक्षस का रूप धारण करता है । मुक्तिबोध अपनी कविताओं में इस प्रकार मानव को नष्ट होनेवाले अपने मुख की पहचान देने की कोशिश कर रहे हैं । श्री परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में - "वे हमें हमसे परिचित कराते हैं - क्योंकि आज की पूंजीवादी व्यवस्था में अपनी ही पहचान सबसे मुश्किल होती है । संज्ञाएँ असलियत को छिपाने का साधन भर होती हैं और हर चेहरा कोई दूसरा चेहरा होता है ।"[1]

मूल्यहीनता के कारण बरबाद जीवन मुक्तिबोध के लिए बर्दाश्त नहीं है। वे प्रत्येक मनुपुत्र के चेहरे को झांकनेवाले कवि हैं। वे प्रत्येक चेहरे पर सच्चे आनन्द से प्रफुल्लित मुस्कुराहट देखना चाहते हैं। लेकिन वे जानते हैं कि जब तक पूंजीवाद की पकड समाज को कसती रहेगी तब तक सच्चे मानव-मूल्यों को पनपने और विकसित होने का मौका नहीं मिलेगा। इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति मुक्तिबोध की कविताओं में गहरा विरोध अभिव्यक्त हुआ है। डा॰ हरिचरण शर्मा के अनुसार - "इसी प्रक्रिया में उन्होंने उस व्यवस्था का विरोध किया उस मनोवृत्ति के प्रति घृणा प्रकट की जो दूसरों के रक्त पर जी रही है। इसी पर रक्तजीवी व्यवस्था ने अपने प्रयत्नों से एक नपुंसक जमात खडीकर ली है एक ऐसी परंपरा कायम कर ली है जो अपनी सुविधा केलिए उक्त व्यवस्था की हाँ में हाँ मिलाती रहती है। मुक्तिबोध की गहरी-तीखी नज़र ने इन दोनों को देखा है और अपनी सपाट शब्द उगलती कलम से इनका घृणाभिषेक किया है।"[2]

पूंजीवादी व्यवस्था व्यक्ति-मानव और उसके सुख-सुविधाओं को बरोत्ता देती है। समाज के स्थान पर व्यक्ति और उसकी स्वतंत्रसत्ता को महत्व देने के कारण जीवन के प्रति पूंजीवाद की दृष्टि संकुचित रहती है। पूंजीवादी समाज के अंतरविरोधों की ओर मुक्तिबोध ने यों सूचना दी है - "जिस समाज में हर चीज़ खरीदी और बेची जाती है, जहाँ बुद्धि बिकती है, और बुद्धिजीवी वर्ग बुद्धि बेचता है, अपने शारीरिक अस्तित्व के लिए जहाँ उदारवादी की जगह उदरवादी हुआ जाता है, जहाँ स्त्री बिकती है, श्रम बिकता है, वहाँ अन्तरात्मा भी बिकती है। जहाँ सच्चा व्यक्ति स्वातंत्र्य अगर किसी को है तो धनिक वर्ग को है, क्योंकि वह दूसरों की स्वतंत्रता खरीदकर अपनी स्वतंत्रता बढाता है।"[3]

मुक्तिबोध की आस्था समाज के प्रति थी। इसका अर्थ यह नहीं कि वे व्यक्ति को कुछ भी महत्व नहीं देते हैं। वे व्यक्ति को सामाजिकता के संदर्भ ही परखते हैं। उनकी यह प्रगतिवादी चेतना पूंजीवाद और साम्यवाद के गहरे अध्ययन और विश्लेषण से विकसित हुई थी।

मुक्तिबोध पूर्णतः अवगत हैं कि पूंजीवाद में मानव और समाज का समुचित विकास असंभव है। क्योंकि अपनी हैसियत की रक्षा केलिए व्यक्ति को अपने

अमूल्य समय और शक्ति बेकार खर्च करने पड़ते हैं। सार्थक सुरक्षा और पद-प्राप्ति की चिन्ता में सिर खपाना पड़ता है। इसलिए समाज के विकास में व्यक्ति सहयोग नहीं दे पाता। उसकी सारी सृजन-शक्ति व्यर्थ के संघर्ष में नष्ट हो जाती है। व्यक्तियों को समान अधिकार और अवसर न मिलने के कारण एक को दूसरे का शोषण करना पड़ता है। अतः व्यक्ति को अपनी स्वार्थ-सिद्धि की पूर्ति के कुछ भी घृणित तरीकों को अपनाना पड़ता है। इसप्रकार शोषण और असमानता पर आधारित पूंजीवाद का नाश चाहता है मुक्तिबोध - "घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य को मानवोचित जीवन प्राप्त हो। आर्थिक तुला के आधार पर, घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य के मूल्य को न आँका जाये। मनुष्य अपनी और अपने परिवार की अस्तित्वरक्षा के आर्थिक भौतिक संघर्ष और तत्संबन्धी चिन्ताओं से छूटकर, निर्माण और सृजन के कार्य में लगकर समाज की उन्नति और प्रगति में योग दे, तथा उसको अपने निजत्व के विकास के अवसर प्राप्त हो - सब को समान रूप से। आर्थिक उत्पीडन और शोषणमूलक यह जो भयानक पूंजीवादी समाज व्यवस्था है, वह हमेशा के लिए समाप्त हो।"[4]

मुक्तिबोध अपनी कविताओं में पूंजीवाद के शोषक रूप को ही प्रमुख रूप से प्रस्तुत करते हैं। पूंजीवाद को वे कंस, यातुधान, बर्बर की सेना, ब्रह्मराक्षस आदि के रूप में चित्रित करते हैं। मुक्तिबोध वर्ग-संघर्ष को प्रश्रय देनेवाले हैं। क्योंकि वर्गहीन समाज की स्थापना इस वर्ग-संघर्ष का परिणाम होता है। इस महान लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे पूंजीवादी सभ्यता की शोषण-वृत्ति को उसकी सारी अमानवीयता के साथ वे पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में डा. शशि शर्मा ने सूचित किया है - "मार्क्सवादी दर्शन के लक्ष्य वर्गहीन समाज की परिकल्पना के स्वप्न को साकार मूर्त रूप देने के उद्देश्य से रचित काव्य का कथ्य स्वभावतः पूंजीवादी समाज को गर्हित और निन्दनीय चित्रित करता है। पूंजीवादी शोषक समाज के उत्पीडक स्वरूप को पाठक के सामने उजागर करके ही उसके प्रति ग्लानि और घृणा का भाव जागृत किया जा सकता है।"[5]

पूंजीवाद की नीति शोषण की नीति है। कवि को उसकी इस शोषण संस्कृति से मितली उमड आती है। उनकी सारी सहानुभूति समाज के प्रति है। इस कवि कभी भी व्यावहारिक नहीं बन सकते हैं। वे इस क्रूर और अमानवीय व्यवस्था तत्वों से कभी भी मेल नहीं बना सकते हैं। वे अपने को पूंजीवादी परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ कहते हैं -

मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ / तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है /
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है ।"[6]

क्योंकि पूंजीवाद मानव की कमज़ोरियों से लाभ उठाता है । यह सत्य को हमेशा ओझल कर देता है । इसलिए कवि कहते हैं कि सत्य की आँखें निकाली गयी हैं । इस सभ्यता के द्वारा मानवता कैदी बन गयी है । "भूल-गलती" कविता की पंक्तियाँ हैं -

मेरी आप की कमज़ोरियों के स्याह / लोहे का जिरह बख्तर पहन, ख़ूँख़्वार /
हाँ, ख़ूँख़्वार आलीजाह , / वो आँखें सचाई की निकालते डालता, /
सब बस्तियाँ दिल की उजाड़े डालता, / करता हमें वह घेर, /
बेबुनियाद, बेसिर-पैर / हम सब कैद हैं उसके चमकते तामझाम में
शाही मुकाम में !![7]

मुक्तिबोध की कविताओं में व्यक्तित्व विघटन का मूर्तरूप भी मिलता है जो पूंजीवादी व्यवस्था का भीषण परिणाम है । व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खोकर भ्रष्ट हो जाता है -

सत्य की व्याख्या स्वयं हूँ !! (जो सदा है शोधनीय) /
सफल हूँ (पथभ्रष्ट हूँ) अविजेय हूँ (अधीन हूँ मैं) /
हृदय में घुन-सा लगा रहता / (पाप यह दारुण जगा रहता) /
मैं महाशोधक महाशय सत्य-जल का मीन हूँ मैं /
सत्य का मैं ईश औ मैं स्वप्न का हूँ परम स्रष्टा / (किन्तु सपने' प्राण की है बुरी हालत और जर्जर देह यह है खरी हालत) / उग्र-द्रष्टा मैं स्वयं हूँ जबकि दुनिया मार्ग भ्रष्टा ।[8]

"ओ अप्रस्तुत श्रोता" शीर्षक कविता में पूंजीवाद को वे "अन्धेर कारखाने" के रूप में चित्रित करते हैं । इसकी लाल भट्टी में पड़कर व्यक्ति तड़प रहा है । लेकिन वह मरता नही विकृत रूप में उसका पुनर्जन्म हो जाता है ।

है अन्धेर कारखाना यह / जिसकी लाल भड़क बेताब धमन भट्टी में /
झोंक, खुद ही को रोज़ / आत्महत्या करता है व्यक्ति / किन्तु वह मरता नहीं
वह पुनर्जन्म पा / विकसित करता नया एकदम नया / पेट, धड़, सींग, पूंछ और
पंख / और फिर उड़ता फिरता चरता फिरता / खूब बोलता फिरता ।[9]

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था लाभ पर आधारित है और तदनुरूप सामाजिक जीवन भी स्थापित है। अधिक लाभ मिलने की दौड-धूप में व्यक्ति अपने सबकुछ नष्ट कर देने को तैयार हो जाता है। जिन्दगी को सुविधापूर्ण बनाने के लिए वह उन तत्वों से सामंजस्य स्थापित करते हैं जिन तत्वों से सामाजिक जीवन कलुषित हो जाता है। यह लाभेच्छा जीवन के स्वच्छ वातावरण को बू-बास से भरा देती है। इस प्रकार लाभ प्राप्ति के लिए मालिक और नौकर, दूकानदार और ग्राहक, उद्योगपति और मज़दूर के बीच तरह-तरह के षड्यन्त्र चलते रहते हैं -

> बस इसी लिए / व्यक्तित्व-देह से धुआँ-धुआँ - / तैलिया शनिश्चर-चित्र उठ
> खडा हुआ / उसने जिसको छू लिया / बदलकर वही / अपनी खुद की कडुई /
> जल्ती बू-बास बना / क्या किया जाय / इस दुनिया को हड्डियाँ खोलकर भी /
> समस्या सुलझ नहीं सकती ! / यह लाभ-लक्ष्य अर्थवादिनी सत्ता को /
> अनिवार समस्या है।[10]

मुक्तिबोध पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था को लाभ-लोभ को अर्थवादिनी सत्ता का विकराल राष्ट्रपति कहते हैं -

> बेचैन वेदना को / ऋण-एक राशि के वर्गमूल में डलवा-गलवाकर / उसको शून्यों से
> शून्यों ही में विभाजित करवा / चलवा डाला है स्याह स्टीमरोलर /
> इस जीवन पर ! ! / वह कौन ' / अरे वह लाभ-लोभ की अर्थवादिनी सत्ता का /
> विकराल राष्ट्रपति है !! / जिसके बंगले की छाया में तुम बैठे हो /
> हाँ, यहाँ, यहाँ !![11]

जैसे कि सूचित किया गया है कि जीवन का मापदण्ड धन होने के कारण पूंजीवाद में व्यक्तियों के बीच स्पर्धा रहती है। इस में जीवन उनके लिए सुखमय और सार्थक होता है जिसके पास बडी मात्रा में धन-राशी होती है। धनिक अपने अधिकारों को पाने के लिए कामयाब होता है। इसके अतिरिक्त वे दूसरों की आज़ादी को खरीदकर अपनी आज़ादी को बढाते भी हैं। कवि इसकी ओर संकेत करते हैं कि पूंजीवादी संस्कृति की गुप्त सीढियाँ देश-देशों तक पहूँच गयी हैं -

> उस बंगले के भीतर हैं छुपी हुई मंजिलें / अनेकों तहखाने / हैं गुप्त सीढियाँ /
> भूमि-गर्भ में से मीलों तक चली गयीं / देश-देशों में जा निकलीं /

वे इसी शहर के सबसे ऊँचे टावर के / ..../ उन गुप्त सीढ़ियों के रास्तों
पर चलती हैं / काले लिबास में ढकी हुई गहरी छाहें / हाथों में लालटैन मद्धिम /
जेबों में धन / आज़ादी को खरीदने का उद्यम / धन से व आग की घनो मार से
दम / निकालने का विक्रम !![12]

इस अमानवीय सभ्यता का शोषण अन्तारर्राष्ट्रीय स्तर तक फैला हुआ है । पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था पर आधारित संपन्न देश अपने देश की प्रगति के लिए तरह-तरह के हथकण्ड करते हैं । ये देश बड़ी मात्रा में विनाशकारी हथियारों का निर्माण करते हैं और अपनी सुविधानुसार अनुयोज्य शर्तों पर दरिद्र देशों को देते हैं । ये संपन्न देश कई अन्तरराष्ट्रीय मामलों पर अपने पक्ष के देशों का समर्थन आँखें मूँदकर करते हैं । ये संपन्न देश अपनी कूटनीति से संसार के विभिन्न प्रदेशों में तनाव और विभिन्न देशों के बीच युद्ध और उग्र वाद को प्रोत्साहन देते हैं । इस प्रकार के आर्थिक शोषण प्रभुत्व-स्थापना की वजह गरीब देश कर्ज के भीष्ण चक्र में फँस जाते हैं और इन गरीब देशों के आम आदमी की जिन्दगी बदत्तर हो जाती है । कवि इस कूट नीति की ओर इशारे करते हैं -

जी हाँ, यह वह / अन्धेर-कारखाना, जिसमें / बनते हैं जो हथियार /
जो औजार / उनकी पूँजी ऊँची अन्तर्राष्ट्रीय / उस बड़े पेट का जो
अन्तर्राष्ट्रीय । / उन औज़ारों की नयी-नयी किस्में !! /
नयी - नयी किस्में !![13]

पूँजीवादी व्यवस्था के उत्पन्न है महानगरों की बनावटी जिन्दगी और खोखली संस्कृति । यहाँ सभी जीवन मूल्यों का अवमूलन हो जाता है । इन महानगरों के सभ्य लोगों का जीवन बिलकुल सतही है । यहाँ के बाह्याडंबरों के पीछे विकृत यथार्थ ही दिखाई देते हैं । इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन के विभिन्न आयामों में असमानता महानगरों की खासियता है । नगर के अयथार्थ जीवन को कवियों साकार कर देते हैं -

रास्ते पर चलता हूँ कि पैरों के नीचे से / खिसकता है रास्ता-यह कौन कह
सकता है । / दीखते हैं सटे हुए बडे-बडे अक्षरों में / मुसकराते विज्ञापन /
सिनेमा के, दूकानों के, रोगों के प्रभीमतर / चमकते हुए शानदार । /
चलताहूँ कि देखता हूँ नगर का मुसकराता व्यक्तित्व महाकार, /

दमकती रौनक का उल्लास, / चहचहाती सड़कों की साड़ियाँ । /
लगता है - / कि समस्त स्वर्गीय चमचमाते आभालोकवाले /
इस नगर का निजत्व जादुई / कि रंगीन मायाओं का प्रदीप्त पुंज यह /
नगर है अयथार्थ ।[14]

पूंजीवाद में कला और साहित्य बिकने की चीजें बन जाती हैं । कलाकार और साहित्यकारों को पूंजीपति स्वामियों की प्रसन्नता केलिए सरकस के जोकर के समान नाचने-कूदने पडते हैं । इसलिए कला-साहित्य कृतियाँ साधारण जनता की समस्याओं से अलग हो जाती हैं -

राजनीति, साहित्य और कला के प्रतिष्ठित महासूर्य / बड़े-बड़े मसीहा /
सरकस के जोकर - से रिझाते हैं निरन्तर / नाचते हैं, कूदते हैं /
शोषण के सिद्धहस्त स्वामियों के सामने ।[15]

मुक्तिबोध देखते हैं कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में समाज के बुद्धिजीवियों का कोई महत्व नहीं है । जिनमें धन कमाने की कूटनीति होती है उनका सम्मान होता है । बुद्धिजीवी ऐसे समाज में किसी काम का नहीं । उसकी अवस्था तिनके बराबर है

रामू ने देखा कि / दुनिया के पेंदे मे / पूंजीवादी छेदों से /
आधुनिक जीवन बुद्धिजीवियों का / ठीकरे-सा लगता है ।[16]

मुक्तिबोध ने पूंजीवाद को रावण के रूप में भी चित्रित किया है । लेकिन इस आधुनिक रावण की विशेषता यह है कि वह दशमुख न होकर सहस्रमुखवाला होता है ।[17] "लकड़ी का बना रावण" का रावण अपने एकाधिकार के पहाड के ऊपर खड़े होकर अपने एकछत्र शासन को जताता है ।

मैं ही वह विराट् पुरुष हूँ / सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र, सत्-चित्, /
मेरे इन अनाकार कंधों पर विराजमान / खड़ा है सुनील /
शून्य / रवि-चन्द्र तारा- द्युति मण्डलों के परे तक ।[18]

इस आधुनिक आदमखोर रावण के यहाँ गुलामों की तरह पहरा देना पडता है ज्ञानी और महान लोगों को । इस व्यवस्था में स्त्रियों और बच्चों को अधिक यातनाएँ सहनी पडती हैं ।

हाथ जोडे रहते हैं बडे-बडे बुद्धिमान, / बडे-बडे पैगंबर /
रावण के घर पहरा देते हैं / बडे-बडे नेतागण, बडे-बडे ईश्वर ।[19]

पूंजीवादी समाज में सर्वहारा की स्थिति करुणपूर्ण है । दिन-रात मेहनत करने पर भी उनके हाथ कुछ नहीं आता । फाकटरियों, खेतों और अन्य विभिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाले ये लोग शोषण के अमानवीय हाथों पिस जाते हैं । ये लोग अपनी जिन्दगी को चलाने में असमर्थ हो जाते हैं । "जिन्दगी का रास्ता" कविता में रामू के माध्यम से पूंजीवाद में सर्वहारा की स्थिति अनावृत हो जाती है -

रास्ते के शोरोगुल औ" धून के / छोटे-छोटे बादलों से घिरकर मलीन हो /
(किन्तु निज मस्तक में चलते हुए चक्र-से भावों में विलीन हो)
अपने काम पर से घर लौटते हुए / रामू, घिरी सांझ के सुदूरतम /
गेरुए किनारे पर / मिल के काले धुएँ के बल खाते /
रामू सोचता है कि व्यर्थ गया सारा दिन् / मेहनती गरीब के असाध्य किसी
रोगग्रस्त / क्षीणकाय किन्तु अति भोले प्यारे / बालक की उदास /
(किसी आन्तरिक प्रेरणा से चमकती हुई) आँखों-सा कि म्लान मुस्कानों-सा /
अरे यह मेरा दिन जीने की प्रेरणा लिए हुए / भी पूरा न कर पाया अपना काम /
अपना जीवन कर्तव्य ।[20]

मुक्तिबोध जानते हैं कि इस व्यवस्था में आम जनता की जिन्दगी कई मुसीबतों से गुज़रने केलिए अभिशाप्त है । इस समाज में जिनकी आर्थिक स्थिति साफ-सथुरी है वे ही मानवोचित जीवन बिता सकते हैं । अन्यों को हीनतापूर्ण जीवन की कटुता को झेलना पडता है । उनका जीवन अवमानित हो जाता है । इस करुण स्थिति का संकेत है निम्न पंक्तियों में -

सुबह से तो शाम तक / काम की तलाश में इस गुज़रे हुए दिन की /
निरर्थकता की आग में / जलता-धुँआता हुआ / जिन्दगी की दुनिया को
कोसता / मैं रास्ते पर चलता हूँ कि / भयंकर दुःस्वप्न-सा, सामने - /
आँखों के सामने वह/ढंका हुआ कुहरे से .../ दीखता पहाड /
स्याह - ।[21]

सर्वहारा की अवस्था के मूलभूत कारण से कवि अवगत हैं । ये पूंजीपति लोग जनता का दमन करके उसकी मेहनत पर अपने ऐश-आराम पूर्ण जीवन का निर्माण करते हैं -

"पूंजीवादी शक्तियाँ भयंकर, / जन-जन को / दमन की फासिस्टी भट्टी में
झोंककर / बनाया चाहती है वे / उनकी अस्थियों से श्वेत /
आराम का फर्नीचर ।[22]

पूंजीवादी वर्ग को इस बात का एहसास है कि यह शोषण अधिक समय तक नहीं ठिकेगा । लेकिन अपने सुख-वैभव को छोडना उसके लिए मुश्किल । अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए यह वर्ग साजिशों में जुडा रहता है । शासन और सत्ता की सहायता से उसके विरोध में होनेवाले विद्रोह को दबा देता है । पुलीस और सेना उसका साथ देती है । जनता को काबू में लाने के लिए यंत्रणा के मार्ग पर उतारू जाता है । पूंजीवाद केवल वर्तमान को ही देखता है । इसके विपरीत जन-जन में विद्रोहिणी बुद्धि के साथ त्रिकालदर्शी आँखें भी है । पूंजीवादी शक्तियाँ इन्हें नष्ट कर देना चाहती हैं -

रामू जानता है कि पूंजीवादी शक्तियाँ / जन-जन की छाती पर बैठकर /
शासन के चाकू से / विद्रोहिणी बुद्धि की त्रिकाल दर्शी आखों को काटकर /
निकाल लेना चाहती हैं ।[23]

लेकिन अंतिम जीत जनता की ही होगी । मुक्तिबोध को इस बात पर कतई संदेह नहीं है -

स्वार्थान्ध सभ्यता के गहरे काजली चिह्न / मिट गये, हुआ वह दीप्त कोमल
प्रसन्न !! / खिल उठे सुविकसित मानव के / मधुसंवेदित व्यक्तित्व-कोष /
चाँदनी भरे नभ में युगान्त / का उठा घोर / उल्लास - घोष ।[24]

<u>वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति</u>

प्रत्येक रचनाकार जीवन के अन्तरंग में उतरने का परिश्रम करते हैं । इस प्रक्रिया में वह तत्कालीन युग के सारे सन्दर्भों से सक्षात्कार करके अपने दृष्टिकोण में एकत्रित करते हैं । इसप्रकार वह अपने युग के वैज्ञानिक विकास एवं ज्ञान-विज्ञान की गतिविधि से भी परिचित होते हैं । मुक्तिबोध मानते हैं कि वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है । और असका यथार्थ किसी भी पूर्व ज़माने से डरावना होते हैं ।

मानव और मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध कवि या लेखक इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते । मुक्तिबोध में ऐसा कोई भाव नहीं । आज के नये कवियों में वैज्ञानिक युग के यथार्थों के प्रति होनेवाली उपेक्षा के संबन्ध में किया गया परामर्श उनकी क्षमता की ओर संकेत करता है - "आधुनिक विज्ञान युग में कवियों द्वारा जीवन-ज्ञान का बायकाट सचमुच दर्शनीय और शोचनीय है । वह उनके आत्मिक ह्रास और विद्रूपता का सूचक है ।"[25]

मुक्तिबोध वैज्ञानिक भौतिकवादी विचारधारा के कवि हैं । इसलिए उनकी कविताओं में वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय स्वाभाविक है । उनके हरेक विश्लेषण में वैज्ञानिक आधार पर प्रमाणित करने की विशेष प्रवृत्ति भी दिखाई देती है जो हिन्दी काव्य-क्षेत्र में बिलकुल एक नया अनुभव है । इसी विशेषता के कारण मुक्तिबोध की कविताओं में वैज्ञानिक विश्लेषण की संपृक्तता के साथ उसके लिए अनुयोज्य विज्ञान के क्षेत्र से संबंधित अनेक बिंब-प्रतीक भरे पडे हैं । वर्तमान सामाजिक जीवन में वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का प्रभाव कैसे पडता है इसका परिचय हमें इनसे मिलता है । जैसे डा. शशिशर्मा सूचित करती है - "मुक्तिबोध अपने समकालीन प्रगतिवादियों में अकेले ही ऐसे थे जिन्होंने काव्य में प्रयुक्त-बिंब प्रतीक और उपमाओं को गणित, भूगोल, विज्ञान, खगोल-शास्त्र से चुनकर अपनी काव्य-स्थितियों के संदर्भ में जोडकर प्रयुक्त किया है ।"[26]

आज का युग मशीनी-सभ्यता का युग है । मुक्तिबोध अपने विवेक और वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा इस मशीनी युग के सामाजिक जीवन का विश्लेषण करते हैं । आज के वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति से जीवन के विविध क्षेत्र में जो प्रभाव पडा है और मनुष्य का जीवन इन प्रभावों से कैसे गुज़र जाता है, इसका भी उन्होंने विश्लेषण किया है । उनकी रचनाओं में चित्रित मनुष्य अपनी विशेषता रखता है और वह यन्त्र कर्म की बौद्धिकता और उसकी राक्षसीयता के अंशों से युक्त हैं । मुक्तिबोध की कविता में आज के इस मानव की वेदना, छटपटाहट और मोहभंग की करुण कहानी उपलब्ध है । डा. शशि शर्मा के ही शब्दों में - "मुक्तिबोध के काव्य का मानव सभी तरह की काव्य-परंपराओं में प्राप्त मानवीय धारणाओं से अलग यन्त्रकर्म की बौद्धिक संस्कृति का प्रतीक मानव है । वह विज्ञान युग की ब्रह्मराक्षसी प्रतिभा की देन है ।"[27]

मुक्तिबोध का साहित्य व्यक्ति के जीवन-दृष्टिकोण की ऐसी अनुभूति-जन्य संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है जो अपने सम-सामयिक सन्दर्भों और विचारधाराओं से ही परिपोषित और परिणमित है । वे मानते हैं कि समाज-संपृक्ति उनकी पर्याय हो सकती है । इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं में समसामयिक आघातों से जूझते हुए

प्रत्येक व्यक्ति को वैज्ञानिक और मानवोचित परिप्रेक्ष्य में मानवोचित रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं । लेकिन वे यह देखकर विचलित हो जाते हैं कि मानव वैज्ञानिक युग में यन्त्र कर्म की बौद्धिकता और ब्रह्मराक्षसीयता के कारण अपनी सार्थकता नष्ट होकर पतन की ओर जा रहा है । उनकी मान्यता है कि मनुष्य स्वयं अपने दुख और मृत्यु का कारण है -

> मुझे बताया गया / और यहकहकर खूब सताया गया / कि मौत का घर /
> खुद इन्सान । / दुख सनातन है / जो निज के कारण है ।[28]

वे वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के पीछे की राजनीति से भी भलीभांति परिचित हैं । इसकी नीति मानवता के विरोध की नीति है । जहाँ-जाँ मानव आपस में मिले-जुले सुखमय जीवन जीते हैं वहाँ साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपना अधिकार जमाने की कोशिश करती हैं । राजनीतिज्ञों के आदेशों पर वैज्ञानिक लोग संहार के नये-नये अस्त्रों और रसायनों का अन्वेषण और निर्माण करते हैं -

> दुनिया की कष्टमयी / मानवता एक हुई देखकर / साम्राज्यवादियों के साँप और
> सँपेले / जिन्दगी के बागों में सरसराने लगे और / क्षितिज से उठा शोर /
> छूटी रायफली गोलियाँ भागे हुए / पक्षियों के दलों का ! / ..../
> जनता के आल्पस और हिमालय को मिसमार / करते हुए, छेद करना चाहते /
> जो धरती की छाती के आर-पार / उन मदोद्धतों के / साम्राज्यवादियों के
> बदशक्ल चेहरे / एटमिक धुएँ के बादलों से गहरे / क्षितिज पर छाये हैं ।[29]

मुक्तिबोध की सारी सहानुभूति उन पीड़ित-जर्जरित जनता के साथ जो अपना अस्तित्व खोकर संसार के शोषण के कराल हस्तों से तोड़े जा रहे हैं । ये लोग भूखे और प्यासे रहते हैं । यह ठीक है कि वैज्ञानिक आविष्कारों और तकनी प्रगति ने मानव जीवन को बहुत सीमा तक परिवर्तित किया है । उसकी सहायता मानव अपने जीवन को अपार सुख-सुविधाओं से भरने में सक्षम हुए । लेकिन संसार अधिकांश जनता इनसे वंचित रह गये । जब ये लोग भूखों मरते हैं तब विज्ञान-ज्ञान विश्लेषण और संश्लेषण में सक्रिय रहता है -

मैं ने देखी / वह फक्कड भूख उदार प्यास / निःस्वार्थ तृषा / जीने-मरने की तैयारी / मैं गया भूख के घर व प्यास के आंगन में / चिन्ता की काली कुठरी में, / तब मुझे दिखे कार्य-रत वहाँ / विज्ञान ज्ञान / नित सक्रिय हैं / सब विश्लेषण संश्लेषण में ।[30]

इस प्रकार विज्ञानोन्नति को जनता के विकास से संबंधित करके बडी-बडी बातें हो रही हैं । लेकिन होती है उल्टी बातों जनता की समस्याओं को सुलझाने की अपेक्षा विज्ञान कुछ लोगों के जीवन को सुखमय बनाने में नयी-नयी आडंबर वस्तुओं की खोज ही कर रहा है । इस विज्ञान युग में समाज में स्थित भेद भाव की ओर कवि ध्यान आकर्षित करते हैं -

रिफ्रीजरेटरों, विटैमिनों, रेडियोग्रैमों के बाहर की / गतियों की दुनिया में / मेरी वह भूखी बच्ची मुनिया है शून्यों में / पेटों की आंतों में न्यूनों की पीडा है / छाती के कोषों में रहितों की व्रीडा है ।[31]

अतः विज्ञान की प्रगति खूब मचायी गयी । लेकिन इस का फल उच्चवर्ग तक सीमित रह जाता गया । विज्ञान उत्पादन शक्तियों के हाथ में अर्थात मेहनती जनता के हाथों में भविष्य-निर्माण का सशक्त औज़ार होने की जगह कुछ अमानवीय हाथों के स्वार्थसिद्धि का साधन बन गया । यह मानवता की अवहेलना है । जब मानव दैनंदिन जीवन की आवश्यकताओं के अभाव नरकतुल्य जीवन बिताता है, भूख-प्यासा, और नंग रहता तब विज्ञान आडंबर की चीज़ों, विनाशकारी हत्यारों को तैयार करने में व्यापृत रहता है । इसलिए कवि कहते हैं -

पूंजीवादी गाडी के वेगवान / लोहे के पहियों ने / मानव का पेट चीर / विज्ञानोन्नति की ।[32]

मुक्तिबोध देखते हैं कि संसार के सारे मूल्य-ह्रासों के पीछे पूंजीवाद का हाथ है । जीवन के सारे क्षेत्रों में यह सिद्धांत अपने बुरे प्रभाव डालता है । वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्रों में भी वह अपनी अमानवीय सत्ता स्थापित करता है । कवि देखते हैं कि आज के विज्ञान और तकनॉलजी के विकास में दिखाई देनेवाली असंतुलितावस्था योरोप के पूंजीवादी देशों के कारनामों की परिणति है । वे कहते हैं - "आधुनिक वैज्ञानिक विकास की दृष्टि से पश्चिमी योरोपीय कार्य-पद्धति लंगडी हो गयी है ।"[33]

ये पूंजीवादी शक्तियाँ सारे नैतिक और धर्मिक मूल्यों को हवा में उड़ाकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए विज्ञान का दुरुपयोग करती हैं। अपनी आर्थिक-व्यवस्था और तकनॉलजी को साफ-सुथरी रखने के लिए ये देश अनैतिक कूटनीतियाँ अपनाते हैं। इसके लिए ये देश निरंतर युद्ध की नीति चलाते हैं।[34] अधिकांश विकस्वर और अविकसित देश युद्ध की विभीषिकाओं के शिकार बन जाते हैं। ये विकसित देश विकस्वर-अविकसित देशों में होनेवाले युद्धों में किसी न किसी पक्ष पकड़कर उसे अर्थ और शस्त्र की सहायता के प्रलोभन देकर अपने अधीन कर देते हैं। इसप्रकार इन अविकसित देशों पर इन का अधिकार धीरे-धीरे जमा हो जाता है और सारी दुनिया इन साम्राज्यवादी तत्वों से चलायी जाने लगती है। इसके संबन्ध में मुक्तिबोध की राय है -"शांतिवादी देशों में भी अपनी सैनिक सुरक्षा का भरसक इन्तज़ाम रहता है।"[35] इस नाज़ुक परिस्थिति से लाभ उठाते हैं ये वैज्ञानिक और तकनोकी क्षेत्र में विकसित देश। इन देशों में नये-नये और अधिक विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में होड़ चलती रहती है। कवि देखते हैं -

> जी हाँ, यह वह / अन्धेर-कारखाना, जिसमें / बनते हैं जो हथियार /
> जो औज़ार / उनको पूँजी ऊँची अन्तारार्ष्ट्रीय / उस बड़े पेट का जी
> अन्तरर्राष्ट्रीय। / उन औज़ारों की नयी-नयी किस्में !! /
> नयी-नयी किस्में !![36]

इसके फलस्वरूप युद्ध की रीतियाँ भी एकदम बदल गयी हैं। आज मारक अस्त्र-शस्त्रों, विनाशकारी यन्त्रों, विषैले रसायन गैस, अणुशक्ति, आदि अनेक पीढ़ियों तक मानव समाज को ग्रसित रखने में शक्तिशाली युद्धरीतियाँ तैयार की गयी हैं। इन हथियारों के निर्माण में जो देश सबसे आगे हैं वे ही विश्व की गतिविधियों पर कब्जा और अपने प्रभुत्व की स्थापना कर सकते हैं। अणुशक्ति का उपयोग आज विनाशकारी हथियारों के निर्माण में प्रयुक्त हो रहा है। इस कारण सारे संसार में विभिन्न बड़े देशों के बीच शीत-युद्ध का वातावरण रहता है जो किसी भी क्षण में महायुद्ध का रूप धारण कर सकता है। संसार के ये बड़े-बड़े देश विभिन्न सैनिक-संधियों की स्थापना कर इनसानी आस्मान को कैद करना चाहते हैं -

विकराल कर्क एक / हवाई एटमिक अड्डों के अमरीको जाल का /
ज़िन्दगी की खाल ओढे मौत के बवाल का / लंबे-चौडे ज्ञान के हाथों के ज़ोर पर /
कूटनैतिक बुद्धि के माथों के ज़ोर पर / उत्तेजित विज्ञानी शक्ति की मदद से /
डॉलर की गुलामी के सियाह घरौंदों में / कैद करना चाहते ये इनसानी आसमान /
एटम पहलवान !! / ./ जन-बन्धनकारी निज / स्याह जटा-
जूटों में / प्रशान्त अतलान्त / हिन्दमहासागर को धारने के लिए वह / चन्द्रचूड
बनाने के लिए बढाता है / नाटो और सीटो के सेनारूपी हाथ-पैर !![37]

दूसरे विश्वयुद्ध में एटमबम की विनाशकारी शक्ति को हमने देखा जो आज भी मानवता के अन्तकरण में एक बडी समस्या के रूप में खडी रहती है । अमरीका ने जापान के हिरोशिमा और नागसाकि में एटमबम डाला । सालों के बाद भी वहाँ की जनता अणुशक्ति की राक्षसीय शक्ति के फलों को भोग रही है । कवि की निम्नलिखित पंक्तियों में इसकी सूचना मिलती है -

सात गुंबदोंवाला एक सफेद शहर / हो गया राख / सैकडों पुलोंवाली वह गौरव-
शाली बहती हुई नदी / धँस गयी - / ज़मीनी परतों की / भीतरी तहों में,
वह जाकर फँस गयी / व उसकी जगह / तेल का -सा गाढा-गाढा समुद्र /
मृत्यु सागर / जिसमें है निन्यानवे फीसदी / अमोनियम फास्फेट, घोर
नायट्रेट / विषैली भाफ हवाओं में / जिसके कारण पक्षी भी उडते नहीं कहीं /
आकाश-दिशाओं में ।[38]

इसके अतिरिक्त मशीनी-संस्कृति का भी मानव पर बुरा प्रभाव पडा है । उसने अपने आराम के लिए जिन यंत्रों का निर्माण किया समय बीतने के अनुसार वह उन यंत्रों का गुलाम बन गया । उसके शैर्य और पराक्रम नष्ट हो गये । औद्योगिक क्रांति के इस परिणाम से हमारी ज़िन्दगी कितनी सस्ती बन गयी यह कल्पनातीत है । साथ ही साथ मनुष्य सारी सद्भावनाओं से विमुख होकर जीवन बिताने लगा -

अज्ञात हाथ ही घुमाता है उसको, / किसी मशीन का पुर्जा है वह भी, /
आदत, आदत, आदत, / दिल वह दिमाग की, रूह की आदत !! /
खुद के बनाये ये सभी शिकंजे / उनके पंजों से छुटकारा हो अब ।[39]

इस यांत्रिकता के कारण आज सारी वैज्ञानिक उपलब्धियों और भौतिक सुख-सुविधाओं के बीच भी मानव संतुष्ट नहीं है । वह संसार को गतिविधियों से अशांति का अनुभव कर रहा है, संघर्ष को झेल रहा है । सारी प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करने पर भी उसका मन किसी अप्राप्य चीज़ की खोज में भटक रहा है । कवि इस भौतिक सभ्यता के पतन को देखते हैं -

मैं देख रहा हूँ कितना मिथ्या भौतिक / पतनोन्नति का सत्य, अरे बेचारा ।[40]

मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में आज के वैज्ञानिक युग में मानव की मानसिकता कितनी विकृत बन गयी है उसका अनावरण भी किया है । वर्तमान समाज की सांस्कृतिक भव्यता के पीछे छिपायी हुई विद्रूपता का अन्वेषण कर समाज के शरीर को कमज़ोर करनेवाले कीटों की जांच भी कवि ने की है । डा. जगदीश शर्मा के अनुसार - "आज की सांस्कृतिक भव्यता के भीतर छिपे विद्रूप का अन्वेषण, ऊपरी चमक दमक के भीतर ढके रोग का अनुसंधान मुक्तिबोध के काव्य का उद्दिष्ट है । भीतरी खोखलेपन को निरावृत करने की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप विद्रूप ने एक प्रभावी तत्व के रूप में मुक्तिबोध के काव्य में स्थान ग्रहण किया है ।"[41] "दिमागी गुहान्धकार का ओरांग उटांग" शीर्षक कविता में आधुनिक सभ्यता की विद्रूपता को आत्मचेतना से प्रस्तुत करते हैं कवि । सारे संसार में वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति हो रही है, लेकिन दूसरी ओर मानव की क्षुद्रता बढती जाती है । विज्ञान ने मानव के बाहरी भौतिक का तो परिवर्तन किया, लेकिन आंतरिक जगत् का नहीं । उनके मन की पाशविकता को कवि प्रस्तुत करते हैं -

करीने से सजे हुए संस्कृत प्रभामय / अध्ययन गृह में / बहस उठ खडी जब
होती है - / विवाद में हिस्सा लेता हुआ मैं / सुनता हूँ ध्यान से /
अपने ही शब्दों का नाद, प्रवाह और / पाता हूँ अकस्मात् / स्वयं के स्वर में /
ओरांग उटांग की बौखलाती हुंकृतियाँ ध्वनियाँ / एकाएक भयभीत /
पाता हूँ पसीने से सिंचित / अपना यह नग्न मन ! / हाय हाय और न जाने से
कि नग्न और विद्रूप / असत्य शक्ति का प्रतिरूप / प्राकृत ओरांग ... उटांग
यह / मुझमें छिपा हुआ है ।[42]

मुक्तिबोध जानते हैं वैज्ञानिक और तकनीकी विकास मानव के लिए उपयोगी है और इसके सावधानी और तर्कसंगत प्रयोग से मानव जीवन स्वर्गतुल्य बन सकते हैं। इसके लिए भौतिक समृद्धि के साथ रचनात्मक संदर्भों के साथ जुड़ाना है विज्ञान को। उसे तटस्थ और वस्तुपरक होना है। मुक्तिबोध मानव पर आस्था रखनेवाले कवि होने के नाते विज्ञान के उज्ज्वल भविष्य पर प्रतीक्षा रखते हैं। कवि वैज्ञानिक को संबोधित करके कहते हैं -

> भव्यकुण्डली भार / दीप्त ब्रह्माण्ड-नदी के तेजस्तट पर / खड़ा हूँ मैं /
> वैज्ञानिक / देख रहा हूँ तुमको / और कि तब छाया मेरी / ब्रह्माण्ड
> अनेकों पार / दूर पृथ्वी पर फैल रही है / जहाँ कि तुम हो /
> काल-दिक्-नैरन्तर्य-शिखर से बोल रहा हूँ।[43]

भ्रष्ट राजनीति

सामाजिक चेतना के नींवाधार तत्वों के विश्लेषण के संदर्भ में हमने कवि और राजनीति के आपसी रिश्ते पर विस्तार से विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला था कि राजनीति वर्तमान कविता का अभिन्न अंग है। यह तो सर्वविदित है कि भारत की वर्तमान राजनीति बुरी तरह भ्रष्ट हो गयी है। इसकी वजह हमारी सामाजिक मूल्य-चेतना पर गहरी दरारें पड़ी हैं। स्वतन्त्र भारत की भ्रष्ट राजनीति के संबन्ध में मुक्तिबोध ने लिखा है - "मेरा अपना विचार है कि जिस भ्रष्टाचार, अवसरवादिता और अनाचार से आज सारा समाज व्यथित है, उसका सूत्रपात बुजुर्गों ने किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत में दिल्ली से लेकर प्रान्तीय राजधानियों तक अवसरवाद और भ्रष्टाचारवादिता के जो दृश्य दिखाई दिए उनमें बुजुर्गों का बड़ा हाथ है।

मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में हमारे सामाजिक जीवन राजनीति अवनति कैसा प्रभाव डालती है इसका चित्रण किया है। लेकिन ऐसा करते समय मुक्ति केवल राजनीति का विश्लेषण न करके समाज पर उसके कार्य-कलापों की परिणति पर देते हैं। वे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राजनीति से असंतुष्ट हैं। वे हमारी राजनीति के संकट और जटिलता को चित्रित करने में हमारी राजनीति में घर कर तानाशाही, सामंतवादी, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी विसंगतियों को विश्लेषित हैं और सामाजिक परिवर्तन में बाधक इन शक्तियों के स्थान पर साम्यवाद की स्था के लिए वर्गसंघर्ष की अनिवार्यता को समझाते हैं। "मुक्तिबोध ने राजनीतिक मूल्यं

जहाँ प्रजातन्त्र {लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था} तानाशाही, सामन्तीय व्यवस्था साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रति अपनी सही समझ का परिचय कविताओं एवं वक्तव्यों में प्रस्तुत किया है, वहाँ समाजवाद, मार्क्सवाद एवं साम्यवाद की वास्तविकता को उद्घाटित करते हुए वर्ग-संघर्ष को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है ।"[45] लेकिन ऐसे चित्रण में मुक्तिबोध में कहीं भी प्रचारवादी या सिद्धांतवादी होने का भाव कुछ भी नहीं दिखता ।[4]

स्वतंन्त्र्य लब्धि के बाद की, और पहले की राजनीति में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है । यह अन्तर नेताओं के संबन्ध में भी स्पष्ट परिलक्षित है । इसका प्रमुख कारण तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ हैं । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले जनता के सामने कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ थीं और उन्हें कुछ ठोस निष्कर्षों तक पहुँचाना उसका लक्ष्य था । अतः तत्कालीन राजनैतिक लक्ष्यों में एक विशाल जनसमाज के जीवन की समावनाएँ थीं । इन लक्ष्यों तक पहुँचने के संबन्ध में नेताओं में कुछ मतभेद होने पर भी लक्ष्य के संबन्ध में नेताओं में कोई विकल्प का भाव नहीं था गाँधीजी, सुभाषचन्द्रबोस आदि नेताओं में यह विशालता दिखाई देती थी । गांधी और सुभाष के रास्ते अवश्य भिन्न-भिन्न थे फिर भी तत्कालीन राजनीति और नेताओं ने भारत को गुलामी के विरो में फूटे विप्लव आन्दोलन में सक्रिय बनाने और मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने में सक्षम बना दिया । अतः हम देख सकते हैं कि आज़ादी के पहले हमारी राजनीति परंपराओं को जडता को नष्टकर रचनात्मक आदर्शों के सृजन में अपनी भूमिका अदा करने में सक्षम हुई ।

लेकिन आज़ादी के बाद की राजनीति एकदम भिन्न दिखाई देती है । सत्ता के हस्तान्तरण ने एक नये शासक-वर्ग और एक नयी व्यवस्था का सूत्रपात किया । इसके बीच सारी अवसरवादी विलोम शक्तियाँ सिर उठाने लगीं । पहले राजनैतिक लक्ष्य के भीतर जातीय जीवन की जो अनन्त संभावनाएँ थीं वे सब लुप्त हो गयीं । राजनीति अनिश्चित तत्वों को दबाने की प्रवृत्ति बन गयी । हम देखते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति बाद की राजनीति में नेहरु का प्रमुख स्थान था । वे देश को समाजवाद के मार्ग पर ले चलने की बातें कर रहे थे । लेकिन उन बातों को काम में लाने में उन्हें कम सफलता मि अतः लोकतन्त्र शासन प्रणाली बनाने पर भी तन्त्र, लोक का नहीं बल्कि पूंजीपतियों, भूस्वामियों और नेताओं का रहा । इसलिए अंग्रेज़ों के द्वारा अधिकारों का हस्तान्त होने पर भी जनता पर इसका असर न पडा । अतः अंग्रेज़ी सरकार की "प्रजा" से

लोकतन्त्र के "लोक" बनने में उसकी हैसियत के संबंध में अधिकांश जनता अनभिज्ञ थी । राजनीति का विकट होना यहाँ से शुरु हुआ और फिर विकट होता जा रहा । और हमारा सामाजिक जीवन में एक अन्धेरा छा गया । मुक्तिबोध की कविता में इस अन्धेरा का साक्षात्कार हमें निरंतर होता है । यह अन्धेरा नेहरु युग की जनता के जीवन-कष्टों का ही नहीं, उन कष्टों को क्रियावान वेदना में बदलने का भी साक्षी है । कवि भयाक्रान्त और निराश होने की जगह युगजीवन के भय और निराशा के समूचे राजनीति-शास्त्र को उघाडने लगते हैं ।

मुक्तिबोध देखते हैं कि आज जीवन के प्रत्येक संदर्भ राजनीति से प्रभावित है । वे जानते हैं कि प्रायोगिक राजनीति अत्यन्त दूषित हो गयी है । क्योंकि राजनीति कुछ लोगों के लिए सुखमय जीवन बनाने का उपाय है । आज राजनीति मात्र नारेबाजी बन गयी है जिससे कवि असंतुष्ट हैं । विविध राजनीतिक दलों का लक्ष्य केवल अपना समर्थन मात्र रह गया है । वे देखते हैं कि इससे समाज के विकास में अडचन आ जाती है । राजनीति इतनी पतित हो गयी है कि तथाकथित राजनीतिज्ञ ढोंगी होने पर भी भारतीय संस्कृति की महिमा के बहाने पर जनता को धोखा देते हैं -

> राजनीति-साहित्य क्षेत्र भी / महा असत्य शूकरों का है एक तमाशा /
> यद्यपि बोली जाती है मुँह से / भारतीय संस्कृति की भाषा है ।[47]

फिलहाल राजनीति ने सारी नैतिकता खो दी है । जिन महान आदर्शों और मूल्यों को ध्यान में रखकर राजनीतिक-व्यवस्था को काम करना चाहिए अनैतिकता उन सारे आदर्शों और मूल्यों को निगल रही है । जनहित के लिए काम करनेवाले नेता लोग आज जनता को चूस रहे हैं । इसके लिए वे अमानवीय और निर्मम तरीकों को अपनाते हैं । जिनके कन्धों पर देश और जनता के रक्षा का दायित्व निहित होता है वे सब रक्षक न होकर भक्षक बन जाते हैं । कलके मसीहा आज के उत्पीडक बन गये हैं ।

राजनीति में मानव मस्तक से निकाले "गाँधीजी की टूटी चप्पल पहने हुए ब्रह्मराक्षसों"[48] का दृश्य हम नित्य जीवन में देखने के आदि बन गये हैं । आज़ादी मिलने के लिए गांधीजी ने जिस भूमिका अदा की उससे नयी पीढी के नेता लाभ उठाते हैं । जनता के विरोध में षडयन्त्र चलानेवाले ये लोग अपनी सफाई देने केलिए ढाल के रूप में गांधीजी को काम में लाते हैं । ये लोग गांधीजी की कसम खाकर कहते हैं कि वे जनता के

सेवक हैं और उनके वास्ते जीते रहे हैं । गाँधीजी ने सत्याग्रह, अहिंसा और भूख हड़ताल आदि जिन महान आदर्शों के बल पर लड़ाई लड़ी और जनता के मन में स्थान प्राप्त किया उन महान आदर्शों की आड में आज के नेता लोग जनता को भुला देते हैं । अपने को जनता के सेवक माननेवाले या दावा करनेवाले ये लोग वास्तव में जनता के विरोध में "साजिश के कुहरे में डूबे" हुए हैं ।

> इस नगरी के प्रहरी पहने हैं धुएँ के लंबे चोगे / साजिश के कुहरे में डूबी ब्रह्मराक्षसों की छायाएँ / गांधी जी की चप्पल पहने घूम रही हैं / छिपे छिपे कुछ फौजी टापें / बूटों की भी गूंज रही हैं ।[49]

मुक्तिबोध मानते हैं कि हमारी राजनीति के भ्रष्ट होने में बुज़ुर्गों के भी हाथ हैं । गाँधी जी जैसे नेताओं ने आज़ादी के लिए अपनी जिन्दगी का कुर्बान किया । लेकिन देश स्वतन्त्र हो जाने पर सारे अधिकार कुछ हाथों में बाँट दिया गया । असल में राजनीति का संबन्ध आम जनता के जीवन से होती है । लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के भविष्य निर्माण में इस विशाल जनसमाज को हिस्सेदार बनाने और अपने उचित हिस्सा देने को बुज़ुर्ग लोग समर्थ न हुए । इसलिए मुक्तिबोध गांधीवाद का समर्थन करने में हिचकते हैं - "असल में यह गांधीवादी प्रवृत्ति प्रश्न, विश्लेषण और निष्कर्ष की बौद्धिक क्रियाओं का अनादर करती हैं ।"[50] "अन्धेरे में" कविता में वे गाँधीजी को एक पंगु के रूप में चित्रित करते हैं -

> ध्यान से देखता हूँ - यह कोई परिचित / जिसे खूब देखा था, निरखा था कई बार / पर, पाया नहीं था । / अरे हाँ, वह तो / विचार उठते ही दब गये, / सोचने का साहस सब चला गया है । / वह मुख-अरे, वह मुख, वे गांधी जी !! / इस तरह पंगु !! / आश्चर्य !! / नहीं, नहीं वे जांच-पड़ताल / रूप बदलकर करते हैं चुपचाप । / सुरागरसी-सी कुछ ।[51]

भारत की राजनीति में गांधी का स्थान सबसे आगे था । लेकिन बाद की राजनीति से उनके आदर्शों को निकाल दिया गया । उनके मन में भारतीय जनता के प्रति पूरी सहानुभूति थी । लेकिन सभी मनुष्य में अच्छाई देखनेवाले वे भारत के भविष्य की राजनीति को देखने या साकार करने में असमर्थ हुए । वास्तव में उनके महान आदर्श और व्यक्तित्व ने ही उन्हें "पंगु" बना दिया । "अन्धेरे में" कविता में गांधीजी के पास एक नवजात शिशु है जिसे वे काव्यनायक को सौंपदेते हैं । यह शिशु आम जनता में

निहित क्रांति की शक्ति के रूप में समझ लेने में कोई आपत्ति नहीं क्योंकि गांधी जी कहते हैं -

मेरे पास चुपचाप सोया हुआ यह था । /
सँभालना इसको, सुरक्षित रखना ।[52]

इस क्रांति की शक्ति को जगाने में गांधीजी सफल न हुए । उनके यहाँ यह सुषुप्त थी । इसलिए आम जनता हमेशा के लिए उपेक्षित और पद्दलित रह जाती है । गांधी जी के आदर्शों में क्रांति की भावना अवश्य निहित थी । लेकिन वह छिपी हुई थी । उनकी पीढी के लोग इसे समझने और काम में लाने में हार गये । इसलिए कवि गांधी जी को स्वाधीनता संग्राम के बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व का प्रतीक के रूप में चित्रित करते हैं ।[53]

आज की प्रायोगिक राजनीति में लोकतन्त्र का स्तर गिर गया है । लोकतन्त्र में अधिकार "लोक" के साथ है । और इस दृष्टि से देखने पर उसकी शक्ति अपार है । आज की चिन्तनीय परिस्थितियों और राजनीतिज्ञों की कूटनीति से जनता धोखा खा रही हैं । आज चुनाव केवल दिखावा है । चुनाव कराना और अधिकार प्राप्त करना नेताओं का एकमात्र लक्ष्य है । ये लोग चुनाव के समय "मगर के आँसू" बहाते हैं और गले फाटकर गरीबी किसान और मजदूरों के संबन्ध में भाषण देते हैं । इस प्रकार हमारी राजनीति में एक प्रकार की व्यावहारिकता फैल गयी है । मुक्तिबोध के अनुसार इस व्यावहारिकता का कारण पूंजीवाद है जो जनता की छाती पर बैठकर उसकी विद्रोहि बुद्धि की त्रिकालदर्शी आँखें निकाल रही हैं ।[54]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राजनीति पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की जड़ों को मज़बूत बनाने में अधिक सहायक हुई । देश को स्वावलंबी बनाने के लिए अपनायी गयी सारी नीतियाँ अवांच्छित फल देने लगीं । हमारे आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए सत्ताधारियों ने विदेशी पूंजी को आमंत्रित किया । हमारा विकास देशी पूंजी और साधन-सामग्रियों पर आधारित होना था । लेकिन नेता लोग बडी मात्रा में विदेशों से कर्ज लेने लगे । ब्रिटेन, अमरीका जैसे विदेशी देशों ने भारत में बडी मात्रा में पूंजी लगा दी और लाभ प्राप्त किया । भारतीय धन-तन्त्री "दिल्ली को वाशिंगटन या लन्दन का उपनगर" बनाने में तुले हुए हैं । इसके पीछे की राजनीति मुक्तिबोध की पंक्तियों में द्रष्टव्य है -

सामाज्यवादियों के / पैसों की संस्कृति / भारतीय आकृति में ढलकर /
दिल्ली को / वाशिंगटन व लन्दन का उपनगर / बनाने पर तुले है !! /
भारतीय धनतन्त्री / जनतन्त्री बुद्धिवादी / स्वेच्छा से उसी का ही कुली है !![55]

"एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन" कविता में मुक्तिबोध हमारी वर्तमान राजनीति को ध्वस्त करनेवाले बुर्जुआ तत्वों की ओर इशारा करते हैं। इसमें वे "इन्द्र के ढहे पडे महल के खण्डहर" की अभिव्यक्ति करते है। इस कविता में चित्रित इन्द्र ब्रिटीश साम्राज्यवादियों का प्रतीक है।[56] यहाँ कवि इस साम्राज्यवाद के ऊपर नव-निर्माण में लगे हुए देशी बुर्जुओं को चित्रित करते हैं -

आवाज आती है / सामने आसमान में कहीं दूर /
इन्द्र के ढहे पडे महल के खण्डहर को / बिजली की गतियां व फावडे /
खोद - खोद / ढेर दूर कर रहे।[57]

मुक्तिबोध के अनुभवी कवि हमेशा उस जनता के पक्ष लेते हैं जिसमें परिवर्तन करने लायक क्रांतिकारी शक्ति होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह जनता हमेशा के लिए उपेक्षा का पात्र बन गयी। सरकार जनशक्ति के विरोध में खडी हुई। उसकी नीति जनता की नीति होने के स्थान पर वह जनता के दमन की नीति हो गयी है सरकार और जनता के बीच मुठभेड़ है -

अचानक हो गयी बरखास्त मानो आज / अत्याचार की सरकार /
जाने देश में किस ध्वस्त / शहरी रास्तों पर भीड़ से मुठभेड़। /
जमकर पत्थरों की चोखती बारिश / व रॉयफल-गोलियों के तेज़ सारंगी /
धडाकों में उभडती आग की बौछार।[58]

अतः हम देख रहे हैं कि हमारी जनतंत्र व्यवस्था धीरे-धीरे तानाशाही का रूप-धारण कर ही जाती है। वह इस लिए हो रहा है कि ये "पूंजीवादी लकड़ी का रावण" झूठे जनतंत्र पर अपने आसन को दृढ बनाने के लिए हज़ारों उपाय कर रहा है। लेकिन कुहरे के इन "जनतंत्रियों" को निरंतर धोखा देने में विजयी नहीं हो जाते हैं। इसलिए वे झूठे जनतंत्र की रक्षा नहीं कर पाते। ये "नर-वानर" अथवा जनवादी शक्तियां शांत नहीं रह सकती। इससे भयाक्रान्त होकर अधिकार के समुत्तुंग शिखरों पर बैठनेवाले

"रावण" को अपना असली रूप दिखाना पड़ता है । अतः बलप्रयोग उसका सबसे बड़ा हथियार है । मुक्तिबोध देखते हैं कि राज्य सत्ता सेना, पुलिस, अदालत एवं कारागार के रूप में अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति करती है । उनकी कविता सत्ता एवं सत्ता की राजनीति की परिणति का साक्षात्कार करती है -

सत्ता धारी की पैशाचिक हड्डी के पंजे की सत्ता /
जीवन हत्याओं की काली यह रोमहर्षमय देश-कथा /
अब क्षितिज-क्षितिज पर गूंज रहा / चोखता हुआ-सा एक शोर /
शोषण के तलघर में अत्याचारों की चाबुक मार ।[59]

देश के राजनीतिक क्षेत्र में एकाधिकार की प्रवृत्तियाँ बढ रही है । सर्वहारा वर्ग, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले शुरु की गयी क्रांति का दूसरे दौरे की तैयारी में है । लेकिन इसमें सर्वहारा वर्ग को देशी सत्ता का सामना करना पड़ता है । क्योंकि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हमारे देश के बुर्जुआ तत्व ने हमारी ही जनता पर दमन की नीति चला दी । इसका चित्रण है "चाँद का मुँह टेढा है । रजनी के निजी गुप्त चरों की प्रतिनिधि बिल्ली रात के अन्धेरे में हड़ताली पोस्टर चिपकानेवाली भुजाओं को ताड लेती है । इन पोस्टरों में मानव के विरोध में सत्ता के अत्याचार और दमन की करुण-कथाएँ भरी हुई हैं जो मानव की स्थिति का परिचय देकर सत्ता के विरोध में एकजुट होने का आह्वान देती हैं । यह बिल्ली वास्तव में राजसत्ता की दमन नीति की प्रतीक है । यह बिलकुल काले रंग की और उसके श्वेत पंजे से खून की बूंदें टपक रही हैं ।

मद्धिम चाँदिनी में एकाएक एकाएक / खपरैलों पर ठहर गयी /
बिल्ली एक चुपचाप / रजनी के निजी गुप्तचरों की प्रतिनिधि /
पूँछ उठाये वह / जंगली तेज / आंख फैलाये / यमदूत-पुत्री-सी .../
देखती है मार्जार / चिपकाता कौन है / मकानों की पीठ पर /
अहातों की भीत पर / बरगद की अजगरी डालों के फन्दों पर /
अन्धेरे के कन्धों पर / चिपकाता कौन है / चिपकाता कौन है /
हड़ताली पोस्टर / बड़े-बड़े अक्षर / बाँके-तिरछे वर्ण और /
लम्बे-चौड़े घनघोर / लाल-नीले भयंकर / हड़ताली पोस्टर ।[60]

हमारी जनता में अधिकांश एक वक्त के भोजन के लिए तरसनेवाले किसान और मजदूर हैं । इनकी पूरी जिन्दगी देश के निर्माण में फाक्टरियों और खेतों में विनष्ट हो जाती हैं । इन फटेहालों का आलम क्या है इसकी खोज करनेवाला कोई नहीं है । सत्तारूढ वर्ग के द्वारा इनको घोर अपमान सहना पडता है । इनकी न्यायपूर्ण मांगों पर भी अधिकारी लोग निषेध पूर्ण रुख रखते हैं । "चांद का मुँह टेढा है" में कारखाने के परिवेश का वर्णन करते हुए सरकार द्वारा जनता की आवाज को रोकने के लिए करफ्यू आदि जनविरोधी उपायों का सहारा लेने का चित्रण मिलता है –

गगन में करफ्यू है, / धरती पर चुपचाप जहरीली छिः थूः है !!
पीपल के खाली पडे घोंसलों में पक्षियों के / पैठे हैं खाली हुए कारतूस ।[61]

राजनीतिक नेताओं की दुधारा नीति व्यापक रूप से चर्चित विषय है । वे एक ओर शांति की चर्चा छेडते हैं, दूसरी ओर हिंसात्मक नीति का प्रयोग भी करते हैं स्वतंत्रता के बाद भारत की यही नीति बनी । विदेश में पंचशील और विश्व-शांति के अग्रदूत बनकर रहनेवाले देश के अन्दर कडाई की नीति को अपनाते हैं । इस नीति की विरोध भावना मुक्तिबोध की कविताओं में है । सत्तारूढ होने पर ये लोग शासन के हाथी-दांत मीनारों में अपने को सुरक्षित पाते हैं । ये जनता से अपने नाते काट देते हैं । जनता के बीच से जनता द्वारा चुने गए ये लोग फिर उनके बीच रहने डरते हैं और उसे केवल भीड़ समझ लेते हैं । जनता की मांगें उनके लिए "निराधार" हैं । और जनता के दमन के लिए सेना और पुलीस का आश्रय लेते हैं । सत्ता प्राप्ति के पहले जो बातें संभव थीं वे सारी बातें शासन की बागडोर हाथ आते समय असंभव बन जाती है । "लकडी का बना रावण" कविता में "कुहरे" रूपी "जनतंत्री" और "शून्य" रूपी दमनतंत्र के द्वारा कवि राज्य सत्ता की दमन की पराकाष्ठा को दिखाते हैं –

आसमानी शमशीरो, बिजलियो, / मेरी इन भुजाओं में बन जाओ /
ब्रह्म-शक्ति / पुच्छल ताराओ, / टूट पडो बरसो / कुहरे के रंगवाले
बानरों के चेहरे / विकृत, असभ्य और भ्रष्ट हैं /
प्रहार करो उन पर / कर डालो संहार !![62]

"अंधेरे में" कविता का काव्य-नायक देखता है कि वर्तमान जीवन में शासक वर्ग का आतंककारी और दमनकारी रूप कोई छिपाव के बिना प्रकट हो रहा है । आज हमारी

राजनीति में जनवादी तत्वों का लोप हो रहा है । इस कविता में तिलक की पाषाण मूर्ति की फैंटसी के द्वारा कवि इस तत्व को उजागर करते हैं । काव्य-नायक कोलतार रास्ते में तिलक की निसंग मूर्ति को देखता है । देखो ही देखो वह मूर्ति हिलती है, उसके कण-कण कांपने लगते हैं और अंगों से नीले इलैक्ट्रोन झरते हैं । पत्थरी होंठों पर मुस्कान हैं और आंखों में बिजली चमकती है । काव्य-नायक चकित होकर देखता है कि उस प्रतिमा की नासिका से खून की धारा बहती है "मानो मस्तक-कोष ही फूट पडे सहसा" । स्वतंत्रता के पहले अंग्रेजों से आज़ादी की लडाई चलानेवाले तिलक के माध्यम से कांग्रेज में "आज़ादी हमारा जन्म अधिकार" की घोषणा हुई । उन्होंने कांग्रेस के भीतर की ढुलमुल नीतियों और दुहरी नीतियों से अन्दर ही अन्दर संघर्ष किया था । किन्तु आज वाचक नायक के सामने वर्तमान शासक वर्ग का यह आतंककारी दमनकारी रूप उसे लगातार यह एहसास कराता है कि बुर्जुआ क्रांति के अग्रधावकों की ओर से कम से कम जनवादी तत्वों की भी रक्षा नहीं हो रही है । तिलक की नाक से बहता खून बुर्जुआ के द्वारा जनता की हकों की प्रकट हत्या के अर्थ में समझ लेना अधिक समीचीन लगता है -

सपाट सूने में ऊँची-सी खडी जो / तिलक की पाषाणमूर्ति है निःसंग /
स्तब्ध जडीभूत .../ देखता हूँ उसको परंतु, ज्यों ही मैं पास पहूँचता /
पाषाणी - पीठिका हिलती-सी लगती / अरे, अरे, यह क्या !!
........./ इतने में यह क्या !! / भव्य ललाट की नासिका में से /
बह रहा खून न जाने कब से / लाल-लाल गरिमा रक्त टपकता /
(खून के धब्बों से भरा अँगरखा) / मानो कि अतिशय चिन्ता के कारण /
मानस-कोष ही फूट पडे सहसा / मस्तक-रक्त ही बह उठा नासिका में से ।[63]

स्वतंत्र भारत की राजनीति ने जनता की नसों में सांप्रदायिकता का ज़हर भी भर दिया है । हमारे संविधान के मुताबिक धर्म-निरपेक्षता पर समाज का आधार डाला गया है । लेकिन जिन महान लक्ष्यों से इसका सूत्रपात हुआ उनकी अवहेलना हुई । बाद में खद्दर-धारी ब्रह्मराक्षसों ने उसका दुरुपयोग किया । धर्म-निरपेक्षता की आड़ में बहुमत प्राप्त करने के लिए इन लोगों ने जनता के मन में सांप्रदायिकता का विष फैला दिया । चुनाव जीतने के लिए सारी राजनीतिक पार्टियाँ इससे लाभ उठाती हैं । ये प्रत्येक स्थान में जिस जाति या धर्म के लोग अधिक हैं उस जाति या धर्म के व्यक्ति को उम्मीदवार बनाती हैं । मुक्तिबोध ने "एक साहित्यिक की डायरी" में इसकी सूचना दी है ।[64]

जैसे सूचित किया कि स्वातंत्र्य लब्धि के बाद राजनीति सुखमय जीवन बिताने केलिए सबसे आसान और सस्ता उपाय बन गयी । हमारी राजनीतिक-व्यवस्था कुछ गैर-सामाजिक तत्वों से खरीदी गयी । जिसके पास पैसे होते हैं और जिसके पीछे अधिक लोग खडे होते हैं चाहे वह चरित्रहीन व्यक्ति भी हो वह राजनीति की ऊँचाईयों में पहूँच सकता है । पुराने ज़माने में नेता वे हो सकते थे जो जनता के थे और उसके साथ देते थे । लेकिन आज कोई उल्लू भी नेता बन सकता है । इन लोगों का एकमात्र लक्ष्य चुनाव जीतना है । ये लोग अपनी कूटनीति से नये-नये चुनाव कराते हैं -

इस नगरी के सिद्धों-जैसे वृद्ध बरगदों / पेडों पर हैं / गिद्धों और उल्लुओं के
उद्दण्ड बसेरे / जिनमें चलती हाथ पाई / पानीपत की छिडी लडाई /
उनमें जब जब बीच बचाव करानेवाली / कूटनीति की पली गिलहरी /
बन्दर बांट न हो पाई है, दुनिया सिहरी / जानवरों के पीरों ने तब /
नये चुनाव कराने को यों / गुंजवाये हैं सौ सौ भोंगे ।[65]

मुक्तिबोध स्पष्टतः स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राजनीति से असंतुष्ट हैं । वे देख रहे हैं कि राजनीति मनुष्य के खिलाफ रची गयी सत्ता की साजिश रह जाती है । इससे अराजकवादी और साम्राज्यवादी शक्तियाँ सबल बन जाती हैं । सत्ता अपनी ताकत से सबकुछ कर पाती है । लेकिन जनता उसके अधीन होकर त्रस्त रह जाती है । कवि के अनुसार राजनीति जनता की संपृक्ति से सार्थक हो सकती है । लेकिन विडंबना यह है कि कोई भी व्यक्ति उसे अपने अनुकूल ओढ़ने का चादर समझ लेता है । अपनी पूरी दिल और दिमाग के साथ समाज के यथार्थ को परखनेवाले मुक्तिबोध के शब्द गांधीजी के मुंह से भ्रष्ट राजनीति के विरोध में आग्नेयास्त्रों को छोडते हैं -

वे कह रहे हैं - / दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर / दानों को
चुगने चढा हुआ कोई भी कुक्कुट / कोई भी मुरगा / यदि बांग दे उठे
ज़ोरदार / बन जाये मसीहा" / वे कह रहे हैं - / मिट्टी के लोंदे में
किरगीले कण-कण / गुण है / जनता के गुणों से ही संभव / भावी का उद्भव...।[66]

स्वार्थपरता

अपने जीवन को सुखमय बनाना प्रत्येक व्यक्ति की प्रबल इच्छा है । वह अपने को आर्थिक खतरों से दूर रखना चाहता है । इसके लिए व्यक्ति को अधिक सतर्क रहना पड़ता है क्योंकि आज का भौतिक जीवन अनेक अप्रतीक्षित खतरों से भरा हुआ है । व्यक्ति को अपने जीवन को बनाये रखने का अधिकार है । लेकिन हम देखते हैं कि अधिकांश लोग जीते हुए केवल अपनी बातों पर ही ध्यान देते हैं । एक सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति का धर्म है, अपने जीवन के साथ-साथ औरों का ख्याल भी रखना । लेकिन यह बात विरले ही संभव हो जाती है । अतः हम कह सकते हैं मनुष्य मूलतः स्वार्थी हैं । स्वार्थपरता के कारण मनुष्य को जिन महान मूल्यों को त्याग देना पड़ता है और उसके कारण मनुष्य जिस परेशानी को झेलने में विवश है मुक्तिबोध की रचनाओं का, चाहे वह गद्य हो या पद्य, विषय रहा है । श्रीकान्त वर्मा इसकी सूचना "काठ का सपना" की भूमिका में यों देते हैं - "समृद्ध होकर जीने के लिए आदमी को जो कीमत चुकानी पड़ती है वह हमेशा ही मुक्तिबोध की परेशानी का विषय रही है ।"[67] उन्नति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति चक्करदार रास्तों से चलता है । कवि के शब्दों - "उन्नति की तिमंजली इमारत में घुसकर ऊपर तक जाने के लिए सिर्फ एक ही जीना है, वह भी चक्करदार है ।"[68] स्वार्थ सिद्धि की प्राप्ति में भौतिक सुविधाओं को प्राप्त करने की दौड़धूप में व्यक्ति का चरित्र कैसे होता है, कवि स्पष्ट करते हैं -

> हर आदमी इस सल्तन्त में उचककर चढ जाना चाहता है /
> धक्का देते हुए बढ जाना चाहता है, / हर एक को अपनी अपनी /
> पड़ी हुई है । / चढने की सीढियाँ / सिर पर चढ़ी हुई हैं ।[69]

समाज की जड़ों को दुर्बल बनानेवाली स्वार्थपरता के चित्रण में मुक्तिबोध कभी कभी संबोधन शैली अपनाते हैं । इससे वे समाज की अर्थनीति और उससे जनता पर पडनेवाली विभीषिकाओं को लोगों के सम्मुख रखना अपना दायित्व मानते हैं । आज समाज में सामाजिक मूल्यों का स्थान आर्थिक मूल्य ले रहे हैं । अतः लाभ-लोभ से प्रेरित जनसमाज से मूल्यों की रक्षा कभी भी न होगी । कवि संकेत करते हुए कहते हैं कि - "मूल बात यह है कि यह संकट लाभ लोभ के फलस्वरूप और उस लाभ लोभ से प्रेरित "समझदारी" से पैदा होता है । जब तक समाज पर धन का शासन रहेगा तब तक यह चारित्रिक संकट

अधिक से अधिक असंतोष और अव्यवस्था उत्पन्न करने के अतिरिक्त मानव मूल्यों की हानि के साथ ही, लाभ लोभ से प्रेरित "समझदारी" को प्रधानता देता जाएगा, आदमी ज्यादा से ज्यादा टुच्चा और ओछा होता चला जाएगा ।"[70] इसप्रकार की मूल्यहीनता के पीछे की स्वार्थपरता को उन्मीलित करने से कवि के तीक्ष्ण व्यंग्य के साथ मूल्य-चेतना का सामाजिक पक्ष भी प्रकाश में आता है । "कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं" कविता में कहा गया है कि पशुओं के राज्य के बियावान जंगल में स्वार्थों का भीमाकार बरगद का पेड है । और उस जंगल में सफलता और भद्रता की "पूनों की चाँदनी" फैली है । जो कुछ उस जंगल में प्रवेश होता है वह घुग्घू या सियार बन जाता है -

मैं पुकार कर कहता हूँ - / "सुनो, सुननेवालो ! / पशुओं के राज्य में जो
बियावान जंगल है / उसमें खडा है स्वार्थ का प्रभीमकाय / बरगद एक विकराल ।[71]
/ अगर कहीं सचमुच तुम / पहूँच हो वहाँ गये /
तो घुग्घू बन जाओगे / सियार बन जाओगे ।[72]

स्वार्थपरता समाज में प्रचलित सारे मानवीय मूल्यों को बरबाद कर देती है । इसकी वजह लोग विवेक और आदर्श को मन से बाहर निकालकर उसके स्थान पर स्वार्थों के "टेरियर कुत्तों" को पालते हैं । अतः मानवीयता की सरिता सूखकर मानव का मन केवल रेगिस्थान बन गया है । अब व्यक्ति पर मन का शासन नहीं धन का शासन है अपनी आत्मकेन्द्रित अवस्था की कीचड़ में फँसे और धँसे हुए मानव की स्थिति देखिए -

लो-हित-पिता को घर से निकाल दिया, / जन-मन-करुणा-सी माँ को हंकाल
दिया, / स्वार्थों के टेरियार कुत्तों का पाल लिया, / ..../
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में / आदर्श खा गए ।[73]

व्यक्ति इतना स्वार्थान्ध हो गया है कि वह देश के प्रति अपने नागरिक-धर्म का पालन नहीं कर पाता । स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले देश के प्रति लोगों के मन में आदर, आस्था और गौरव थे और देश के लिए बलि होने में उतावले थे वे भाव अब कहीं गुम हो गये हैं । आज देश के प्रति निछावर होने के लिए कोई तैयार नहीं । व्यक्ति सिर्फ देश से सब कुछ मिलने और पाने में तत्पर हैं चाहे देश पर कैसी भी आपत्ति आये उनकी बिलकुल परवाह नहीं । इस ज़माने में व्यक्ति अपने दिल को पत्थर बनाकर जीवन बिताता है -

बताओ तो किस-किस के लिए तुम दौड गये / करुणा के दृश्यों से हाय !
मुँह मोड़ गये, / बन गये पत्थर / बहुत-बहुत ज्यादा लिया, /
दिया बहुत-बहुत कम, / मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम !![74]

ये स्वार्थी लोग जिन्दगी की शर्मनाक शर्तों को सह लेते हैं । "भूलगलती" की सभा में स्थान प्राप्त करने के लिए अपनी आत्मा को भी बेचने को तैयार हो जाते हैं मनुष्य ।[75] मानव जीवन को अर्थदेनेवाले सारे मानवीय आदर्शों को पत्थरों के समान फेंक देते हैं । इससे बचने की निष्ठा, साहस और संकल्प शक्ति आधुनिक सभ्य मानव में नहीं है । इसलिए कवि कहते हैं कि "आधुनिक सभ्यता के वन का व्यक्तित्व वृक्ष सुविधावादी है । "एक अर्न्तकथा" कविता की माँ के शब्दों में आज की मूल्यहीनता का परिचय देते हैं कवि -

मुड़कर के मेरी ओर सहज मुसका / वह कहती है - / आधुनिक सभ्यता के वन में
व्यक्तित्व वृक्ष सुविधावादी / / कल्याणमयी करुणाएँ फेंकी
गयीं / रास्ते पर कचरे जैसी ।[76]

"इस नगरी में चाँद नहीं है, सूर्य नहीं है, ज्वाल नहीं है" - मुक्तिबोध की एक प्रसिद्ध रचना है । इसमें हमारे समाज के सिर से पैर तक फैली हुई स्वार्थपरता को शब्दबद्ध करते हैं कवि । हमारे नेता लोग अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए देश के महान नेताओं द्वारा प्रशस्त किए गए रास्तों को अपनी सुविधानुसार प्रयोग करते हैं और उन्हें कलंकित करते हैं । लोगों को धोखा देकर जीवन बितानेवाले इन परोपजीवियों की वास्तविकता मुक्तिबोध की पैनी दृष्टियों से बच नहीं सकी । ये लोग देश के सारे वातावरण को द्वेष, घृणा और नोच-खसोट से भर देते हैं -

इस नगरी में चाँद नहीं है, सूर्य नहीं है, ज्वाल नहीं है / सिर्फ धुएँ के बादल-
दल हैं / और धुआँते हुए पुराने हवामहल हैं / / वैसे कुछ लोगों
के हिय में नहा-नहाकर / ऊँचा मानव आदर्शों का रूप-स्वरूप / स्याह होता है /
निर्णयकारी स्वार्थों के काले महलों में ।[77]

समाज की आँखों में धूल डालकर सज्जनता की आड़ में अपनी उल्लु सीधा करनेवाले ये स्वार्थी लोग प्रकाश में समाज की भलाई की बातें करते रहते हैं । मुक्तिबोध इन लोगों को "मृतात्माएँ"[78] कहते हुए बताते हैं कि ये लोग हर रात में जुलूस में चलते हैं और

दिन को उजाले में विभिन्न दफ्तरों, कार्यालयों, केन्द्रों और घरों में बैठकर षडयन्त्र करते रहते हैं । "अन्धेरे में" कविता का जुलूस का चित्रण इसी दृष्टि में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । समाज की मूल्यहीनता के चित्रण का केवल यही एक प्रसंग मुक्तिबोध की प्रतिभा का परिचय देने के लिए काफी है । इस जुलूस में समाज के तथाकथित सभ्य और अभिजात लोग शामिल हैं । इसमें प्रतिष्ठित पत्रकार, आलोचक, विचारक, मंत्री, कविगण, उद्योगपति और यहाँ तक कि शहर का कुख्यात हत्यारा डोमाजी उस्ताद भी हैं । वास्तव में ये सारे लोग स्वार्थता की साकार मूर्तियाँ हैं और जुलूस में चलते देखकर यह शोभायात्रा किसी मृतदल की शोभायात्रा जैसी लगती है -

उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, जगमगाते कवि-गण / मन्त्री भी,
उद्योगपति और विद्वान / यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात /
डोमा जी उस्ताद / बनता है बलबन / हाय, हाय !! / यहाँ ये
दीखते हैं भूत-पिशाच-काय । / भीतर का राक्षसी स्वार्थ अब /
साफ उभर आया है, छिपे हुए उद्देश्य / यहाँ निखर आये हैं, /
यह शोभा-यात्रा किसी मृत-दल की ।[79]

ये शोषक वर्ग अपनी स्वार्थपरता के लिए कई उपाय करते रहते हैं । समाज की वास्तविक स्थितियों को वे छिपा रखते हैं और समाज को भ्रम में डालते हैं कि समाज की समस्याएँ दलितों की "प्रॉपगैंडा" है । इसमें कोई वास्तविकता नहीं है । इसप्रकार ये स्वार्थी समाज की गंभीर समस्याओं से अपना पिंड छुड़ाते हैं । "मेरे लोग" शीर्षक कविता की पंक्तियाँ हैं -

समूचे दृश्य से मुँह मोड़ यह कहते - / "हटाओ ध्यान, हम से वास्ता क्या है /
जिवे दुःस्वप्न आकृतियाँ / असद् हैं, घोर मिथ्या हैं !!" / दलिद्दर के
शनिश्चर का / भयानक प्रॉपगैंडा है ।[80]

अतः कवि देखते हैं समाज में शिश्नोदर-पूर्ति ही एकमात्र बल है और वह सारे समाज को मूल्यहीनता के दलदल में धंसा देता है । इससे तथाकथित "सभ्य समाज" कवि को जंगल-सा अपरिष्कृत और आतंकित दिखाई देता है -

शिश्नोदर - लक्ष्य-पूर्ति का बल अब एकमात्र बल है / जो वेश बदलता रहता है / वह कुत्ते-सा घूमता शहर के रास्तों पर / तब बहुत युद्ध होता है भरे मुहल्ले में / पूरा का पूरा शहर चीख चिल्लाहट सुनता रहता है / हाँ वही शक्ति बेखौफ रीछ बन कर शिकार पर आती है / मानो समाज सभ्यता घना जंगल ही हो ।[81]

इस शिश्नोदर-लक्ष्य-पूर्ति के बल पर जो जीवन बिताया गया है वह कोई महत्व नहीं रखता है । वह वास्तव में स्वार्थता की शोभा-यात्रा मात्र है । "अंधेरे में" कविता का "प्रज्वलित धी" और "जागरित बुद्धि" से युक्त पागल के आत्मोद्बोधमय गीत में आज के स्वार्थान्ध समाज का असली रूप सामने आता है । मुक्तिबोध आत्म-संघर्ष, आत्मालोचन और आत्मविश्लेषण के कवि हैं । इसलिए कभी कभी उनके मन में शंका हो जाती है कि समाज को संकट में डालने में उनके हाथ भी हैं'

ओ मेरे आदर्शवादी मन, / ओ मेरे सिद्धांतवादी मन, /
अब तक क्या किया' / जीवन क्या जिया !! /
उदरम्भरि बन अनात्म बन गये / भूतों की शादी में कनात-से तन गये /
किसी व्यभिचारी के बन गये बिस्तर ।[82]

यहाँ कवि ने भ्रष्टाचार और शोषण पर पर्दा डालनेवाले आधुनिक समाज के प्रमुख भावों को सूचित करने केलिए ही "अनात्म बन जाना", "भूतों की शादी में कनात-से तनना" जैसे प्रयोग किये हैं ।

आज अधिकांश लोग मानवता के नाम पर अधर-व्यायाम करते हैं । लेकिन प्रचलित व्यवस्था की जिन कमजोरियों से समाज का पतन हो रहा है उन कमजोरियों को दूर करने का कोई प्रयत्न उनकी ओर से नहीं होता है । संसार की स्थितियों के संबन्ध वे इसलिए बातें करते हैं कि जिससे अपनी बातें हो जाएँ । लेकिन ऐसे अवसरवादी लोगों के सम्मुख कवि अपने को ईमानदार मानते हैं । औरों केलिए जहाँ संघर्ष और प्रगति का अर्थ अपनी लोलुपता है वहाँ कवि का लक्ष्य मानवराशि का सुख और शांति है । इसलिए उनको डर लगता है कि सफलता की प्राप्ति के दौडधूप में वे सियार घुग्घू न हो जाएँ -

मुझको डर लगता है, / मैं भी तो सफलता के चन्द्र की छाया में /
घुग्घू या सियार या / भूत नहीं कहीं बन जाऊँ ।[83]

सत्य सामाजिक जीवन को आगे बढानेवाले महत्वपूर्ण मूल्यों में एक है । लेकिन स्वार्थ से अन्धे हुए मनुष्य इस महान मूल्य को भूमिस्थ कर देते हैं । अतः सत्य की अवहेलना करके अपने लोभों को आर्जित करते हैं । वे लोग अपने मतलब के लिए सत्य को लचीला बनाते हैं । उनकी बातों और कर्मों में कोई सामंजस्य नहीं दिखता है । इस बात में मध्यवर्ग ही सबसे आगे हैं । ये लोग अधिक चंचल होते हैं और समाज की प्रत्येक गतिविधियों से आलोडित हो जाते हैं । इस प्रकार सारे मूल्यों को नष्ट करके समाज-वृक्ष के तन को सुखा देनेवाले स्वार्थ लोगों के जितने भी चित्र मुक्तिबोध के काव्य में मिलते हैं । "मध्यवित्त" कविता की पंक्तियाँ हैं -

> आदर्शों के त्यक्त शिवालय के सूने में / स्वार्थी इच्छा-श्वान दुबकते, सोते नीरव/ हैं, सुविधानुसार तत्वों के प्रयोग अभिनव । / मन्तव्यों, वक्तव्यों, कर्तव्यों में अन्तर / देख शब्द का अर्थ अनाहत खोया-खोया, / बेहद के मैदान कबीरा बेबस रोया ।[84]

आजकल स्वार्थपरता अंतरराष्ट्रीय रूप धारण कर चुकी है । साम्राज्यवाद और पूंजीवादी शक्तियों ने संसार में एक प्रकार की संकट-अवस्था उत्पन्न कर दी है । इन शक्तियों की आपसी स्पर्धा विभिन्न देशों के बीच होड़ और तनाव का कारण बन जाती है । इसके फलस्वरूप सारे संसार में एक शीतयुद्ध की विभीषिका छायी हुई है और कभी-कभी मानव-सभ्यता को ही भस्म करनेवाले विश्वयुद्धों को छिड़ाने की स्थितियाँ मानवराशी को अस्वस्थ कर देती हैं । मुक्तिबोध मानववादी कवि हैं । वे मानव-सभ्यता पर पड़नेवाली प्रत्येक चोट को अपनी छाती पर सना लेना चाहते हैं । इसलिए वे इन पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियों की दानवी और पाशविक नीतियों को प्रकाश में लाकर उनका विरोध करते हैं ।

भ्रष्टाचार

भ्रष्टाचार भारतीय सामाजिक जीवन का अनिवार्य अंग सा हो गया है । यह सचमुच खून में मिला प्रतीत होता है । भ्रष्टाचार में सत्ताधारी और धनिक धार्मिक आदर्शों का भी दुरुपयोग करते हैं । समाज के ये अभिजात वर्ग पीड़ित जनता के शोषण के लिए सबसे शक्तिशाली हथियार के रूप में इसे इस्तेमाल करते हैं । मुक्तिबोध के अनुसार अहिंसा आदि सिद्धांत भी मानव के शोषण पर आधारित है क्योंकि जो लोग इसका प्रचार करते हैं वे उसके अनुसार व्यवहार नहीं करते । मुक्तिबोध महान आदर्शों को विकृत करने में मनुष्य के सहज स्वभाव की सूचना देते हुए लिखते हैं - "मनुष्य में एक बहुत बड़ी शक्ति है - विकृत करने की शक्ति । व्यापक सामाजिक प्रभाव रखनेवाले मार्गों और उनके प्रवर्तक के विचारों को विकृत रूप में रखकर, उस विकृत रूप का, सच्चाई के नाम पर, प्रचार किया गया है - चाहे वह बौद्ध हो या ईसाई मत"[85] "चाँद का मुँह टेढ़ा है'" कविता की पंक्तियाँ हैं -

संस्कृति के कुहरीले धुएँ से भूतों के / गोल-गोल मटकों से चेहरों ने /
नम्रता के घिघियाते स्वांग में / दुनिया को हाथ जोड़ / कहना शुरू किया - /
बुद्ध के स्तूप में / मानव के सपने / गड़ गये, गाड़े गये !! / ईसा का पंख सब /
झड़ गये, झाड़े गये !![86]

भ्रष्टाचार के कारण व्यक्ति किसी भी परिस्थिति से समझौता करने के लिए तैयार हो जाता है । जो व्यक्ति ऐसे समझौतों से इनकार करते हैं उनको जीवन की मुश्किलों से मुक्ति नहीं होगी । इसलिए व्यक्ति की सार्थकता इसी में है कि वह अनैतिक परिस्थितियों से किसी भी हद तक सामंजस्य स्थापित करे । चाटुकारिता में व्यक्ति कितना कुशल होता है उसकी विजय उतना आसान है । "हां में हां" भरना या "नहीं-नहीं" कहना उसकी जीवन-कला बन जाती है । इसकी ओर मुक्तिबोध संकेत करते हैं - "समर्थन ही सामर्थ्य है । इस महान सत्य को भूलकर जो लोग काम करते हैं वे अंधी दीवार से टकराते हैं । आजकल व्यक्तिगत पुरुषार्थ और पराक्रम का कोई मतलब नहीं । इस प्रचण्ड सत्य को जानना क्या ज़रूरी नहीं है । बुद्धिमानी इसी में है कि दरारें देखो और उनमें चुपचाप रेंग जाओ, और रेंगते हुए ऊँची से ऊँची सतह तक पहुँचो । यह है वास्तविक जीवन-कला ।"[87]

लेकिन इस जीवन-कला में व्यक्ति तब निपुण हो जाता है जब वह भूलों और गलतियों से समझौता करने में नहीं हिचके । "चांद का मुँह" टेढा है" में संगृहीत "शून्य" कविता की पंक्तियों में उसकी सूचना है -

जगह-जगह दाँतदार भूल, / हथियार-बन्द गलती है, /
जिन्हें देख, दुनिया हाथ मलती हुई चलती है ।[88]

'भूल' मानव को कमज़ोर जानकर उसे अपने अधीन में रहने को विवश कर देती है । मानव कभी भी इसके आकर्षण से मुक्त नहीं हो जाता है । वह पशुता की शर्तों से मंजूर हो जाता है । और वह पशुता हमारी-आपकी कमज़ोरियों के स्याह स्याह जिरहबख्तर पहनकर खूंख्वार हो गयी है । व्यक्ति की ईमान बन्दी बन गयी है । दिल की सारी बस्तियाँ उजड गयी हैं अर्थात् सारी संवेदनाएँ लुप्त हो गयी हैं और सचाई की आँखें निकाली गयीं हैं । अतः मानवीय जीवन की मूल्यवान संवेदनाएँ और सुविधापरस्ती की भावना दोनों एक साथ नहीं चल सकती क्योंकि इन में विरोध इतना है कि व्यक्ति के मन में बड़ा संघर्ष चलता रहता है । भौतिक उन्नति से आकृष्ट होने से व्यक्ति को "लाभ-लोभ की अर्थवादिनी सत्तारूपी बंगले" से तादात्म्य होना पडता है और मूल्यवान संवेदनाओं को त्याग देना पडता है -

भूल (आलमगीर) / मेरी आपकी कमज़ोरियों के स्याह /
लोहे का जिरहबख्तर पहन, खूंख्वार / हाँ, खूँख्वार आलीजाह , /
वो आँखें सचाई की निकाले डालता, / सब बस्तियाँ दिल की उजाड़े डालता, /
करता हमें वह घेरे, / बेबुनियाद, बेसिर-पैर / हम सब कैद हैं
उसके चमकते तामझाम में शाही मुकाम में ।।[89]

नपुंसकता, भ्रष्ट समाज की पहचान है । जीवन के सभी पहलुओं में इसी नपुंसकता ने अपना शासन स्थापित कर लिया है । समाज में अत्याचारों के कारण संघर्ष चल रहा है कहीं जनता और अत्याचारियों के बीच संघर्ष के कारण शहर में मार्शल-लॉ लगा हुआ है और कहीं गोली चली है । मुक्तिकामी जनता को दबा देने की सारी कोशिशें हो रही

इसी संघर्ष के समय जिन बुद्धिजीवियों और विचारकों को जनता के साथ देना है वे सब चुप ही नहीं रहते बल्कि उनकी राय में ये सारी बातें मात्र किंवदन्ती हैं । ये बौद्धिक वर्ग केवल क्रीतदास बन गये हैं । उनकी नपुंसकता कवि को बर्दाश्त नहीं -

> सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन् निर्वाक् / चिन्तक,
> शिल्पकार, नर्तक चुप हैं / उनके खयाल से यह सब गप है /
> मात्र किंवदन्ती । / रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये
> सब लोग / नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे । / प्रश्न
> की उथली-सी पहचान / राह से अनजान / वाक् रुदन्ती । /
> चढ गया उर पर कहीं कोई निर्दयी, / कहीं आग लग गयी,
> कहीं गोली चल गयी ।[90]

ऐसे ठंडेपन से जड बने समाज में स्वतंत्र विचार वाले व्यक्तियों का जीना मुश्किल है । क्योंकि उनमें विद्रोहिणी शक्ति निहित होती है । इसलिए नपुंसकों के समान चुप रहना उनकेलिए असंभव है । ऐसे साहसी लोग समाज के अत्याचारों के सामने प्रश्नचिह्न लगाते हैं । इन लोगों को मूल्यहीनता की दलदल में डूबा हुआ समाज पागल बना देता है और इनको सब प्रकार की अवहेलनाओं और अवज्ञाओं से क्षत-विक्षत होना पडता है । "अंधेरे में" कविता के काव्यनायक की स्थिति ऐसी ही है । अंधेरे की आड में छिपे तरीके से चलनेवाली "नगर की मृतात्माओं की शोभा-यात्रा" को अपनी आंखों से देखने के अपराध में अत्याचारी सत्ता के द्वारा वह पकडा जाता है । समाज की भ्रष्टनीति को देखने की त्रिकाल दर्शी बुद्धि के केन्द्र की छानबीन हो जाती है -

> जबरन ले जाया गया मैं गहरे / अंधियारे कमरे के स्याह सिफर में । /
> टूटे-से स्टूल में बिठाया गया हूँ / शीशे की हड्डी जा रही तोडी । /
> ..../ देखा जा रहा - / मस्तक-यन्त्र में कौन विचारों की कौन-सी
> ऊर्जा, / कौन-सी शिरा में कौन-सी धक्-धक्, / कौन-सी रग में कौन-सी
> फुरफुरी, / कहाँ है पश्यत् कैमरा जिसमें / तथ्यों के जीवन-दृश्य उतरते, /
> कहाँ-कहाँ सच्चे सपनों के आशय / कहाँ-कहाँ क्षोभक-स्फोटक सामान ! /
> भीतर कहीं पर गडे हुए गहरे / तलघर अन्दर / छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को
> खोजो । / जहाँ कि चुपचाप खयालों के परचे / छपते रहते हैं, बांटे जाते ।[91]

मुक्तिबोध जीवन-यथार्थ के कवि होने के नाते अपनी सामाजिक परिस्थिति में उपलब्ध जीवन और अनुभव को कोई छिपाव के बिना पाठकों के सामने प्रस्तुत करना अपना दायित्व मानते हैं। उनके अनुसार जीवन और उसके अनुभव केवल व्यक्ति के नहीं होते, वे समाज के भी हैं। इसलिए समाज की चीज़ को अधिक निखारकर उसे ही लौटा देना रचनाकार का कर्तव्य है। अपने समय के भ्रष्ट-समाज के भयभीत करनेवाले यथार्थ को जिसके दर्शन से आँखें फूट जाती हैं - देख लेने के कारण कवि को सजा मिलनेवाली है।

"मारो गोली, दागो स्साले को एकदम / दुनिया की नज़रों से हटकर /
छिपे तरीके से / हम जा रहे थे कि / आधी रात-अँधेरे में उसने /
देख लिया हम को / व जान गया वह सब / मार डालो, उसको खतम
करो एकदम" / / हाय, हाय ! मैं ने उन्हें देख लिया नंगा /
इसकी मुझे और सजा मिलेगी ।"[92]

समाज में भ्रष्टाचार सर्वत्र फैला हुआ है। "अँधेरे में" कविता के जुलूस का वर्णन समाज में प्रचलित भ्रष्टाचार की भयानकता को उद्घाटित करता है। फासिस्ट शक्तियाँ समाज पर नियंत्रण प्राप्त कर रही हैं। ये सामाजिक जीवन के गले को घोंट देती हैं। इसलिए काव्य-नायक के मन में किसी न किसी दुर्घटना की आशंका है। इस दुःस्वप्न को असंगत कहकर हम टाल नहीं सकते हैं डा. नामवरसिंह ने सूचित किया है - "किन्तु ये दुःस्वप्न उन्हीं लोगों को अवास्तविक लग सकते हैं, जो बडी-से-बडी दुर्घटना के अभ्यस्त हो चुके हैं और जिनकी खाल मोटी हो चुकी है। क्या वह मशाल-जुलूस अवास्तविक है, जिसमें रात को वे ही पत्रकार, कवि, आलोचक, मन्त्री, उद्योगपति आदि शहर के कुख्यात हत्यारों के साथ शामिल होते हैं जो दिन में विभिन्न दफ्तरों, कार्यालयों, केन्द्रों और घरों में मिलकर षडयन्त्र करते हैं' एक फासिस्ट खतरे का आभास देनेवाला यह जुलूस कैसे अवास्तविक कहा जा सकता है, जबकि दंगों में इससे भी ज्यादा भयावह अनुभव से हम गुज़र चुके हैं' इसी प्रकार सैनिक प्रशासन भी यथार्थ से अधिक अतिरंजित नहीं।"[93] दरअसल ज़माना अत्यन्त खराब है। इसलिए लोग अपने जीवन में प्राप्त अनुभवों को ठुकराने के लिए बाध्य हो जाते हैं। दैनंदिन जीवन में जो कुछ भोग रहे हैं उन यथार्थों पर पर्दा-डालना पडता है। लोग यथार्थ से मुख मोडकर उसकी अवहेलना इसलिए करते हैं कि वे अपने जीवन को खतरे में डालना नहीं चाहते हैं। सब को अपना सुखमय जीवन ही अभीष्टहै। समाज की स्थिति जो भी हो अपना बचाव ही सब चाहते हैं। इसलिए लोग अपने सद्योजातों को छोडने न हिचकते। समाज के निर्माण में

इन आत्मज अनुभवों की भूमिका है । लेकिन लोगों में इन अनुभवों को दुनिया के सामने रखने और समय की विकृतियों से जूझने का साहस नहीं है । इसके फलस्वरूप मूल्यहीनता के मार्ग से बढ़नेवाले समाज अधिक वेग से च्युति के गर्त में गिर जाता है । "ओ काव्यात्मन् फणिधर" कविता की पंक्तियाँ हैं -

यह तो विचित्र है बात / किसीने आत्मज सद्योजात / वहाँ लाकर रक्खा,
छोडा-त्यागा, / शिशु रोता है, वह ज़ोर-शोर के साथ !! /
अरे रे ! कौन अभागा वह, / जिसने यों आत्मोत्पन्न सत्य त्यागा ? /
किस कौन विवशता के कारण? / किसके भय से? 94

भ्रष्टाचार जीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोडा है । कवि देखते हैं कि समाज के विविध क्षेत्रों के तथाकथित श्रेष्ठ लोग - साहित्यकार, विद्वान और सांस्कृतिक-नायक भ्रष्ट हो गये हैं । ऐसे लोगों को कवि "दिङ्‌ नपुंसक गण" से संबोधित करते हैं । उनकी बाहरी सज्जनता के पीछे छिपे उनके वास्तविक रूप चौंकानेवाले हैं "जिन्दगी बुरादा तो बारूद बनेगी ही" कविता की पंक्तियाँ देखिए -

इतने में ही मैं अकस्मात् देखता हूँ कि/ सामने चौक में बीचोबीच /
नभोचुंबी जो घण्टाकार / उसके काले लंबे-लंबे संकेतशील /
सेकण्ड-मिनिट काँटों के हाथों से / दृढ़तापूर्वक पकडे जो झूल रहे बुधवर /
विद्ववर, कविवर, चिन्तकवर / साहित्य और संस्कृति के रजत शंखधर वे /
सर्वोत्तम अभिरुचियों के स्वर्ण-अंकधर वे / सब झूल रहे तत्पर !! /
उनकी छायाओं के गहरे / हिलते-डुलते काले पट्टे / कुछ यों प्रकाश काटते /
कि चौंककर बहुत ध्यान से उन्हें देखता हूँ / चेहरों पर है उद्दण्ड भयानकता /
पगलाये स्वार्थों की स्वतन्त्र निर्णायकता / उन्हें देखता रहता हूँ, /
हँस पडता हूँ !! 95

आज कवियों और साहित्यकारों में समाज के प्रति आत्मीयता का भाव नहीं है । उनमें केवल पद और धन की लालच मात्र है । मुक्तिबोध समाज के इस अधःपतन की ओर सतर्क रहते हैं । वे मानते हैं, रचना-प्रक्रिया एक आत्मिक प्रयास होने के साथ-साथ एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है क्योंकि हमारी आत्मा में जो कुछ है वह

समाज की देन है । साहित्यकार का धर्म समाज के मूल्यों को बनाये रखना और उनमें अवश्य परिष्कार करके मानवता को सही दिशा में चला देना है । लेकिन आज के अधिकांश कवि या साहित्यकार एक प्रकार के शुतुर्मुर्गीपन से ग्रसित हैं । सम्मान और पुरस्कार पाना ही उनका एकमात्र लक्ष्य है और उसके लिए कोई भी कार्य करने में वे कमर बांध खड़े हैं । वे वास्तव में समाज और मानव से प्रतिबद्ध और ईमानदार न होकर अपने से प्रेम रखते हैं । ऐसे भ्रष्ट रचनाकारों को "रसायनी कविता प्रतिभा" का परिचय देते हैं कवि -

> गहन भावना की परछाई ओढे बहुरूपियों कई - / फिरती है पुरस्कार पाने अब
> कलाकार सूरते कई / रसायनी कविता-प्रतिभा की जादूगर कीमिया नयी /
> अपनी प्रयोगशाला में / आत्माएँ-भूत बन गयीं / /
> भूतों की हैं सूरतें कई ।[96]

ऐसे भ्रष्ट सफलता को माननेवाले कवियों के प्रति मुक्तिबोध के मन में घृणा है और वह अपना विरोध प्रकट भी करते हैं । मुक्तिबोध के लिए सफलता की अपेक्षा सार्थकता ही प्रमुख है । इसीलिए वह जीवन के तथाकथित वैभवयुक्त रास्तों से बढ़ने से साफ इनकार करते हैं । अपनी इस हठधर्मिता के कारण जिन्दगी के ज़हरीले अनुभवों से जूझते हुए वे अपनी सार्थकता हासिल करते हैं । इसीलिए दूसरों का पोल खोलने में वे कदापि हिचकते भी नहीं ।

उनकी एक कविता में अपने कर्तव्यों का पालन न करनेवाले बेईमान कवि का चित्र प्रस्तुत है । उसमें देश और जनता की वास्तविक समस्याओं से अलग होकर आराम और मस्त जीवन बितानेवाले चरित्रहीन कवि की देश-भक्ति का कवि परिहास करते हैं -

> पेट भर भोजन के बाद / रवीन्द्र पढ़ना / मुश्किल है, / फिर भी, /
> कुछ ऐसे हैं / जो डकार लेकर / देशभक्ति से पूर्ण / लिखते हैं कविताएँ !! /
> कालिदास - रवीन्द्र का नाम लेकर / सीख देते हैं हम सब ।[97]

जो व्यक्ति भ्रष्टाचार का शिकार न होकर जिन्दगी के मूल्यवान तत्वों का अनुसरण करके जीवन बिताते हैं उनकी जिन्दगी समाज की अमानवीय शक्तियों के हाथों से पिसी जाती हैं । ज़माने के अनुसार अपनी ज़िन्दगी को लचीला बनाने में कवि अपने को असमर्थ पाते हैं । उनके पास ईमान की शक्ति है जिससे वे पशुतापूर्ण सामंजस्यों से दूर रहते हैं । आज की परिस्थितियों के कारण अपने जीवन की प्रेरणाओं को "पागल" मानते

फिर भी वे अपने पथ को नहीं भूलते । इसलिए उन्हें खतरों का सामना करना पड़ता है और भय, निराशा और पीड़ा उनके सहचर हो जाते हैं । ईमान के पत्थर बढ़ने का यह संकल्प समाज और जीवन मूल्यों के प्रति उनकी आस्था का परिचय देता है । इस आस्था के कारण उन्हें ऐसी स्थिति हुई । "कांप उठता दिल" की पंक्तियाँ हैं -

देह-मन सब तोड़ खाली हो गयीं !! / ईमानधक्का दे हमें सरका गया /
जिन्दगी का अस्थि-पंजर खा गया । / ईमान के संवेद्य पथ पर हम बढ़े /
चाबुक हमें उतने पड़े / और जब चिल्ला उठे हम चीखकर / उतने नतोहत-
कैंकड़े / हम को जबर्दस्ती खिलाये गये दुर्धर / जिन्दगी का खूब है गहरा चक्कर ![98]

इस लिए कवि बिलकुल अपने को अकेला पाते हैं । उनकी गहन अनुभवशीलता और संवेदनशीलता उन्हें अन्यों से अलग कर देती हैं । इस गुणधर्म के कारण उत्पन्न होनेवाला अकेलापन मूल्यहीन समाज में कवि की पीड़ा का परिचय देता है । "एक टीले और डाकू की कहानी" कविता की पंक्तियों में कवि परिचय देते हैं कि कैसे भ्रष्ट समाज में ईमानदार व्यक्ति अकेला हो जाता है -

"अपने समाज में सच, मैं अकेला हूँ / जिनका मैं अंग हूँ /
जिनसे है श्रेणीगत एकता / वे मुझसे दूर हैं । / मुझे दुश्मनी निगाहों से देखते /
जो मुझसे एकदम भिन्न हैं / वे मेरे मित्र हैं / परन्तु, गुणधर्म जो स्वाभाविक
उनके हैं / मेरे न हो सके / इसीलिए पंगु हूँ !! क्या करूँ / क्या करूँ !!"[99]

यहाँ कवि का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण करना नहीं है बल्कि जो लोग सब प्रकार की क्षुद्रताओं से अलग रहते हैं उनकी अवस्था को प्रस्तुत करना मात्र है ।

मुक्तिबोध की कविता की मानवीयता

मुक्तिबोध द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आत्मसात् करनेवाले कवि हैं । लेकिन वे यह जानते हैं कि नयी भावधारा और प्रगतिवाद के द्वन्द्व में क्यों प्रगतिवाद का लोप हो गया । उन्हें पता है कि प्रगतिवाद मानवता के मार्ग को ठीक निष्कर्षों तक पहूँचाने में असफल हो गया । मुक्तिबोध की राय में कवि को मानवमात्र के लिए प्रेम रखनेवाला जीता जागता मानव होना चाहिए । जैसे कि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने सूचित किया है - "मनुष्य की मुक्ति और कल्याण की ऐसी तड़प किसी और प्रगतिवादी कवि में शायद इतनी नहीं है कि दुर्धर्ष और विकराल लटें बिखेरकर सृजन-गंगा को झेल सके । अत: मुक्तिबोध अपनी कविताओं में दिन-प्रतिदिन अमानवीय होनेवाली मानव-दुनिया के चंगुल में फंसे मानव की मूर्ति खडा करना चाहते हैं । वे मानवतावादी कवि हैं । उन्होंने अदम्य जिजीविषा के साथ संघर्ष में जुडे मानव की जो कल्पना की वह अन्यत्र दुर्लभ है । लेकिन इसके पीछे कहीं भी अयुक्ति की गुंजाईश नहीं रहती है । क्योंकि "मुक्तिबोध ने केवल सतही भावनाएँ अपने काव्यांश के लिए नहीं चुनी हैं बल्कि अधिक सचेत और सतर्क होकर मानवता और युगीन वास्तविकता को अपनी गहन अन्तर्दृष्टि से अंतिम समय तक आशावान स्वरों से प्रकट करते रहे ।"[101] उनकी आस्था कोई दुर्बल चीज़ नहीं । मुक्तिबोध के शब्दों में - "मैं यह चाहता हूँ कि साहित्य में मानव की पूर्ण मूर्ति (वह फिर जैसी भी हो) स्थापित की जाए ।"[102] इस मानव मूर्ति के निर्माण में वे अपना सब कुछ, समस्त सुख-दु:ख और ज्ञान भी अर्पित करने को तैयार हैं । वे अपनी कविताओं के "नागात्मन् फणिधर" से कहते हैं -

> विष-रासायनिक, चिकित्सक, / पण्डित कार्कोटक, /
> ओ जिप्सी । जग-पर्यटक अथक, / तक्षक मेरे, /
> मेरी छाती से चिपक रक्त पान करो / अपने विष से
> मेरे अभ्यन्तर प्राण भरो, / मेरा सब दुख-पियो /
> सुख पियो, ज्ञान पी लो ! / पर, पल-भर केवल पल-भर /
> मानव-रूप धरो ![103]

मुक्तिबोध मानव-मेदिनी के कवि हैं । उनकी कविताओं में कहीं भी मानवात्मा की परिधि को लांघकर उस अनन्त परमात्मा की रहस्यानुभूति की तड़प नहीं जो रहस्यवादी कवि की पहचान होती है । मुक्तिबोध की विशेषता इसमें है कि उसमें मानवात्मा को विश्वात्मा के धरातल तक पहूँचाने की निरंतर प्रवृत्ति विद्यमान है । उनके सामने मानव और मानवता के महान लक्ष्य ही उपस्थित है । इसलिए परमात्मा में विलीन होने की तड़प या अकेलापन का एहसास उनकी कविताओं में नहीं है । उनमें सहचरता का भाव ही मिलता है । मुक्तिबोध की इस मानववादी दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए डा. महेश भटनागर लिखते हैं - "यह ठीक है कि मुक्तिबोध ने आत्मा से परे किसी परमात्मा के स्वरूप की कल्पना अथवा प्रस्तुति स्वीकारात्मक ढंग से नहीं की और न उनकी आवश्यकता ही समझी, लेकिन अपनी आत्मा को विश्वात्मा के धरातल तक ले जाने का जो तप उन्होंने किया, वह उनके कवित्व कि एक निश्चित और स्थाई उपलब्धि है । मानव के प्रति उनका एकात्मक दृष्टिकोण विश्वचेतना के धरातल पर ही पनपा है, इसलिए वे अकेलेपन, निसंगता और अलगाव की बात नहीं करते, कहना चाहिए कि पलायन नहीं करते, अनन्त मानव-मेदिनी की बात करते हैं ।"[104] अत: मुक्तिबोध की आध्यात्मिक का संबन्ध मानवीय भावों से हैं । मानव की भलाई के सिवा उनके लिए और कोई अपेक्षा नहीं होती है । वे स्पष्ट कह देते हैं - "भगवान पर मेरी आस्था नहीं है, लेकिन मनुष्य पर है ।"[105] लेकिन उनकी कविता के रहस्यात्मक वातावरण का गलत अर्थ लेकर उन्हें रहस्यवादी जामा पहनाने की कोशिश एक सच्चे ईमानदार मानववादी कवि पर दोष लगाना मात्र है । यथार्थ की भयावहता और सभ्यता के अन्धकारमयी शक्तियों और दुमुहेपन के कारण ही यह रहस्यात्मकता का एहसास होता है ।

मुक्तिबोध इसप्रकार उस अनन्त परमात्मा, जो मनमानी ढंग से मानव पर अपना शासन करता है, की मूर्ति के स्थान पर युग-युगों से उपेक्षित और निन्दित मानव की पुन:प्रतिष्ठा करते हैं अपने काव्य में । वे जानते हैं कि ईश्वर के नाम पर मानव को अपनी क्षमता से वंचित रखने में कुछ प्रतिलोम शक्तियाँ सफल हुईं । इसलिए मनुष्य को समझौता करके जीवन जीना पड़ता है । लेकिन मुक्तिबोध मानव को मजबूरी में डालनेवाले ईश्वर का संहार करने को तुल हो जाते हैं -

पर उनके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं
जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं
उसने ईश्वर संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया ।[106]

फिर भी कुछ आलोचक जैसे डा. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध पर आरोप लगाते हैं कि वे ईश्वरवादी हैं । वे बताते हैं - "मुक्तिबोध के मन में कहीं यह संस्कार था कि ईश्वर है और इस संस्कार से वह लडते थे । "उसने ईश्वर का संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया", ऐसे वक्तव्य संशय पीड़ित ईश्वरवादी ही लिखता है ।"[107]

लेकिन मुक्तिबोध के प्रति किया गया यह आरोप निराधार है । ईश्वर की कल्पना मनुष्य की आस्था का एक रूप हैं । इसके पीछे मनुष्य की कमज़ोरियों और दुर्बलताओं का हाथ है । इन दुर्बलताओं के कारण मनुष्य का मन किसी महान तत्व की खोज में लग जाना स्वाभाविक है । और इसी खोज का फल है ईश्वर की धारणा । लेकिन इतिहास के किसी मोड़ पर धर्म ने अवतारों से इसे जोड दिया । लेकिन विडंबना की बात यह है किजिस महान तत्व की खोज में मनुष्य लग गया उस तत्व से बाद में मानव का जीवन त्रस्त हो गया । इससे सामान्य और दुर्बल मानव की दुर्बलताएँ और कठिनाइयाँ बढ गयीं । जहाँ मानव को प्रेम और करुणा की आवश्यकता थी वहीं ये ईश्वर अधिक स्वार्थ और निर्दयी बन गये । मुक्तिबोध को ऐसे ईश्वर पर ज़रा भी विश्वास नहीं है । मुक्तिबोध का विश्वास पूर्ण रूप से उसी मानव पर है जो अपने अस्तित्व के लिए प्रवंचनों से भरी दुनिया में चीख-पुकार करता है । इस मानव की समस्याओं को सुलझाने के लिए वे कभी भी परमात्मा का सहारा नहीं ढूँढता है । कवि निराकार शून्य में खोये, समाधि लगाये स्वर्ग के टिकट देनेवाले "धुंगो के नाकेदारों" के पोलखोलते हैं , । जि़न्दगी के धधकते अनुभवों से युक्त कवि को मालूम होता है कि "अनाकार शून्य" में गोल-गोल भटकना बेकार है । वे अपनी दृष्टि को घुप्प अन्धकार के तहों में दबे पड़े अधमरे मानव पर अपने विवेक को केन्द्रित करते हैं । इसी अग्नि-विवेक से कवि मानवता के प्रति अपनी भूमिका अदा करते हैं -

जिन्दगी के दल-दल कीचुड़ में धसँकर / वक्ष तक पानी में फँस कर / मैं वह कमल तोड लाया हूँ - / भीतर से इसीलिए, गीला हूँ / पंक से आवृत, / स्वयं में घनीभूत / मुझे तेरी बिलकुल ज़रूरत नहीं है ।[108]

उनका सारा स्नेह निजी ईश्वर पर है अर्थात् पीड़ित सामान्य मानव के प्रति है जिसके उच्चभाल पर विश्व भार और अन्दर में निस्सीम प्यार है ।[109]

मुक्तिबोध की मानवता का विकास निरंतर होते आत्मसाक्षात्कार एवं आत्म-संशोधन का परिणाम है । इस आत्मसाक्षात्कार के समय उनके मन में जो एक तटस्थ समीक्षक व्यक्तित्व का रूप निहित है वह उनके लिए "आत्मसहचर" है । यह "आत्मसहचर" आत्मसाक्षात्कार के समय आत्मोन्मुखता से आत्म-विस्तार की ओर प्रवृत्त होने में प्रेरित करता रहता है । लेकिन यह आसान कार्य नहीं है । इस यात्रा में कवि को संघर्ष का साथ देना पड़ता है लेकिन इस में कवि के विवेक का परिचय मिलता है ।[110] यह संघर्ष कवि को आत्मविस्तार केलिए प्रेरित करता है । लेकिन इसे कवि का आत्मचरित मानकर ठुकराना उन के प्रति नीति पूर्ण व्यवहार नहीं रहता । विष्णु चन्द्र शर्मा ठीक ही कहते हैं - "वह आत्मपरक भावधारा की स्वच्छन्द उड़ान नहीं है । वह तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया के कवि की फैंटसी है । वह आज के व्यक्ति की तरह हृदय में तनाव का अनुभव कर रहा है और इस तनाव की अनुभूति से आज का कवि और व्यक्तित्व दोनों आत्मविस्तार चाहते हैं ।"[111]

मुक्तिबोध की मानववादी दृष्टि की प्रखरता के पीछे उनके व्यापक जीवनानुभव है । वे अपने आसपास के विकृतियों को देखते हैं परखते हैं । इसी शोषण ग्रसित मानव के प्रति सिर खपाने की प्रवृत्ति उनके मन में एक प्रकार की बेचैनी और छटपटाहट को उत्पन्न करती है । यह छटपटाहट निराधार नहीं है बल्कि त्रस्त और तहस-नहस हुई मानवता को उभारने की अदम्य वांछा के कारण है । श्री सुरेश ऋतुपर्ण के अनुसार - "समग्रत: मुक्तिबोध के काव्य का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त, यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध की काव्य-संवेदना की निर्मिति उनके युग और व्यक्तित्व के अन्त: संघर्ष से उत्पन्न हुई है । यही कारण है कि उनकी कविताओं में एक सघन मानवीय नियति को लेकर एक मर्मान्तिक तनाव आद्यन्त विद्यमान है । उनकी कविताओं में बिखरा हुआ यथार्थ परिवेश और उससे आबद्ध कवि का संघर्ष, किसी अकेले और एकान्तप्रिय व्यक्ति का संघर्ष न होकर पूरी की पूरी जागरूक पीढ़ी का मानवीय अस्तित्व के लिए-चलनेवाला संघर्ष है ।"[112]

इस संघर्ष को हीनग्रंथि या कुंठाग्रस्त मानना ठीक नहीं है । इसके पीछे मनोविज्ञान का हाथ भी नहीं है । इसका अर्थ गलत न समझ लेना कि मनोविज्ञान के प्रति मुक्तिबोध में निषेध का भाव है । सच बात यह है कि मुक्तिबोध मनोविज्ञान से अपनी रचना-प्रक्रिया को चमत्कृत करना पसंद नहीं करते । और मार्क्सवाद के संबन्ध में कहें तो मुक्तिबोध नोरबाज़ी से समझौता करने के हिमायती नहीं है । वे इस खतरे से परिचित हैं कि मानववादी दृष्टि के विकास में मतवाद श्रेयस्कर नहीं रहता । इसलिए उनकी प्रतिमा को संकुचित सीमा में सीमित रखनेवालों का उनके शब्दों में ही खण्डन कर सकते - "कुण्ठा-वुण्ठा मैं नहीं समझा हर ज़माने में गरीबों को मुश्किल रही है, हर ज़माने में एक श्रेणी का दिल नहीं खुला है - बहुत विशाल श्रेणी का, भारतीय जनता का, मेहनतक का, पिछला कौन-सा ऐसा युग था जिसमें कुंठा न रही हो? और फिर और फिर कुंठा का मतलब क्या है? हाँ कुंठा का अगर फ्रायडियन साइको एनलिटिक मतलब लिया जाये तो दैनिक जीवन के कण्ठावरोध से उसका कोई संबन्ध नहीं है । कुण्ठा शब्द फ्रायडवाद और मार्क्सवाद की संकर संतान है ।"[113] इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तिबोध का लक्ष्य किसी वादविशेष का प्रचार न होकर मानव-इतिहास को कविताओं में शब्दबद्ध कर उसमें उपेक्षित मानव के अस्थिपंजरों में प्रेम और हमदर्दी का अमृतजल छिड़कर उसे पुनरुज्जीवित करना है । "इसप्रकार उच्च अर्थों में मुक्तिबोध एक जनकवि थे, उनकी कवित मानव सभ्यता का इतिहास प्रस्तुत करते हैं और भारतीय जीवन के उस पक्ष को भी जिसमें वे स्वयं पिसते रहे । उन्होंने अधूरी ज़िन्दगी बिताई पर कविता में उन्होंने पूरे जीवन को दिखाया ।"[114]

मुक्तिबोध की मानववादी दृष्टि में उनके विद्रोही व्यक्तित्व का अप्रति स्थान है । व्यक्तिगत और साहित्यिक दोनों स्तरों पर वे एक बागी हैं । मुक्तिबोध के छोटे भाई और मराठी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध के शब्दों में - "भाई साहब कलाकार थे, बड़े गहरे और असली अर्थ में, हिवास ए द्रु रिबेल"[115] मुक्ति मानव-स्वातन्त्र्य को महत्वदेनेवाले हैं । लेकिन वे जानते हैं कि आज बुर्जुआ संस्कृति के कारण मानव अपने गौरव से वंचित रहता है । आज के व्यावहारिक समाज में व्यक्ति-स्वातंत्र्य उत्पीडकों के हाथों से खरीदा गया है । मुक्तिबोध मानव के स्वातंत्र्य का अ व्यक्ति के अपने विकास के साथ, समाज से उसके संबन्ध जोड़ने की प्रवृत्ति को मानते हैं "मेरे लेखे, व्यक्तिस्वातंत्र्य का अर्थ है, प्रत्येक को मानवोचित जीवन का, आत्मविकास

सामाजिक रूप से, समाज-रचनात्मक रूप से, स्थायी और शाश्वत प्रबन्ध, जिससे कि उसे अपने बाल-बच्चों के जीवनयापन की चिन्ता न रहे, तथा वह अपने को, अपने समय को, किसी व्यक्ति-विशेष को और धनिक विशेष को या सरकार को बेचे नहीं, वरन् अपने को तन-मन-धन से समाज सेवा के कार्य में लगा दे, और समाज उसकी पूरी - जीवन-व्यवस्था के आर्थिक पहलु के सवाल को अपने हाथ में लेकर उसका हल करे, समुचित प्रबन्ध करे , और, व्यक्ति को अपने जीवन-यापन के खर्च के सवाल की चिन्ता में तरह-तरह के समझौते न करने पड़ें ।"[116]

लेकिन मुक्तिबोध देखते हैं आज मानव को अपना वास्तविक आदर या सम्मान नहीं मिलता है । वर्तमान समाज में सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक नीतियों के बन्धनों के कारण मानव का जीवन क्षुद्र हो जाता है । उसे सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण चैन के साथ जीना असंभव बन गया है । उसे अपने व्यक्तित्व को खोकर अमानवीय परिस्थितियों से समझौता करना पड़ता है । मुक्तिबोध के मानव-चेता कवि अपने चारों ओर फैले अनिश्चय और अन्धकार पूर्ण परिस्थितियों में जीवन की विषम सन्धियों में खोये हुए मानव के व्यक्तित्व की खोज में अपने जीवन को निछावर करते हैं, लेकिन उनमें पश्चाताप या ग्लानि का भाव लेश मात्र भी नहीं है । महेश शरण जौहरी के शब्दों में - "मुक्तिबोध बन्धनों को तोड़कर जिए, उन सारे बन्धनों को जो आम आदमी के पेट पालने के लिए स्वीकार करने पड़ते हैं वे उनमें से नहीं थे, जो सुखद स्थिति तक पहुँचने के लिए, भविष्य की सुरक्षा के ख्याल से जायज ना-जायज समझौता कर लेते हैं । इस लिहाज़ से मैं समझता हूँ मुक्तिबोध हमारे युग की उस संपूर्ण ईमानदारी के प्रतीक थे, जिसकी महानता है ही इसी में कि जीवन की क्षुद्र यन्त्रणाएँ भोगते हुए अविचल रहें, विश्वास न खाएँ - मानवता के उज्जवल भविष्य में जहाँ सभी सुखी होंगे ।"[117] अतः ऐसे विद्रोही व्यक्तित्व के कवि मुक्तिबोध मानव की अक्षमताओं और दुर्बलताओं के प्रति क्षमाशील दृष्टि रखने पर भी मानव को पूर्ण रूप से दुर्बल या अक्षम नहीं मानते । इसलिए उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं मानव की दुर्बलताओं के प्रति निषेध का भाव मिलता है, लेकिन मानवता का निषेध कुछ भी नहीं ।[11] इसलिए मुक्तिबोध "लघु मानव" की धारणा को मान्यता नहीं देते हैं ।[119]

मुक्तिबोध की कविताओं में अपने को मानववादी दिखाने की जबरदस्त चेष्टा नहीं है । उनकेलिए मानववाद प्रदर्शन की चीज़ नहीं । वे कविताओं में मानव के

प्रति, जो आज असहायता, घुटन, छटपटाहट से पीड़ित है, सहानुभूति और हमदर्दी ही नहीं व्यक्त करते हैं बल्कि कुछ निष्कर्ष भी निकालते हैं जो समाज की विसंगतियों से मानव को छुटकारा देने के मार्ग हैं। पर "यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि मुक्तिबोध केवल इस अर्थ में मानववादी नहीं है कि "तारसप्तक" की इन कविताओं में मनुष्य के प्रति करुणा और सहानुभूति का भाव मिलता है और वरन् वे मानववादी इस अर्थ में है कि वे आज के व्यक्ति की असहायता, घुटन, छटपटाहट को उपस्थित करते हुए उसकी मुक्ति का मार्ग खोजने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं।"[120] वे देखना चाहते हैं -

"निबल मानव के मुख नव आशा से कैसे ज्योतित हो।"[121]

मुक्तिबोध की मानववादी दृष्टि कहीं झूठी नहीं है। वे उच्चवर्ग के कपट जीवन से विमुख हैं जब कि उनके समकालीन कवि मानव मुक्ति के लिए चिल्लाते रहते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से मानव के उत्पीड़कों के साथ देते हैं। कवि अपनी प्रेरणाओं को मानव विरोधी उच्चवर्गीय लोगों से भिन्न मानते हैं। उनकी प्रेरणाएँ सामान्य अस्तित्व-हीन, असंख्य मानव से उद्भूत हैं। तथाकथित उच्चवर्ग के खोखले और चमकीले जीवन से अपनी रुचि को अलग माननेवाले कवि प्रत्येक मानव से गुज़र जाना चाहते हैं और प्रत्येक वाणी में निहित महाकाव्य-पीड़ा का परिचय प्राप्त करना चाहते है -

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में / चमकता हीरा है / हर एक छाती में आत्मा अधीरा है, / प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है, / मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में / महाकाव्य पीड़ा है / पल-पल मैं सब में से गुज़रना चाहता हूँ, / प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूँ।[122]

इस प्रकार मानव का साक्षात्कार मुक्तिबोध अपनी मौलिकता से करते हैं। वे नयी कविता की रूढ़ियों से अपना नाता तोड़कर अपनी चेतना को मानवीयता और कलात्मकता के चरम स्तर तक पहुँचाते हैं। और मुक्तिबोध में प्रगतिवाद की निर्वैयक्तिक सार्वजनीनता से भी बचने की चेष्टा मिलती है। वह मानव के गहन अन्तर्जगत और बाह्य दुनिया और मानव नियति को एक प्रखर और विचलित करनेवाले संतुलन में देखते हैं। इनके साक्षात्कार के फलस्वरूप मुक्तिबोध में एक भयावह उग्रता का एहसास है। इस परिस्थिति की भयानकता के साक्षात्कार में मानवता का अभाव नहीं है। इस लिए यह सच्ची, बेलौस और प्रसंगानुकूल लगती है। श्री अशोक वाजपेयी उनके कृतित्व की ओर संकेत करते हुए कहते हैं - "हमारे समाज में मानवीय अन्तःकरण की मृत्यु और संभावना क

उनका कृतित्व, एक मार्मिक दस्तावेज़ है ।"[123] इस प्रकार प्रत्येक उर में से गुज़र जाने से कवि मानव की परेशानी से कातर हो उठते हैं और उसके भविष्य के लिए आकुल हो उठते हैं -

सुबह होगी कब और / मुश्किल होगी दूर कब ।[124]

ऐसे मानववादी कवि "अपने कवि से" नामक कविता में बंगाल में हुए अकाल पर अपनी वेदना प्रकट करते हैं । बंगाल के अकाल में भूख के मारे लाखों की मृत्यु हुई । इस संकट से निपटने में बहुत समय लगा । जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के लोग इस मृत्युकाण्ड से दुखी हो गये । देश की इस दुर्घटना ने मुक्तिबोध के अन्दर के संवेदनशील मानववादी व्यक्तित्व को गहरी चोट पहुँचाई । उनके करुणा से भरा मन कराह उठता है -

कवि, आज भी मानव / यहाँ पर मरे चूहे-सा उपेक्षित है । / वह बैलगाड़ी
अचानक [राह में] / दो भग्न पहियों-सा पराजित / युद्ध में टूटे हुए उद्ध्वस्त
पुल-सा / वह विदारित । / भग्न ईश्वरमूर्ति-सा वह है विखण्डित प्राण । /
/ वंचित, वह प्रवंचित याचना असमर्थ / फेंके प्याज़ के
छिलकों-सरीखा धूल खाता राह / यह पंजाब, यह बंगाल, यह मालवे का दाह /
हिन्दुस्तान की यह एकमात्र कराह ।[125]

मुक्तिबोध अपनी परिवेशगत मुश्किलों और विभीषिकाओं से परिचित हैं वातावरण कैसे मानव को तहस-नहस कर रहा है, उसका निखरा रूप मुक्तिबोध की कविता में है । सारी मानवता के सिर पर अभिशाप के रूप में झूलनेवाली विपत्तियों और संकटों के बीच भी कवि नव आशा से प्रेरित हैं । इसलिए मृत्यु-गीत को भी जीवन के स्वर में गाने का आह्वान देते हैं ताकि मानव का चेहरा नव आशा से चमक उठे -

क्षणभंगुरता के इस क्षण में जीवन की गति, जीवन का स्वर,
दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर'
इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर,
सृजनशील जीवन के स्वर में गाओ मरण-गीत तुम सुन्दर ।[126]

मुक्तिबोध का आधुनिक भावबोध मानवता पर आधारित है । इसलिए उनकी कविताओं में प्रगतिशील जीवन-दृष्टि मिलती है । उनमें वैयक्ति निराशा, विफलता और ग्लानि का स्वर नहीं है । वह, आत्मग्रस्तता के संकीर्ण दायरे से मानव प्रेम का

विशाल धरातल प्राप्त करते हैं । मानवता पर अपना आग्रह व्यक्त करते हुए कवि आधुनिक भावबोध को समझाते हैं - "मैं अपनी और खुद की जिन्दगी और दोस्तों की जिन्दगी के तजुर्बों से बता सकता हूँ कि अन्याय के खिलाफ आवाज़ बुलन्द करना आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत है । आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत, यह भी है कि मानवता के भविष्यनिर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हों तथा हम वर्तमान परिस्थितियों को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें , उत्पीडित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय-योजना करें ।"[127]

मुक्तिबोध की मानववादी दृष्टि की विशेषता यह है कि वह निजबद्धता के विरोध के संदर्भ में भी व्यक्ति को एकदम नगण्य नहीं मानती । प्रत्येक व्यक्तिगत प्रक्रिया को अवश्य मान्यता देती है । लेकिन व्यक्तिबद्ध रहने से साहित्य का प्रभाव क्षणिक और अवांछनीय रहेगा ।[128] मुक्तिबोध के अनुसार जीवन के अनुभव जनता के बीच से प्राप्त होना चाहिए यों बाह्य को आत्मसात् करने के बाद निर्मित कवितायें अवश्य मानव-चेतना युक्त होंगी । वे कहते हैं - "सच तो यह है स्वयं के मनोभावों की कविता प्रत्यक्षतः व्यक्ति की होने से जन-विरोधी नहीं हो जाती, बशर्ते कि वे मनोभाव जनता के बीच में रहकर स्वाभाविक हुए । अपनी बिकी हुई मेहनत बे-सहारा जिन्दगी की आकांक्षाएँ, सामाजिक उलझनों से होनेवाले मानसिक तनाव, स्थिति-परिस्थिति की क्रिया - प्रतिक्रियात्मक संवेदनाएँ आदि को अपने में सम्मिलित करनेवाला विचार-वेदना-मण्डल जब तक लोक-मुक्ति की नयी क्रांतिकारी विचारधारा से और भी सशक्त और भी संवेदनामय हो जाता है तब जिस साहित्य का आविर्भाव होता है उसमें महान् "मनुष्य-सत्य" होता है ।"[129] मुक्तिबोध की कविता ऐसे मानव-सत्यों की कविता है । कभी भी उनमें इनकी अवहेलना नहीं है । उनमें स्वत्व एवं गहन निजग्रस्तता से बचने का अनन्य प्रयास है । मानव-प्रेम के अन्वेषी हैं कवि । इसलिए वे आत्मविस्तार की ज़रूरत को बल देते हैं -

आत्मविस्तार यह / बेकार नहीं जायगा । /
ज़मीन में गडे हुए देहों की खाक से / शरीर की मिट्टी से, धूल से । /
खिलेंगे गुलाबी फूल ।[130]

मुक्तिबोध प्रखर यथार्थबोध के कवि हैं । इस यथार्थबोध की मज़बूत नींव पर वे अपनी मानववादी दृष्टि की इमारत का निर्माण करते हैं । व्यापक और विविध जीवनानुभवों और विक्षुब्ध उत्पीड़ित मानवता के आदर्शों से कवि अपने कवि व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं । मानवता के प्रति उनकी दृष्टि खरी उतरती है । उसमें अमूर्तता या वायवीयता की झलक कुछ भी नहीं है । उनकी "मानव" की धारणा से यह बात स्पष्ट हो जाती है । उन्होंने लिखा है -"मनुष्य का अर्थ वह साधारण मध्यवर्गीय और निम्न वर्गीय जन है जो अपने बालकों को उचित भोजन और उचित वस्त्र का भी ठीक ढंग से प्रबन्ध नहीं कर सकते"।[131] यही धारणा मुक्तिबोध की दृष्टि को गांधीवादी या टालस्टायवादी मानवतावाद से भिन्न बना देती है । मुक्तिबोध की प्रबल मानववादी दृष्टि कभी यह नहीं मानती है कि व्यक्ति का हृदय परिवर्तन स्वाभाविक रूप से हो जाता है । अतः हम देख सकते हैं कि मुक्तिबोध की मानवता मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित है । मार्क्स के मानववाद का लोककल्याण जनसंघर्ष से हो जाता है । अतः इसमें शोषण से मुक्ति पाने के संघर्ष को महत्व दिया जाता है । मुक्तिबोध शोषण से मुक्ति पाने के संघर्ष को मानवता के भविष्य-निर्माण का संघर्ष मानते हैं ।

इसलिए मुक्तिबोध के सारे प्रेम और सहानुभूति शोषितों के पक्ष में हैं । वे प्यार को कोई अमूर्त धारणा नहीं मानते हैं । उनके अनुसार वह वस्तुगत व्यवहार है । मुक्तिबोध की विशेषता इसमें है कि कारण रहित और अहैतुक प्यार को वे मान्यता नहीं देते हैं । वे देखते हैं कि इतिहास के आरंभ से ही मानवता वर्गों में विभक्त हो गयी है । इसलिए वे समझते हैं कि सब को समभाव से देखकर प्यार की बात करना केवल कपटता है । यह केवल बहाना मात्र है । इसके फलस्वरूप मानवमात्र के प्रति प्रेमरखनेवाले कवि सारे वर्ग-वैषम्य को समाप्त देखना चाहते हैं । आज सारे संसार में अशांति का वातावरण है जिस में मानवात्मा चीत्कार कर उठती है । उनकी कविता का सहचर मित्र कवि को संसार के अन्धेरे में छिपे हुए यथार्थ के पर्तों को दिखाते हैं और मानव के जटिल जीवन की पूरी हालत प्रदान करता है । इस यात्रा में अन्धेरे के, लूटपाट के, जिन्दगी की बेबसी के, संघर्षों के साक्षात्कार से कवि एकदम चकित हो जाते हैं -

> क्यों मानव के / इस तुलसी-वन में आग लगी, / क्यों मारी-मारी फिरती है
> मन की यह गहरी सज्जनता, / दुख के कीड़ों ने खायी क्यों / ये जुही-पत्तियाँ
> जीवन की, / / आकांक्षाओं के तरु / यों ठूँठ हुए वृन्दावन के,
> मानव-आदर्शों के गुंबद में आज यहाँ / उलटे लटके चिमगादड पापी / भावों के ।[132]

मुक्तिबोध के काव्य में अभिव्यक्त वेदना संपूर्ण मानव जाति की है । यही वेदना मुक्तिबोध को विश्वचेतना के धरातल तक ले जाती है । उनकी वेदना में अलगाव का भाव लेशमात्र भी नहीं है । इसमें रहस्य या वैयक्तिक लोक में पलायन करने की प्रवृत्ति भी नहीं । यह वेदना व्यक्तियों को आपस में मिलाती है । डा. संतोष कुमार तिवारी के अनुसार मुक्तिबोध की कविताओं में - "कराहती मानवता की पीड़ा भास्वर हुई है - दहशत, आतंक और अन्धेरे के रूप में । इस पीड़ा में आम आदमी की तस्वीर है, भाग्य का रोना नहीं है, महबूबा के वियोग का रसीला दुख नहीं है, शय्या पर करवटें बदलते हुए किसी स्त्रैण पूंजीपति की वेदना नहीं बल्कि मानवीयता के आधार पर विश्वदृष्टि देनेवाली पीड़ा है ।"[133] यह अवश्य कह सकते हैं कि उनके मन में एक विशेष वर्ग - निम्न मध्यवर्ग - के प्रति अधिक झुकाव है । इस श्रेणी के लोगों के प्रति जो निष्ठा और समर्पण का भाव उनमें परिलक्षित है वह नयी कविता की उपलब्धि है । कवि चाहते हैं कि अपने और अपनी कविताओं को इन्हीं लोगों के द्वारा पहचाने जाएँ । उनकी करुण स्थिति कवि को जकड़ लेती है -

> विशाल श्रमशीलता की जीवन्त / मूर्तियों के चेहरों पर / झलती हुई आत्मा की अनगिन लकीरें / मुझे जकड़ लेती हैं अपने में अपना-सा जानकर / बहुत पुरानी किसी निजी पहचान से ।[134]

एक विशेष वर्ग के प्रति अधिक संवेदनशील होने पर भी मुक्तिबोध में सारी दुनिया की पीड़ा अपने में समाहित करने, उसे बाँटकर भोगने की प्रवृत्ति मिलती है जो उनकी मानववादी दृष्टि को अधिक प्रखर बनाती है । इसी अर्थ में वे सच्चे विश्व-बन्धुत्व के कवि हैं । वे कहते हैं कि उनको "कदम-कदम पर चौरहे मिलते हैं ।"[135] ये चौराहे मानवता तक पहुँचने के विविध मार्ग हैं । ये मार्ग मानवता के साथ की उनकी आत्मीयता है । ऐसी आत्मीयता के मार्ग के राही मुक्तिबोध के मार्ग में बाधा डालनेवाली कोई शक्ति नहीं है । "मुक्तिबोध के लिए चौराहे पसरे हुए शहर के रास्ते नहीं हैं किन्तु बाहें फैलाये हुए मित्र हैं ।"[136] मुक्तिबोध जानते हैं कि इन मित्रों से मिल जाने से वे आपस में अपने अनुभवों और विचारों का आदान प्रदान कर सकते हैं । वे मानते हैं मानव की मुक्ति अकेले में नहीं होती । जनसंघ ऊष्मा से ही वह हो सकती है ।

मानवात्मा की मुक्ति ही मुक्तिबोध का साध्य है । इसके लिए संघर्ष - निम्नमध्यवर्ग के शोषितों का - या क्रांति साधन के रूप में प्रयोग करना चाहते हैं कवि । मुक्तिबोध की मानववादी दृष्टि के इस पहलू पर प्रकाश डालते हैं डा. हुकुमचन्द राजपाल - "शोषण मुक्ति की स्थिति ही सही मानववादी दृष्टि है और उसके लिए संघर्ष और क्रांति को वह अनिवार्य मानता है ।"[137] इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं में "ब्रह्मराक्षस" की छटपटाहट मिलती है । ब्रह्मराक्षस अपने गणित को कुछ निष्कर्षों तक पहुँचाने के अन्तर्द्वन्द्व में दोनों पाटों बीच पिसकर मर जाता है । इसी प्रकार मुक्तिबोध के मन में भी गहरी छटपटाहट नज़र आती है जो मानवता की पीडा से उत्पन्न हो गयी है । कवि अपने संघर्षरत व्यक्तित्व की छटपटाहट के कारण ब्राह्मराक्षस का शिष्य बन जाना चाहते हैं ताकि वे उसके अधूरे कार्य को कुछ संगत निष्कर्षों तक पहूँच सके हैं -

> मैं ब्राह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य / होना चाहता / जिससे कि उसका वह
> अधूरा कार्य, / उसकी वेदना का स्रोत / संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक /
> पहूँचा सकूँ ।[138]

आज के सभ्यता के जंगल में मानव मारे-मारे फिरते हैं । उसे छल या प्रपंच का शिकार होकर विलीन होना पड़ता है । इस अमानवीय शोषण के शिकंजों से मानव की मुक्ति के लिए आकुल हैं कवि । मानववादी चेतना से युक्त कवि देखते हैं संसार की सारी समस्याएँ महत्वहीन हो जाती हैं, केवल एक ही समस्या है कवि को झेलने को -

> समस्या एक - / मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में / सभी मानव /
> सुखी, सुन्दर व शोषण मुक्त / कब होंगे ।[139]

मुक्तिबोध मानव पर आस्था रखनेवाले कवि हैं । वे आज के त्रस्त मानव की हरेक गतिबि से परिचित हैं । वे अवश्य जानते हैं कि इस संसार में जो कुछ सत्य है वह वेदना या दुख ही है, अन्य सारी बातें अयथार्थ हैं । परंपराओं, पुराने आदर्शों, आचार-विचार और संस्कृति की अमानवीय शक्तियों के नीचे दब कर मानवता दम घोंट रही है । कवि का विश्वास है कि मानव अपनी सारी अक्षमताओं के बावजूद इन सारे उजड़े हुए तत्वों से मानवता का झंडा ऊँचा खडा कर सकता है । वह इसलिए अपनी कविताओं में मानव को अपनी पीड़ित अवस्था से ज्ञात बनाने और शोषण के स्याह-चक्रव्यूहों को चकनाचूर करने की प्रेरणा देते हैं । इसलिए शोषित वर्ग से कवि अपना नाता जोडते हैं और उनसे सारी

मुसीबतों का सामना करके, ज़मीन में गढ़कर भी सारे भेद-भावों के पहाड़ों को धराशायी करने का आह्वान करते हैं । श्री प्रभाकर श्रोत्रिय के अनुसार "मुक्तिबोध की कविता में ऐसी विरल करुणा, तीव्र विद्रोह, अपरिमित आस्था और परिपक्व पुष्टता है, सौन्दर्य और संघर्ष की ऐसी अद्वितीय दीप्ति है - जो निम्न मध्यवर्ग के दुखियारे मनुष्य को न केवल राहत देती और विद्रोह के लिए उकसाती है, बल्कि एक तर्कसंगत विवेक-दृष्टि भी देती है । वह मनुष्य को नारों के लिए नहीं, संघर्ष के लिए तैयार करनेवाली और तपानेवाली कविता है । उसकी कविता पढ़कर अपने को ही दुबारा संपूर्णता में पाने का एहसास होता है ।"[140] वे अपनी कविताओं में युग के उस चेहरे को तलाश करते हैं जो आज के इतिहास के मलबे के नीचे दब गया है । लेकिन पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो गया है ।[1] वे भरोसा करते हैं कि इस मलबे के नीचे दबी हुई मानवता को पुनर्जनी अवश्य हो सकती है कवि आह्वान करते हैं -

कोशिश करो, / कोशिश करो, / जीने की, / ज़मीन में गड़ कर भी ।[142]

इस प्रकार मुक्तिबोध अपनी कविताओं में सारी मानव-नियति को स्थापि करते दिखाई देते हैं । वे जानते हैं वर्तमान समाज में जीना मुश्किल है । मानवता का क्षय हो रहा है । इससे वे अवश्य चिंतित हैं । लेकिन वे जानते हैं कि ज़माने की विकृतिः व्यवस्था की निर्ममता और मूल्यों के च्युत होने पर भी मानवता का आमूल नाश किसी से संभव नहीं होता । इसी विचार के कारण उनकी कविता में चित्रित तनाव धीरे-धीरे आस्था में परिणत हो जाता है । यही मुक्तिबोध की मानवीयता का महत्व है । अशोक वाजपेयी इशारा करते हैं - "मुक्तिबोध मनुष्य की संपूर्ण हालत के कवि थे । उन्होंने मानवीय अन्तः करण को पक्षाघातग्रस्त देखा, पर यह नहीं मानता कि वह मर चुका है । बल्कि पूरी गहराई के साथ उन्होंने उम्मीद की और विश्वास किया कि उसे होश में लाया जा सकता है और उसका पुनर्वास किया जा सकता है ।"[143] कवि की पंक्तियाँ हैं -

भले ही उजाड़ और / चाहे जितनी जन-हीन /
लगे यह पूरी भूमि, / कुशल व चाहे जितना बलवान /
वह यातुधान हो, / लोग अभी जिन्दा हैं, जिन्दा ।[144]

इसी आस्था के कारण कवि को अपने जीवन में धोखा नहीं खाना पड़ा। उन्हें अपने व्यक्तित्व को भूलकर जमाने के हाथों से बिकना नहीं पड़ा। अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में, परिस्थितियों की टकराहट से तबाह इनसानियत की स्याह तस्वीर खींचने में, सारे खतरों का सामना करने तैयार हो जाते हैं। मुक्तिबोध की कविता-यात्रा मनुष्य को पूरी तरह अपने में शामिल करते हुए शत्रुओं की पहचान कराती है और पूरे षडयन्त्रनुमा व्यूह से निकलने की शक्ति और ऊर्जा देती है। घुप्प अन्धेरे में मार्ग भ्रष्ट मानव को मानवता की दीप-शिखा जलाकर अन्धेरे की गुहाओं से जिन्दगी के रास्ते में पहुँचाते हैं कवि। उनके भाई श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो - "अपने छटपटाते हुए व्यक्तित्व को लेकर वे अकेले ही युग-जीवन की अन्धेरी गुफाओं में, सघन जंगलों में घुस गये थे। पेचीदा चक्करदार धूमिल तहखानों में गुजरते हुए उनके हाथों से मानव-प्रेम की दीपशिखा कभी नहीं बुझी।"[145]

मुक्तिबोध की कविता की मूल्यदृष्टि

जीवन-मूल्य व्यक्ति के चरित्र, उसकी सभ्यता और संस्कृति के मेरुदण्ड होते हैं।[146] इनके बिना व्यक्ति का जीवन समाज में सार्थक नहीं हो सकता है। क्योंकि मानव का जीवन अनेक बातों में पशुकोटि से भिन्न होता है। इसके मूल में उसका सामाजिक अवबोध है। व्यक्ति और समाज के जीवन में निरंतर परिवर्तन होते हैं। इसलिए सामाजिक अवबोध से युक्त व्यक्ति इन परिवर्तनों से सजग रहते हैं और वह इन परिवर्तनों के कारण समाज पर पड़े प्रभावों की व्याख्या करता है। ऐसे करते समय जीवन के प्रति उसका विवेक और दायित्व बोध का महत्वपूर्ण स्थान है। इसप्रकार के प्रयत्न में व्यक्ति समाज-जीवन को निरंतर बनाये रखने योग्य कुछ निष्कर्षों में पहुँच जाता है। वास्तव में ये निष्कर्ष ही मूल्यों के नाम से जाने जाते हैं। साहित्यकार भी मानव जीवन की व्याख्या करनेवाला है। इसलिए उसकी दृष्टि में मूल्यों का महत्व कम नहीं है अपने समाज में प्रचलित मूल्यों की परंपरा की खोज कर उनके आधार पर वर्तमान का विश्लेषण और भविष्य की कल्पना करता है। यह प्रवृत्ति महान रचनाकार की रचना-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। और इसप्रकार समाज और जीवन के प्रति साहित्यकार के विवेक और विचार वह उसकी अपनी एक मूल्य-दृष्टि का निर्माण करते हैं और इसे अपनी रचनाओं के द्वारा उद्घाटन करता है।

इस मूल्यविश्लेषण के कारण कवि या रचनाकार के मन में वर्तमान के प्रति असंतुष्टि उत्पन्न होना स्वाभाविक है । लेकिन "वर्तमान से असंतोष का मतलब वर्तमान की उपेक्षा नहीं होता और साहित्य में हर किस्म के नयेपन की मूलप्रेरणा मूल्य की चेतना और तलाश ही होती है और यह रचना की विफलता है जो इस मूल्यान्वेषण से मुंह चुराती है । शोषित हमेशा परिवर्तन की मांग, क्रांति की मांग और नये की स्थापना के लिए व्यग्र होता है, क्योंकि उनमें ही वह व्यापक मानव-हित और जन-हित देखता है । अतः हम कह सकते हैं कि समाज-जीवन को स्वस्थ और सुखमय बनाने केलिए वर्तमान मूल्यों की अपेक्षा, प्रगतिशील मूल्यों की मांग होती है । एक दायित्व पूर्ण नागरिक का कर्तव्य है अपने समाज के लिए अनुयोज्य मूल्यों को चुनना सृजन करना और उनका पालन करना । जब जब समाज मूल्यहीन हो जाता है तब व्यक्ति का दायित्व अधिक हो जाता है । जब व्यक्ति मूल्यों में आस्था छोड देता है तब वह पंगु हो जाता है ।[143]

मुक्तिबोध सामाजिक अवबोध से युक्त रचनाकार हैं । उनके अनुसार काव्य-रचना कोई महत्वहीन असंपृक्त कार्य नहीं है । रचनाकार का धर्म केवल मानसिक उल्लास प्राप्त करना नहीं है । काव्य-रचना भावनाप्रसूत है अवश्य । लेकिन उसके कुछ नैतिक महत्व भी है । रचनाकार के व्यक्तित्व का निर्माण सामाजिक परिस्थितियों के संपर्क और घात-प्रतिघात से स्थापित होता है । इसलिए उसकी रचना-प्रक्रिया उसके व्यक्तित्व से कुछ प्रतीक्षा रखती है । मुक्तिबोध मूल्यहीन कवि नहीं हैं क्योंकि वे समाज से विच्छिन्न कवि नहीं हैं । वे अपने समाज और साहित्य के भीतर तक जानते हैं । वे जानते हैं कि हमारे जीवन की जडें परंपरा में बहुत गहरी हैं । इसलिए कवि जीवन के महान मूल्यों को कारगर अस्त्र समझते हैं । इसलिए रचना को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया माननेवाले कवि अपनी कविता में समकालीन दृश्यों को प्रस्तुत करते समय हमारी संस्कृति और हमारे मूल्यों का विश्लेषण और नये मूल्यों से युक्त समाज की परिकल्पना करते हैं । "एक साहित्यिक की डायरी" में मुक्तिबोध स्पष्ट करते हैं - "काव्य-सत्य भावना प्रसूत है, किन्तु उस काव्य-सत्य का नैतिक उत्तरदायित्व है । हम उसे केवल काव्य-सत्य कहकर नहीं टाल सकते । वह सत्य हमारे व्यक्तित्व से कुछ मांग करता है ।"[149]

लेकिन इन मांगों की पूर्ति तभी हो सकती है जब जीवन मूल्य और कलात्मक साहित्यिक मूल्यों में संबन्ध स्थापित हो जाता है । इसके लिए साहित्यकार को अधिक संघर्ष करते रहना है । मुक्तिबोध के अनुसार - "जीवन-मूल्य और कलात्मक

साहित्यिक मूल्यों में आवयविक संबन्ध है, यह न भूलना चाहिए । उन्हें विकसित करने के लिए साहस ही नहीं स्पष्ट दृष्टि, स्पष्ट लक्ष्य और स्पष्ट विचारधारा के लिए कोशिश आवश्यक है ।"[150]

लेकिन इस कोशिश में कलात्मक सौन्दर्य की उपेक्षा से वे सहमत नहीं है । वे केवल आनन्द प्रदत्त तत्वों में ही नहीं जीवन के व्यापक अनुभवों में भी सौन्दर्य देखते हैं इसके पीछे कवि की जीवन - दृष्टि व्यक्त हो जाती है । कवि या साहित्यकार अपने चारों ओर तरंगायित जीवन से अपने को अछूता नहीं रख सकते । इसलिए वे कविता को यथार्थ की पुनर्रचना मानते हैं । यह यथार्थ कोई जडवस्तु नहीं, वह निरंतर गतिशील रहत है । इसलिए रचना-प्रक्रिया भी गतिशील होना चाहिए । इसी दृष्टि से देखने पर रचन प्रक्रिया स्वतन्त्र या वैयक्तिक होने पर भी एक सांस्कृतिक-सामाजिक प्रक्रिया मानना पडता है । इस प्रकार सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि विरोधी न होकर पूरक होते हैं मुक्तिबोध इसका समर्थन यों देते हैं - "जिस समाज में हम रहते हैं उसके द्वारा प्रदत्त अथवा उत्सर्जित भाव-परंपरा तथा मूल्यों से विच्छिन्न होकर सृजन-प्रक्रिया के अंगभूत मूल्यों का अस्तित्व नहीं ।"[151]

मुक्तिबोध की कविता में मूल्य-दृष्टि फैशन के रूप में व्यक्त नहीं की ग है । इसके पीछे उनके विवेकशील व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । उनकी रचनाओं में मूल्य-विश्लेषण सही और सार्थक पहचान के आधार पर हुआ है । इसलिए उनको साहित्य-विवेक जीवन - विवेक और यथार्थबोध के कवि कहते हैं ।[152] इसलिए उनकी रचना-प्रक्रिया कोई आंख-मिचौनी का खेल नहीं रह जाती है । उसके पीछे गहन संघर्ष का भाव मिलता रहता है । इसी संघर्ष से कवि की मूल्य-दृष्टि समकालीन कवियो से भिन्न और प्रखर दिखती है । मुक्तिबोध की रचनाओं में कहीं कहीं खीझ का स्वर मिलता है । लेकिन उनका मूल स्वर खीझ अथवा आक्रोश नहीं है । उनकी मूल्य-दृष्टि संघर्ष पर आधारित है । बाह्य और आन्तरिक संघर्ष पर । और यहीं वैयक्तिक मूल्य और सामाजिक मूल्यों के भेदभाव मिट जाते हैं । बाह्य जगत् से कवि जिन घटनाओं क साक्षात्कार करते हैं उनके कारण कवि के मन में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है । इस प्रकार बाह्य जगत् की मूल्यहीनता कवि के मन में आभ्यंतरीकृत हो जाती है और उसे रचना के द्वारा बाह्यीकृत कर देते हैं । मुक्तिबोध को इसलिए संघर्ष झेलना पडता है कि वे अवसरवादी नहीं हैं । वे अपनी रचनाओं में जिन मूल्यों और आदर्शों को प्रकट करते हैं

अपने आचरण में भी उनसे सामंजस्य स्थापित करने में प्रयत्नरत हैं । इस प्रसंग में मुक्तिबोध दुरंगी चाल के विरोधी हैं । श्री मदान का कहना इनके संबन्ध में बिलकुल ठीक है - "निराला की तरह इनके काव्य तथा व्यक्तित्व में अभिन्न संबन्ध है । मुक्तिबोध के जीवन का एक-एक क्षण इनकी कृतियों में झलकता है । इनकी कविता इनकी शारीरिक तथा मानसिक यातना से निसृत है इनकी विवशता तथा असमंजस का परिणाम है ।"[153] संक्षेप में कहें तो उनकी नैतिकता की दृष्टि उन्हें संघर्षों के बौछार में धकेल देती है - "उनकी नैतिकता उन्हें समकालीन संकट के अन्धेरे में धकेल देती है । कवि उसी अन्धकार भरे खड्डे में खड़ा होने की चेष्टा कर रहा है एवं मूल्य-शोध के लिए अतुलनीय संघर्ष कर रहा है ।"[154]

कुछ आलोचकों ने मुक्तिबोध को मूल्य-चेता कवि न मानकर दुरूह कवि घोषित किया है । लेकिन यह अवास्तव है जो उन्हें दुरूह मानते हैं वे कवि की कविताओं में अभिव्यक्त किये गये संघर्ष और उसके स्रोत से अपरिचित हैं । उनकी कविताओं के गहन अध्ययन से पता चलता है उनमें दुरूहता नहीं बल्कि ये कवितायें विचार प्रधान हैं । मुक्तिबोध संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के कवि हैं और ज्ञानात्मक संवेदन के द्वारा अपनी मूल्य-दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं । प्रत्यक्ष ज्ञान कवि को मूल्य-दृष्टि प्रदान करता है तो संवेदना उसे गहन और मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करती है । ऐसे मूल्यचेता कवि जीवन का महत्वपूर्ण मूल्य सफलता के स्थान पर सार्थकता मानते हैं - "स्वातंत्र्योत्तर कविता के विकास में मुक्तिबोध ही ऐसा कवि है जिसमें मूल्यों के प्रति एक सही दृष्टि है जो अपने और समाज के प्रति पूर्णतः सजग है, विवेक उसके समस्त साहित्य का आधार है - जो सृजन क्षण की सही पहचान संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन के द्वारा करना चाहता है। ऐसा कवि हमारी दृष्टि में मूल्य-स्रष्टा कवि है तथा मूल्यान्वेषण की इस चिन्तन-प्रक्रिया से गुज़रना चाहता है । यही कारण है कि इनके समस्त काव्य को पढ़ने के बाद यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध का आधार विवेक को स्वीकार करता है तथा सफलता की अपेक्षा जीवन की सार्थकता को मूल्यों का प्राणतत्व स्वीकार करता है ।"[1]

समाज के प्रति प्रतिबद्ध होने के कारण मुक्तिबोध के काव्य में साहसिकता और विवेक शायद सबसे अधिक प्रकट है । मुक्तिबोध की शक्ति इसमें है कि वे अनुभवों के कच्चे माल को ही कविता में स्थानापन्न कर देते हैं । अतः जीवन के सीधे अनुभव उन्हें जीवन के प्रति आस्थावान बना देते हैं । यही उनके काव्य का सबसे महान मूल्य है । इस आस्था ने सामाजिक जीवन को संकट में डालनेवाली शक्तियों की गहरी पहचान और उससे कुछ ठोस निष्कर्ष निकालने की दृष्टि उन्हें दी । इस प्रकार बीसवीं सदी में कहीं

अधिक प्रभावी अमानवीय ताकतों के विरुद्ध मुक्तिबोध कविता को नैतिक हस्तक्षेप या कारगर हथियार मानते हैं । यह ज़रूर है कि मुक्तिबोध की समाज-चिन्ता के अपने रूप है, उसे अनुभव करने या जांचने की अपनी कसौटी है, उसे व्यक्त करने के अपने ढंग है - कभी बहुत सीधे और कभी जटिल । मूल्य-दृष्टि के संबन्ध में भी यह बात बिलकुल ठीक है

मुक्तिबोध की मूल्य-दृष्टि के पीछे उनके भोगे हुए यथार्थ जीवन के अनुभव भी हैं । अपने समकालीन समाज में जो अनैतिक, क्षुद्र और अमानवीय जीवन का साक्षात्कार हुआ है उसे अनुयोज्य प्रतीकों, बिंबों, मिथकों और फैंटसी में प्रस्तुत कर कवि अपनी मूल्य-दृष्टि का परिचय देते हैं । आज की परिस्थितियाँ जीवन के सारे मूल्यों को नष्टभ्रष्ट कर रही हैं । वर्तमान समय में व्यक्ति, जीवन की सफलता के पीछे पड़ा हुआ है । उसके लिए वह कुछ भी करने को तैयार है । कवि का लक्ष्य अपनी आत्मा को भी बेचने के लिए तैयार हुए समाज का पूर्ण चित्रण करना है । समाज के इस पतन की ओर कोई भी दृष्टि नहीं डालता । ऐसे मूल्यच्युत समाज में कवि अपनी मूल्य-दृष्टि को बनाये रखने के लिए भरसक कोशिश करते हैं । समकालीन सारी चुनौतियों का साक्षात्कार करने का अभूतपूर्व साहस मुक्तिबोध में है । उनकी मूल्य-दृष्टि का एकमात्र लक्ष्य शोषणमुक्त मानव-समाज है । डा. संतोषकुमार तिवारी ने लिखा है - "मुक्तिबोध समकालीनता का पूरा एहसास किए हुए चुनौतियों के प्रति सजग है । उनकी रचनाओं की दीर्घकालिक क्षमता का राज यह है कि उनका समूचा अस्तित्व और कवि व्यक्तित्व मनुष्य को केन्द्रीय चिन्तन मानकर वहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है - जीवनबोध, मानवमूल्य और भावी संभावना ।"[156]

मुक्तिबोध समाज की नृशंसता से पलायन नहीं करते हैं और न ही आत्महत्या करते हैं और लाश की तरह अपनी जिन्दगी को ढोना भी नहीं चाहते हैं । उनके सामने उद्देश्य साफ था, निरुद्देश्य जीना या रिस रिसकर मरना उन्हें कतई पसंद नहीं था । उन्होंने समाज के समस्त थोथे मूल्यों को नकारा और उन सब समस्याओं की ओर संकेत किया जो हम सब की थी । यह सजग दृष्टि साहित्य-रचना के प्रति उन्हें ईमानदार बनाती है । समकालीन परिस्थितियों की जटिलताओं एवं क्षुद्रताओं के बीच अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए अपने प्रयाण को आगे बढाने का दृढ संकल्प कवि की प्रत्येक पंक्ति में अनुभवगम्य है । जैसे डा० हुकुमचन्द राजपाल सूचित करते हैं - "मूल्यों का जीवन में निर्वाह वही कर सकता है, जिसमें जान लगाने की क्षमता हो, जो जानदार हो - शारीरिक क्षमता की अपेक्षा इसमें आन्तरिक क्षमता, विश्वास, आस्था एवं संकल्प विशेष योग रहता है । इसलिए मुक्तिबोध को हम एक मूल्य संकल्प-धर्म चेता कवि मानते हैं

जो वास्तव में जानदार है और अपने अस्तित्व की रक्षार्थ बडी से बडी कुर्बानी करने पर तत्पर रहा - यही उसके व्यक्तित्व की सही पहचान भी कही जा सकती है ।-157

वर्तमान युग संशय और अनिश्चय का है । इस मूल्य-संक्रमण काल में निराशा, हताशा, अवसाद भाव ही सर्वत्र दिखाई देता है । इस मोह-भंग नाजुक परिस्थितियों में कवि के मन में कई प्रश्न खडे हो जाते हैं । यह इसलिए कि अनिश्चय और संशय के समय में जीवन का अर्थ और मूल्यों की स्थिति के प्रति कवि की दृष्टि जागृत होने के कारण है -

अर्थ खोज-प्राण ये उद्दाम हैं / अर्थ क्या' यह प्रश्न जीवन का अमर /
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह / अर्थ क्या' ललकार मेरी है प्रखर ।158

लेकिन इस संक्रांति काल में कवि कभी भी जीवन और मूल्यों के प्रति अपनी आस्था, अपना विश्वास नहीं खो देते । कवि अपने अर्थखोजी मन को आगे बढाने का दृढ संकल्प करते हैं । इन कठोर परिस्थितियों में भी कवि अपने को ईमानदार और जानदार रखने का प्रण लेते हैं -

इस कठिन जिन्दगी के कठोर / पहियों में दिल का जोर लगा /
निज को उभारता हुआ / नभाता हुआ / उन्हें धक्का दे-देकर तेज़ बढाता
जाऊँगा आगे-आगे / इस तरह लगाकर जान रहूँगा जानदार हर पल ।159

मुक्तिबोध देखते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की राजनीतिक क्षेत्र में जडता का वातावरण पनप रहा है । इसके अतिरिक्त जनता रूढियों और प्रगति-विरोधी परंपराओं का शिकार बन गयी है । इन नाजुक परिस्थितियों में मानव का उत्थान कैसे हो सकता है' यही मुक्तिबोध की चिन्ता है । जनता के वक्ष में आसीन परंपराओं और रूढियों के विकराल चट्टानों को चकनाचूर करने के लिए नये मूल्यों की खोज आवश्यक मानते हैं कवि । वे जीवन और कला दोनों में इस ज्वलन्त समस्या से विमुख न होकर संघर्षरत रहते हैं । इन संघर्षों से जूझकर निजी मूल्यों की रक्षा के लिए मुक्तिबोध को बहुत कुछ सहना पडा और उसकी कीमत अपनी जिन्दगी के रूप में चुकानी पडी । नयी कविता में पुरानी परंपरा और रूढियों को तोडने का कार्य की शुरूआत हुई थी । यह शुभोदर्क थी, लेकिन इसमें विकसित नयी दृष्टि को मुक्तिबोध ने मान्यता नहीं दी है । "आधुनिक भावबोध" की संज्ञा से समाज की जिस मूल्यहीनता का बखान हुआ और माता, पिता, परिवार, समाज आदि का जो चित्रण इसमें हुआ मुक्तिबोध

उन्हें अमानवीय और घृणित मानते थे । इसके संबन्ध में मुक्तिबोध ने लिखा है - "जो पुराना है, अब वह लौटकर आ नहीं सकता । लेकिन नये ने पुराने का स्थान नहीं लिया धर्म भावना गयी, लेकिन वैज्ञानिक बुद्धि नहीं आयी । धर्म ने हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष अनुशासित किया था । वैज्ञानिक मानवीय दर्शन और वैज्ञानिक मानवीय दृष्टि ने धर्म का स्थान नहीं लिया । इसलिए केवल हम अपनी अन्त: प्रवृत्तियों के यन्त्र से चालित हो उठे उस व्यापक उच्चतर सर्वतोमुखी मानवीय अनुशासन की हार्दिक सिद्धि के बिना हम "नया-नया" तो उठे, लेकिन वह "नया" क्या है - हम नहीं जान सके ! क्यों? नया जीवन, नये मानमूल्य, नया इनसान परिभाषाहीन और निराकार हो गये । वे दृढ और व्यापक मानसिक सत्ता के अनुशासन का रूप धारण न कर सके । वे धारण न कर सके ! वे धर्म और दर्शन का स्थान न ले सके ।"[160]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे समाज में सामाजिक मूल्यों के स्थान पर व्यक्तिवादी तत्वों को जो प्रश्रय मिला यह सत्य मुक्तिबोध जैसे प्रखर समाज-चेता कवि को चौंका देता है । समाज के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में इसके दुष्परिणाम हुए । अत: समाज के परिवर्तन के नाम पर जिसे हम प्रोत्साहन देते हैं वे सारे तत्व हमारे समाज के अन्धकार से भरे जंगल के व्यक्तिवादी वृक्ष को बढाते हैं । मुक्तिबोध "अन्धेरे में" कविता में कई तत्वों को प्रकाश में लाते हैं । जैसे काव्य-नायक देखता है - उदरंभरि अनात्म बन जाना, भूतों की शादी में कनात से तन जाना, व्यभिचार के बन जाना बिस्तर, लोक-हित पिता को घर से निकालना, जन-जन-करुणा सी माँ को हंकाल देना, स्वार्थों के टेरियर कुत्तों को पालना, देश का मर जाना और तुम जीवित रहना - ये सब हमारे समाज को ग्रसित व्यक्तिवादी चेतना के विविध पहलुओं को व्यक्त करना है । इसमें मूल्य-चेतना से युक्त कवि एकदम स्तब्ध रह जाते हैं क्योंकि - "यह सही है कि जिन्दगी और ज़माना बदलते जा रहे हैं । किन्तु मैं परिवर्तन के परिणामों को देखने का आदी था, परिवर्तन की प्रक्रिया को नहीं ।"[161]

कवि की मूल्यवादी दृष्टि देखती है कि समाज का कुआँ शुष्क हो गया है । अन्तराल अन्धकार से भर गया है । यह कुआँ अमानवीय ईंट-पत्थरों से भरा पडा है -

> पुकार से समस्त खोल दो छिपी प्रवंचना / कहा कि शुष्क है अथाह यह कुआँ / कि अन्धकार - अन्तराल में लगे / महीन श्याम जाल / घृण्य कीट जो कि जोड़ते दिवाल को दिवाल से / व अन्तराल का तला / अमानवी कठोर ईंट-पत्थरों भरा हुआ / न नीर है, न पीर है, मलीन है / सदा विशून्य शुष्क ही कुआँ रहा ।[1]

वर्तमान समाज में सारे के सारे मूल्य समझौतावादी बन गये हैं । अतः आज की मूल्यहीनता के पीछे परिस्थितियों से समझौता करने की हीन प्रवृत्ति निहित होती है । समाज के तथाकथित महत्वपूर्ण साहित्यिक, राजनीतिज्ञ, धर्मज्ञ और उच्चमध्य के लोग इसी मानसिकता से अपने चरित्र का सामंजस्य स्थापित कर गये हैं । यह चारित्रिक संकट समाज को अस्तव्यस्त कर देता है । मुक्तिबोध मानते हैं - "मूलबात यह है कि यह संकट लाभ-लोभ के फलस्वरूप और उस लाभ-लोभ से प्रेरित "समझदारी" से पैदा होता है । जब तक समाज पर धन का शासन रहेगा तब तक यह चारित्रिक संकट, अधिक असंतोष और अव्यवस्था उत्पन्न करने के अतिरिक्त मानव-मूल्यों को हानि के साथ ही, लाभ-लोभ से प्रेरित "समझदारी" को प्रधानता देता जाएगा, आदमी ज्यादा से ज्यादा टुच्चा और ओछा होता चला जाएगा ।"[163]

लेकिन कवि मूल्य-प्रेरित भावनाओं से युक्त होने के कारण वे इन कपट मूल्यों से समझौता करने को हिचकते हैं । "जिन्दगी के व्यावहारिक पक्ष के साथ समझौता न करने की उनकी जिद बराबर बरकरार रही ।"[164] इसलिए भौतिक दृष्टि से कवि को बहुत कुछ कष्ट सहना पड़ा । फिर भी उन्होंने अपनी निष्ठा को नहीं छोड़ा । भौतिक जीवन की सारी असफलताओं से लड़ते लड़ते क्षत-विक्षत होने पर भी कवि अपने को उन घृणित समझौतों तक ले नहीं जाते -

> असफलता का धूल-कचरा ओढ़े हूँ / इसलिए कि वह चक्करदार ज़ीनों पर मिलती है / छल-छद्म धन की / किन्तु मैं सीधी-सादी पटरी-पटरी दौड़ा हूँ / जीवन की ।[165]

जीवन की सीधी-सादी पटरियों पर, समझौता न करके, आगे बढ़ने से कवि के मन में कहीं भी पश्चाताप नहीं मिलता है । क्योंकि आदर्श-मन कवि को आत्मचेतस् और बेबनाव विश्वचेतस् बनाता है । ऐसे विश्वचेतस् बने व्यक्ति ढोंगी मूल्यों का पोलखोलने का खतरा उत्पन्न करता है । इसलिए कवि को बागी करार देकर समाज के कार्यक्षेत्र से बाहर निकाल दिया जाता है । "एक भूतपूर्वविद्रोही का आत्म-कथन" कविता की पंक्तियाँ हैं -

भूत-बाधा-ग्रस्त / कमरों को अन्ध-श्याम साँय-साँय / हमने बतायी तो /
दण्ड हमीं को मिला, / बागी करार दिये गये, / चाँटा हमीं को पड़ा, /
बन्द तहखाने में - कुओं में फेंके गये / हमीं लोग !! / क्योंकि हमें ज्ञान था /
ज्ञान-अपराध बना ।[166]

"भाग गयी जीप" मूल्य-दृष्टि से चर्चा करने योग्य एक कविता है । इस कविता की बस अवसरवाद और सफलता की है । यह बस छूट जाने पर लोग उसमें ठूँस जाने को दौड़धूप करते हैं । इन अवसरवादी लोगों को बस में "ठूँस जाना ही जिन्दगी की जीत है । जब समाज के सुविधावादी लोग कोई संकोच के बिना इस बस में प्रवेश पाने केलिए बेचैने हैं तब काव्य-नायक उसे मिस कर देता है कवि उसे संबोधित करते हुए कहते हैं कि उसने जो कुछ किया है वह बिलकुल सराहनीय है । इसमें कवि की मूल्य-दृष्टि व्यक्त हो जाती है -

बस मिस हो गयी / कर गये मिस तुम / बहुत अच्छा हुआ यह /
प्राणों में हमारे / सनातन पूर्ण तुम / / समय के मारे तुम /
केवल हमारे हो / केवल हमारे हो ।[167]

मूल्यों के संबन्ध में कवि की दृष्टि आदर्शवादी है । लेकिन नाजुक सामाजिक परिस्थितियों के कारण वे अपने में सन्निहित मूल्यों का प्रयोग नहीं कर पाते । परिस्थितियों के दबावों से दबकर कवि उन्हें गुहावास देते हैं । लेकिन ऐसी प्रवृत्ति के कारण उनके मन में आत्मनिंदा का भाव अवश्य है । इस लिए उनमें आदर्शवादी मन और सुविधावादी मन के बीच का संघर्ष मुखरित हो जाता है -

हाय, हाय ! मैं ने उन्हें गुहा-वास दे दिया / लोक-हित क्षेत्र से कर दिया वंचित
जनोपयोग से वर्जित किया और / निषिद्ध कर दिया / खोह में डाल दिया !! /
वे खतरनाक थे, / (बच्चे भीख माँगते) खैर / यह न समय है, /
जूझना ही तय है ।[168]

कवि के आदर्श-मन की प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक स्तर पर भौतिक सफलताओं से कवि को वंचित करती हैं । इसलिए कवि में आत्मालोचना की प्रवृत्ति चलती है -

गहन अनुमानिता / तन की मलिनता / दूर करने के लिए प्रतिपल / पाप-छाया
दूर करने के लिए, दिन-रात / स्वच्छ करने - / घिस रहा है देह / हाथ के
पंजे, बराबर, / बाँह-छाती-मुँह छपाछप / खूब करते साफ, / फिर भी मैल /
फिर भी मैल !![169]

यह ब्रह्मराक्षस वास्तव में कवि के व्यक्तित्व का प्रतीक है। सही अर्थ में ब्रह्मराक्षस पर पाप छाया नहीं है। यह अनुभूति "गहन अनुमानिता" है। व्यक्ति का समाज के द्वारा परित्यक्त होने पर अपनी आत्मालोचना या अपराध की खोज करना बिलकुल स्वाभाविक है। ब्रह्मराक्षस की ट्रेजडी समाज से कट जाने में नहीं बल्कि उसके आदर्शों को समाज द्वारा स्वीकृति न देने में है। इसलिए उसके मन में मुक्ति का संघर्ष है। लेकिन सफलता के स्थान पर "भव्य असफलता" मिलती है -

> एक चढ़ना औ' उतरना, / पुनः चढ़ना औ' लुढ़कना, / मोच पैरों में /
> व छाती पर अनेकों घाव। / बुरे-अच्छे-बीच के संघर्ष से भी उग्रतर /
> अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर / गहन किंचित् सफलता /
> अति भव्य असफलता !![170]

इसप्रकार मूल्यहीन समाज के साथ समझौता न कर पाने से मुक्तिबोध के मन में संघर्ष चलता है अवश्य। लेकिन इस संघर्ष से उनका व्यक्तित्व अपने समकालीन मूल्यच्युत वातावरण से अपनी पूरी ताकत के साथ लड़ने के लिए हथियार पहना देता है। इस लड़ाई में अपनी अक्षमता को वे स्वीकारते हैं, अपने को हारे मानते हैं लेकिनथके नहीं मानते हैं। अपनी अवस्था को सूचित करने के लिए कवि "अक्षमता में लिपटी मुक्ति" "हार गया" "लड़ते-लड़ते थका नहीं" आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं -

> पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं, /
> जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं।[171]

लेकिन कवि की आस्था मानवीय मूल्यों पर अवश्य टिकी है। घन-अन्धकार के बीच भी प्राण ज्योति का लाल बिंब सर्वत्र फैलकर दबी हुई अनन्त ज्योतियों को जगाता है। "मुझे पुकारती हुई पुकार" कविता की पंक्तियाँ है -

> मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं .../ आज भी नवीन प्रेरणा यहाँ न मर सकी,
> न जी सकी, परन्तु वह न डर सकी। / घनान्धकार के कठोर वक्ष / दंश-चिह्न-से /
> गंभीर लाल-बिंब प्राण-ज्योति के / गंभीर लाल-इन्दु से / सगर्व भीम शांति में
> उठे अयास मुसकरा / घनान्धकार की भिदी परंपरा।[172]

मुक्तिबोध की मूल्य-दृष्टि के पीछे वर्ग-चेतना काम करती है। वे कलाकार के लिए वर्ग-चेतना की सही पहचान और उसका प्रयोग आवश्यक मानते हैं। यह

इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है कि रचनाकार जिस वर्ग से उत्पन्न होता है और जिसके भीतर उसकी संवेदनाओं और ज्ञान व्यवस्था का विकास होता है उस वर्ग के साथ जुड़े रहना उसके अन्तर्संबन्धों को समझकर उस वर्ग की ह्रासशील और प्रतिगामी शक्तियों के साथ संघर्ष कर प्रगतिशील तत्वों का समावेश करना जरूरी है । समाज के अन्तर्संबन्धों और अन्तर्विरोधों के परिचय से ही वह सत्य की स्थिति से अवगत हो जाता है । लेकिन जो कवि या साहित्यकार अपनी वर्गीय-चेतना की उपेक्षा कर अवसरवादी और समझौतावा होकर ऊपर की ओर बढ़ना चाहता है वह कुछ नहीं हो जाता । वह न तो अपने वर्ग की पीड़ा से अभिभूत नहीं होता और न ऊपर की श्रेणी से अपने को जोड़ पाता । इस बेईमानी के संबन्ध में मुक्तिबोध कहते हैं - "अनुभूत वास्तव का आज जितना अनादर है उतना पहले कभी नहीं था ।"[173] लेकिन मुक्तिबोध की वर्ग-चेतना अपने अनुभूत सत्यों की उपेक्षा नहीं करती, क्यों कि वे जानते हैं कि समकालीन समाज के विघटनकारी और प्रतिगामी शक्तियों के साक्षात्कार के लिए समाज को शोषित-पीड़ित जनता के साथ देना पड़ता है । कवि उत्पीड़ित-शोषित जनता के जीवन के द्वारा प्रगतिशील मानवीय मूल्यों की चर्चा और स्थापना की कोशिश करते हैं । क्योंकि "इन नये जीवन-मूल्यों का भावात्मक, हार्दिक अन्तःकरणमूलक समस्त-व्यक्तिगत-उत्सर्गशील ग्रहण तब तक संभव नहीं है जब तक लेखक अथवा कलाकार प्रगतिशील मानवीय जीवन-मूल्यों से तथा उनको वहन करनेवाली शक्तियों से और समाज के उस पक्ष से, जिसको हम जनता का पक्ष कहते हैं अपने को तदाकार नहीं कर लेता ।"[174] अतः मुक्तिबोध का दृढ़ विश्वास है कि इस आम जनता के द्वारा ही समाज को नये सिरे से ढालने और उसे अनुपोज्य मूल्यों से युक्त बनाने की शक्ति निहित है । कवि मानते हैं -

हमारे तुम्हारे पास, / सिर्फ एक चीज़ है - / ईमान का डंडा है, /
बुद्धि का बल्लम है, / अभय की गति है / हृदय की तगारी है - /
तसला है / नये-नये बनाने के लिए भवन / आत्मा के, / मनुष्य के /
हृदय की तगारी में ढोते हैं हमीं लोग / जीवन की गीली और
महकती हुई मिट्टी को ।[175]

अतः कवि इन शस्त्रों से लैस होकर आज के इस मूल्यहीन समाज में कुरुक्षेत्र लड़ाने की प्रेरणा देते हैं । डा. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार यह तैयारी मुक्तिबोध में व्यक्तिगत एवं सामाजि दोनों स्तरों पर हो रही है ।[176] इसप्रकार कवि जनता में क्रांति की चेतना जगाकर

एक नये युग की शुरुआत करना चाहते हैं। "एक अन्तर्कथा" कविता में "सभ्यता के जंगल" में "अग्नि के काष्ठ" खोजनेवाली माँ इस क्रांति की प्रेरणा देती है। शायद यह "अग्नि के काष्ठ" मानव के मन में निहित क्रांति की चिन-गारियाँ हो सकती हैं। वह कवि से कहती है -

> अन्तर्जीवन के मूल्यवान जो संवेदन / उनका विवेक-संगत प्रयोग हो सका नहीं /
> कल्याणमय करुणाएँ फेंकी गयीं / रास्ते पर कचरे-जैसी, / मैं चोन्ह रही उनको। /
> जो गहन अग्नि के अधिष्ठान / हैं प्राणवान् / मैं बीन रही उनको देख तो /
> उन्हें सभ्यताभिरुचिवश छोड़ा जाता है / उनसे मुँह मोड़ा जाता है /
> यम नहीं किसी में / उनको दुर्दम करे / अनलोपम स्वर्णिम करे। / घर के
> बाहर आँगन में मैं सुलगाऊँगी / दुनिया-भर को उनका प्रकाश दिखलाऊँगी।[177]

इस क्रांति की संभावना कवि के मन में मानव-मूल्यों और आत्म-तत्वों के प्रति आस्था का ठोस आधार डालता है। वे देखते हैं कि इस संक्रांतिकाल में "इस जग परिवर्तन के तत्व" "जनके मनके रत्न"[178] सारे असुविधाकारक होने के कारण भूमिस्थ किया गया या भूमिस्थ हो गये। वर्तमान जीवन में ये कुछ भी महत्व नहीं रखते हैं। लेकिन इनकी रक्षा भविष्य के लिए आवश्यक है। इन मूल्यों पर कवि की आस्था अपनी कविताओं को "फणिधर" बनाती है। कवि अपने काव्यात्मन् फणिधर को संबोधित करते हुए कहते हैं

> लहराओ, लहराओ, नागात्मक कविताओ, / झाड़ियों छिपो, / उन श्याम
> झुरमुटों-तले कई / मिल जायँ कहीं / वे फेंक गये रत्न, ऐसे / जो बहुत
> असुविधाकारक थे, / इसलिए कि उनके किरण-सूत्र से होता था /
> पट-परिवर्तन, यवनिका पतन / मन में जग में! / ओ काव्यात्मन्
> फणिधर, अपना फन फैलाओ / मणिगण को धारण करो, उन्हें /
> वाल्मीक-गुहा में ले जाओ, / एकत्र करो ...।[179]

ऐसी धारणा है कि सांप अपने सिर पर रत्न धारण कर वल्मीक में छिपा रहता है। इसलिए कवि उपेक्षित मूल्यों के रत्न की रक्षा के लिए कविताओं को फणिधर नाग के रूप में चित्रित करते हैं।

कवि में सुविधाजीवियों के द्वारा उपेक्षित जीवन-मूल्य रूपी रत्नों को एकत्रित करने की अनथकी अभिलाषा है। इसके लिए कवि बाह्य और आन्तरिक संघर्षों को झेलते रहते हैं। कवि अपने "संवेदन मय-ज्ञान नाग" को उन रत्नों को एकत्रित कर

ठीक समय पर पीड़ित वर्ग को सौंपने का आह्वान देते हैं। क्योंकि जग परिवर्तन के ये मूल्य-सत्यों की जनता के हाथ में आने से रक्षा होगी और जनता के द्वारा उसका अर्थ दीप्त हो जाएगा। फणिधर नाग के गुहा से जनता से मूल्य के रत्नों का ले जाने के संबन्ध में कवि फणिधर को कह देते हैं -

> पर शोक मत करो नागात्मन् / आ गये तुम्हारी अनुपस्थिति में / प्रतीक्षा जिनकी थी, / ले गये ज्वलत्-द्युति प्रस्तर-घन !! / अब उन रत्नों का अर्थ दीप्त होगा, / उनका प्रभाव घर-घर में पहुँचेगा फिर से, / उनके प्रकाश में / देख सकेगा भीषण मुख / वह भीषण मुख उस ब्रह्मदेव का / जो रहकर प्रच्छन्न स्वयं, / निज अंकशायिनी दुहिता-पत्नी सरस्वति / या विवेक-धी / के द्वारा ही / उद्दाम स्वार्थ या सूक्ष्म आत्म-रति का प्रचार / कर भटकता।[180]

आम जनता पर आस्था रखने और मूल्यों को अर्थ दिलाने के उनके बल पर विश्वास रखने से मुक्तिबोध कभी यह नहीं मानते हैं कि सारे मानव मूल्य नष्ट हो गये हैं। व्यवस्था जितनी भी कठोर हो जाए वह सारे मूल्यों को पत्थर नहीं बना सकती। व्यवस्था और परिस्थितियों के राक्षसीय हाथों से समाज के जीवन को प्रहार करने पर भी उसके "पाषाणी ढांचे" में मूल्यों के रत्न चमके रहेंगे। "चंबल की घाटी" कविता में कवि की आस्था मुखरित हो जाती है -

> फिर भी, यह सच है / आँय-बाँय-शाँय के सिवाय भी उसमें, / खुदगर्ज़ हाय के सिवाय भी उसमें, / कुछ तेजस्क्रिय / सत्यों के अणु हैं, / पाषाणी ढाँचे के पत्थरी पुरजों में जकड़े / रत्नों के कण हैं,[181]

मुक्तिबोध जानते हैं कि इन मूल्यों की सुरक्षा से ही जीवन को इच्छित निष्कर्षों तक पहुँचा सकते हैं। इस केलिए वे समाज में समाजवादी मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में वे अपने समकालीन समाज में प्रचलित प्रतिक्रियावादी मूल्यों को समाप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं और झेलते भी हैं। यह संघर्ष अधिकांश रूप में उनके अन्तर्जगत् में हुआ है।[182]

अध्याय - चार

1. परमानन्द श्रीवास्तव, नयी कविता का परिप्रेक्ष्य, पृ: 38.
2. डा॰ हरिचरण शर्मा, नये प्रतिनिधि कवि , पृ: 197-198.
3. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 179-180.
4. वही - पृ: 114.
5. डा. शशि शर्मा , ग. मा. मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन , पृ: 141.
6. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 108.
7. वही - पृ: 2-3.
8. वही मुक्तिबोध रचनावली-1, पृ: 96.
9. वही मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 104-105.
10. वही पृ: 392.
11. वही - पृ: 401-42.
12. वही मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 339-40.
13. वही मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 107-108.
14. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 77.
15. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 243.
16. वही - पृ: 239.
17. वही - पृ: 237.
18. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 20-21.
19. वही मुक्तिबोध रचनावली-1, पृ: 236.
20. वही - पृ: 233-234.
21. वही - चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 77.
22. वही - मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 242.
23. वही - पृ: 241.
24. वही - पृ: 309-310.
25. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 34.
26. डा. शशि शर्मा , ग. मा. मुक्तिबोध का काव्य एक अनुशीलन , पृ: 166.
27. वही - पृ: 166.

28. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 108.
29. वही - पृ: 80-81.
30. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 181.
31. वही - पृ: 109.
32. वही - मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 239.
33. वही - मुक्तिबोध रचनावली-6 , पृ: 94.
34. वही - मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 81.
35. वही - मुक्तिबोध रचनावली-6, पृ: 92.
36. वही - मुक्तिबोध रचनावली -2 , पृ: 107-108.
37. वही - मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 82-83.
38. वही - पृ: 107.
39. वही - चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 247-248.
40. वही - मुक्तिबोध रचनावली-1 [पेपर बैक्स] - पृ: 406.
41. डा. जगदीश शर्मा एक साहित्यिक इकाई , पृ: 47.
42. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढा है पृ: 16-17.
43. वही - मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 121.
44. वही - एक साहित्यिक की डायरी पृ: 35.
45. डा. हुकुमचन्द राजपाल मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य संकल्प पृ:105-10
46. अशोक वाजपेयी फिलहाल , पृ: 115.
47. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 195.
48. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 331.
49. वही पृ: 323.
50. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 4.
51. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 294.
52. वही - पृ: 296.
53. अशोक चक्रधर , मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया , पृ: 105.
54. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-1, पृ: 241.
55. वही , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ:

56. अशोक चक्रधर , मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया, पृ: 142.
57. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 151.
58. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 163.
59. वही मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 208.
60. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 31-32.
61. वही - पृ: 26.
62. वही - पृ: 24-25.
63. वही - पृ: 292.
64. वही मुक्तिबोध रचनावली-6 , पृ: 377.
65. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 324.
66. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 295.
67. श्रीकान्त वर्मा काठ का सपना (भूमिका) पृ: 8.
68. मुक्तिबोध , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 95.
69. वही - मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 247.
70. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 95.
71. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 314.
72. वही - पृ: 315
73. वही - चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 284.
74. वही - पृ: 283-284.
75. वही - पृ: 53.
76. वही - पृ: 119-20.
77. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 322-323.
78. वही , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 80.
79. वही - पृ: 279.
80. वही - पृ: 91.
81. वही - पृ: 226.
82. वही - पृ: 283.
83. वही - मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 313.
84. वही - मुक्तिबोध रचनावली-1, पृ: 178.

85. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 115.
86. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 37-38.
87. वही - एक साहित्यिक की डायरी , पृ: 107.
88. वही - चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 167.
89. वही - पृ: 2-3.
90. वही - पृ: 311.
91. वही - पृ: 301-302.
92. वही - पृ: 279-280.
93. डा. नामवर सिंह , कविता के नये प्रतिमान पृ: 216.
94. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 197-198.
95. वही - पृ: 187.
96. वही - भूरी-भूरी खाक धूल पृ: 81.
97. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 475.
98. वही - पृ: 61-62.
99. वही - पृ: 233.
100. प्रभाकर श्रोत्रिय मुक्तिबोध , (सं) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी पृ: 102.
101. गंगा प्रसाद विमल गजानन माधव मुक्तिबोध का रचना-संसार पृ: 55.
102. मुक्तिबोध , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 109.
103. वही - चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 137-138.
104. डा. महेन्द्र भटनागर गजानन माधव मुक्तिबोध जीवन और काव्य , पृ: 30-31.
105. मुक्तिबोध , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 143.
106. वही , तारसप्तक , पृ: 55.
107. डा. रामविलास शर्मा , साप्ताहिक हिन्दुस्तान , 25 मई 1969 , पृ: 25.
(नयी कविता तारसप्तक और उसके बाद" लेख)
108. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 129.
109. वही - तारसप्तक , पृ: 55.
110. डा. हरिचरण शर्मा नयी कविता नये धरातल , पृ: 303.
111. विष्णु चन्द्र शर्मा आलोचना - जून 1965 , पृ: 201.
112. सुरेश ऋतुपर्ण , मुक्तिबोध की काव्य - सृष्टि , पृ: 118.
113. मुक्तिबोध , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 48.

114. डा. हरिचरण शर्मा , दृश्य हमारे दृष्टि तुम्हारी पृ: 311.

115. श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध , राष्ट्रवाणी (मुक्तिबोध विशेषांक) जनवरी-फरवरी-1965 पृ: 270.

116. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 180.

117. महेशशरण जौहरी ललित , लक्षित मुक्तिबोध , (सं) मोतीराम वर्मा , पृ: 121.
(सं) मोतीराम वर्मा पृ: 121.

118. शरच्चन्द्र मुक्तिबोध - "मेरा बडा भाई" नामक लेख - गजानन माधव मुक्तिबोध ,
(सं) लक्ष्मण दत्त गौतम पृ: 14-15.

119. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 134.

120. सुरेश ऋतुपर्ण , मुक्तिबोध की काव्य - दृष्टि , पृ: 51.

121. मुक्तिबोध , तारसप्तक , पृ: 56.

122. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 72-73.

123. अशोक वाजपेयी फिलहाल पृ: 55.

124. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढा है पृ: 44.

125. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 164-165.

126. वही , पृ: 137.

127. वही नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 16.

128. वही नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 93.

129. वही - पृ: 74.

130. वही - चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 66.

131. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 131.

132. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 103-104.

133. डा. सतोषकुमार तिवारी नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर पृ: 92.

134. मुक्तिबोध चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 80.

135. वही - पृ: 72.

136. डा. रमेश शर्मा , कवि मुक्तिबोध - एक विश्लेषण , पृ: 65.

137. डा. हुकुमचन्द्र राजपाल , मुक्तिबोध की काव्य-चेतना और मूल्य संकल्प , पृ: 99.

138. मुक्तिबोध चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 15.

139. वही पृ: 164.

140. प्रभाकर श्रोत्रिय , मुक्तिबोध , [सं] विश्वनाथ प्रसाद तिवारी पृ: 103-104.
141. शमशेर बहादुर सिंह , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 23.
142. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 64.
143. अशोक वाजपेयी फिलहाल , पृ: 119.
144. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 243-244.
145. श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध से निवेदित साक्षात्कार , लक्षित मुक्तिबोध ,
[सं] मोतीराम वर्मा पृ: 93.
146. डा. हुकुमचन्द आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य , पृ: 52.
147. धनंजय वर्मा मधुमति - परिचर्चा अंक , जनवरी-फरवरी पृ: 10.
148. अज्ञेय , अपरोक्ष , पृ: 214.
149. मुक्तिबोध , एक साहित्य की डायरी पृ: 64.
150. वही - पृ: 87.
151. वही - नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 57.
152. डा. हुकुमचन्द राजपाल मुक्तिबोध की काव्य-चेतना और मूल्य संकल्प, पृ: 87.
153. इन्द्रनाथ मदान निबन्ध और निबन्ध , पृ: 120.
154. डा. राजेन्द्र प्रसाद तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना पृ: 330.
155. डा. हुकुमचन्द राजपाल मुक्तिबोध की काव्य-चेतना और मूल्य-संकल्प पृ: 39.
156. डा. संतोषकुमार तिवारी नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर पृ: 91.
157. डा. हुकुमचन्द राजपाल , मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य संकल्प पृ: 103.
158. मुक्तिबोध , तारसप्तक पृ: 53.
159. वही मुक्तिबोध रचनावली -2 पृ: 243.
160. वही , एक साहित्यिक डायरी पृ: 81.
161. वही - पृ: 79.
162. वही - मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 180.
163. वही एक साहित्यिक की डायरी , पृ: 41.
164. मोतीराम वर्मा , लक्षित मुक्तिबोध , पृ: 137.
165. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 108.
166. वही - पृ: 62.

167. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 146.
168. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 289.
169. वही पृ: 11-12.
170. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 347.
171. वही , तारसप्तक , पृ: 55.
172. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 70.
173. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 37.
174. वही नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पृ: 135.
175. वही भूरी-भूरी खाक धूल , पृ: 138.
176. डा. राजेन्द्र प्रसाद , तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना पृ: 329.
177. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा पृ: 119-120.
178. वही पृ: 131.
179. वही पृ: 132-133.
180. वही पृ: 140.
181. वही पृ: 249.
182. परमानन्द श्रीवास्तव , शब्द और मनुष्य पृ: 24.

अध्याय - पाँच

मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता

सशस्त्र क्रांति का समर्थन

मुक्तिबोध काव्य-रचना को सांस्कृतिक-प्रक्रिया और वर्ग की देन मानने वाले कवि हैं। इसलिए उन्होंने अपनी कविताओं में मनोवैज्ञानिक दृष्टि का कम प्रयोग किया है। उनकी कविताओं में बाह्य संघर्ष के साथ आन्तरिक संघर्ष का भी महत्व है। लेकिन यह फ्रायड के मनोवैज्ञानिक तत्वों पर आधारित नहीं है। यह आन्तरिक संघर्ष अपनी विशेषता रखती है। यह बाह्य का ही आभ्यंतरीकृत रूप है। कवि के ही शब्दों में - "चूँकि कवि का आभ्यंतर, बाह्य का आभ्यन्तरीकृत रूप ही है, इसीलिए कवि को अपने वास्तविक जीवन में, रचनाबाह्य काव्यानुभव जीना पडता है। कवि केवल रचना प्रक्रिया में पडकर ही कवि नहीं होता, वरन् उसे वास्तविक जीवन में अपनी आत्मसमृद्धि को प्राप्त करना पडता है और मनुष्यता के प्रधान लक्ष्यों से एकाकार होने की क्षमता को विकसित करते रहना पडता है।"[1] मुक्तिबोध केलिए मनुष्यता के प्रधान लक्ष्यों से एकाकार होने का अर्थ शोषित मानव से साक्षात्कार और उसे शोषण से मुक्त करना। शोषित मानव रोटी के लिए, वस्त्र के लिए, समता-सम्मान के लिए, सत्ता के स्याह चक्रव्यूहों से मुक्ति के लिए तरसता है तब एक सामाजिक चेता कवि के नाते वे मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों में नहीं उलझ रह सकते हैं। उन्हें क्रियाशील होना चाहिए। मुक्तिबोध वर्तमान जीवन की समस्याओं से जूझना चाहते हैं। वे जीवन को यों ही जीना नहीं चाहते हैं। शव के समान अपने जीवन को ढोना नहीं चाहते हैं। वे संघर्षशील हैं। जहाँ-जहाँ जनता अमानवीय परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए जीवन बिताती है उस संघर्ष से कवि का सरोकार है। वह संघर्ष जिस किसी भी देश में हो रहा है वे उसे मानव मुक्ति का संघर्ष मानते हैं। इस क्रांतिकारिता को ही कवि मानव-मुक्ति का मार्ग मानते हैं।

इसलिए ही कवि कहते हैं - "काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है । और, फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है । उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन है ।"[2]

मुक्तिबोध का साहित्यिक व्यक्तित्व विचारप्रधान होने पर भी जनवादी हैं । मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में वे तत्कालीन जीवन की व्याख्या करते हैं । वे वर्ग-विभक्त समाज के वर्ग-संघर्ष तथा जनता के शोषणग्रस्त जीवन को चित्रित करते हैं और जनता को मुक्तिसंघर्ष के लिए प्रेरित भी करते हैं ।

समाज में प्रमुखतः दो वर्ग ही हैं, शोषक और शोषित, याने पूंजीपति और मज़दूर । जब तक यह वर्ग विभाजन रहेगा तब तक वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है ।[3] वर्ग-विभक्त समाज में सब से बडी समस्या पूंजीपतियों के द्वारा मज़दूरों का शोषण है । इसलिए इन दोनों वर्गों के बीच निरंतर संघर्ष चलता रहता है । इस दृष्टि से "अब तक का सामाजिक इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है ।"[4] मार्क्स वर्ग-संघर्ष को समाज के विकास का मूलाधार मानते हैं । उनकी दृढ़ आस्था है कि शोषित जनता की मुक्ति केवल सामाजिक क्रांति द्वारा ही संभव है । सामाजिक क्रांति से उनका तात्पर्य समूचे शोषक वर्ग के विरुद्ध शोषित जनता का वर्ग-संघर्ष और उसके माध्यम से नवीन महत्वपूर्ण एवं वर्ग विहीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना है । इसप्रकार क्रांति के द्वारा ही समूचे सामाजिक परिवर्तन संभव होता है ।[5]

सच्चे साहित्य का लक्ष्य और धर्म वर्ग संघर्ष को प्रश्रय देना और वर्ग-हीन समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करना है । वही सच्चा साहित्यकार है जो बुनियादी स्तर पर वर्ग-संघर्ष को स्वीकार कर लेता है । माओ-त्से-तुंग का कथन है - "हमारे साहित्य व कला को लाखों - करोडों मेहनतकश लोगों की सेवा करनी चाहिए ।"[6] लेकिन मेहनतकश लोगों की मुक्ति के संघर्ष में साहित्यकार अपनी भूमिका कोई जादूगर के समान नहीं अदा करता है । उसका काम समाज के शोषित-पीडित जनता को अपनी निज स्थिति को समझाना, सजग करना, संघर्ष के लिए प्रेरित करना और संगठित करना है और इसीमें उसका जादू है । एर्नस्ट फिशर के अनुसार - "विश्व परिवर्तन केलिए निम्न वर्ग के संघर्ष में कला का धर्म जादू करना नहीं, सजग और प्रेरित करना है, लेकिन कला में

जादू के स्पर्श की उपस्थिति से इनकार नहीं किया जा सकता, उसके बिना कला कला नहीं रहती ।"[7]

मुक्तिबोध जानते हैं मानव सारी बातों में बराबर हैं । लेकिन सामाजिक परिस्थितियों और परंपराओं के कारण मानव छोटे-बडे, धनि-निर्धन, सभ्य और असभ्य हो जाते हैं । मानव-मानव के बीच सारे भेद-भाव स्वयं मानव की निर्मिति है । इन भेद-भावों को मानव विभिन्न तत्वों जैसे धर्म, नीति और दर्शन के आधार पर अधिक ठोस बना देते हैं । इससे क्या होता है? समाज में जो लोग अधिसंख्यक होते हैं उनका जीवन दिन-प्रतिदिन अभावों, अपमान और अन्याय के बीच से गुज़र जाता है । जो मज़दूर और किसान लोग जीवन के लिए आवश्यक साधनों का उत्पादन कर रहे हैं वे अभाव और गरीबी के भंवारों में पडकर अंतिम सांस ले रहे हैं । खेती करनेवाले किसान-मज़दूर मरते हैं, वस्त्र बुनने वाले अपनी नग्नता ढकने में असहाय होते हैं और घर बनानेवाले लोग बेघर जीवन बिताते हैं । लेकिन जो लोग कामचोर है और इन परिश्रमी लोगों के खून चूस कर जीवन बिताते हैं वे अपने जीवन में सारे सुख-वैभवों को प्राप्त करते हैं । ये लोग शोषण नीति पर ही अपने जीवन को सुखमय बनाते हैं । यह स्थिति समाज की शांति और एकता केलिए हानिकारक होती है । शोषितों के मन में अपनी हीनता, अवमान और असमता से उत्पन्न, बहुत काल से संचित आग की चिनगारियाँ एक दिन अग्निज्वालाएँ बनकर समाज का नाश करेंगी । यह स्थिति तब तक रहेगी जब तक मानव वर्तमान व्यवस्था को बदलकर साम्यवादी सिद्धांतों पर समाज का पुनः संगठन न करेगा । मुक्तिबोध ने सामाजिक जीवन में व्याप्त इस वर्ग-संघर्ष को गहराई तक आत्मसात किया है ।

साहित्य समाज में परिवर्तन लाता है । लेकिन उसका प्रभाव सीधा नहीं होता । वह जनता को प्रेरणा देता है और यों समाज पर उसका प्रभाव पडता है । साहित्य में अभिव्यक्त क्रांतिकारी प्रेरणाओं से प्रेरित जनता ही क्रांति करती है । साहित्यकार अपनी रचनाओं में जीवन और उसकी समस्याओं, जीवन-संघर्ष, शोषण-नीति और उनसे जनता की मुक्ति के मार्गों को कविता में कलात्मकता से प्रस्तुत करता है । इससे प्रभावित होती है जनता । मुक्तिबोध मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण उन रचनाओं को महत्व देते हैं जिनमें वर्ग संघर्ष की अभिव्यक्ति के साथ-साथ जनता को मुक्ति के मार्ग से आगे बढानेवाली प्रेरक शक्ति निहित हो । उनके शब्दों में - "जनता के

साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन-मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को, प्रतिष्ठापित करता हो । इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है । अतः इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करे ।"[8]

मुक्तिबोध जीवन के अर्थ खोजनेवाले कवि हैं । अपने समकालीन वातावरण की जड़ता और पुरानी परंपराओं के कारण कवि चिंतित है । लेकिन वे अपनी समकालीन क्षुद्र प्रवृत्तियों से डरकर अपनी अलग दुनिया नहीं बसते । वर्ग वैषम्य जनित समाज के यथार्थ उनकी प्रतिभा को कभी कुंठित नहीं कर सकते हैं । उनकी नस-नसों में क्रांति का खून बहता रहता है । कवि पूछते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में अर्थखोजी उनका मन कैसे क्रांतिकारी नहीं हो सकता है?

"अर्थखोजी प्राण ये उद्दाम हैं,
अर्थ क्या? यह प्रश्न जीवन का अमर ।

जब कि शंकाकुल तृषित मन खोजता
बाहरी मरु में अमल जल-स्रोत है,
क्यों न विद्रोही बने ये प्राण जो
सतत अन्वेषी सदा प्रद्योत हैं?[9]

कवि देखते हैं कि शोषण और अत्याचार की परंपरा बहुत पुरानी है । अब तक का इतिहा बताता है कि शोषकों और उत्पीडकों के मन में स्वाभाविक परिवर्तन नहीं हो जाता । ऐसा होता तो यह कार्य बहुत पहले ही हुआ होता । सारे महान आदर्शों और सिद्धांतों को मिट्टी में मिलाकर आज भी ये शक्तियाँ शक्तिशाली रहती हैं । इसलिए कवि बताते हैं कि व्यर्थ की प्रतीक्षा में हमें समय नष्ट न करना है क्योंकि पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय नहीं बदल जाता ।

"कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज में चल नहीं सकता ।
पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता,
स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को,
जन को ।"[10]

इसलिए मुक्तिबोध समाज के परिवर्तन के लिए सशस्त्र क्रांति का समर्थन करते हैं । उनमें ऐसा विश्वास नहीं है कि व्यक्ति के मानसिक परिवर्तन से समाज का परिवर्तन हो जाएगा । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बहुत समय बीत गये । जिन आदर्शों पर भारत ने जनतांत्रिक सत्ता को लागू किया वे आदर्श ही रह गये । उनका लक्ष्य सिद्ध नहीं हुआ । इसप्रकार के मोहभंग में गाँधीजी के और उनके आदर्शों का बड़ा हाथ है । गाँधीवादी तत्व प्रमुख रूप से मानव की सद्भावना पर आधारित है । यह व्यावहारिक से अधिक सैद्धांतिक है । इसमें वर्ग-संघर्ष का निराकरण होता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को सत्य की ओर उद्यत और तत्पर बना ले तो सब सामाजिक समस्याओं का एकसाथ अन्त हो जाएगा । लेकिन सत्य इससे बहुत भिन्न है । समाज के अधिकांश लोग सत्य के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं ।

सामाजिक जीवन पर आर्थिक-संबन्धों का बड़ा प्रभाव है और समाज की आर्थिक विषमताओं के बीच मानवीय गुणों का ह्रास होना स्वाभाविक है । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रेरित होने के कारण मुक्तिबोध समाज-परिवर्तन में क्रांति को अनिवार्य मानते हैं । वे अपनी कविताओं में Thesis, Anthithesis और Synthesis के आधार पर क्रांति का चित्र खींचते हैं । Thesis से Antithesis की ओर समाज के विकास को स्पष्ट करते हुए कवि समाज के अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त करते हैं । वे आशा करते हैं कि इस स्थिति में जनता क्रांति के द्वारा समाज को किसी गुणात्मक परिवर्त की ओर ले जाएगी तब समाज के सारे अन्तर्विरोध मिटकर एक नयी सामाजिक व्यवस्था क सृजन होता है । मुक्तिबोध की कविताओं में इसपर्यन्त पूंजीवादी समाज का विरोध और उसको मिटाने केलिए संघर्ष रत जनता का चित्रण है याने उनकी कविताओं में सशस्त्र क्रांति की गूँज यत्र-तत्र मुखरित है । डा.शशिबाला शर्मा के अनुसार - "मुक्तिबोध का विश्वास हिंसक क्रांति में है, गाँधीजी के अहिंसक हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत में नहीं ।"[11]

अतः मुक्तिबोध का लक्ष्य जीवन की परिभाषा करना नहीं है बल्कि उसे बदल देना है । मुक्तिबोध की कविताओं में इसके स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं । वे अपने समकालीन समाज के यथार्थ को इतिहास की पृष्ठभूमि में रखकर परखते हैं और आगामी भविष्य का रूप कैसा होना चाहिए इसको दिखाते हैं । इस भविष्य-निर्माण में क्रांति की अनिवार्यता मानते हैं, वह भी सशस्त्र क्रांति की अनिवार्यता । कवि पूछते हैं कि वर्तमान अमानवीय व्यवस्था के स्याह चक्रव्यूह में पिसनेवाला मानव अपने उज्वल भविष्य का निर्माण कैसे कर सकता है? पुरानी परंपराओं की चट्टानों से दबी हुई उसकी सीने में क्रांति की आग कैसे भभकेगी -

"मेरे सामने है प्रश्न,
क्या होगा कहाँ किस भाँति,
मेरे देश भारत में,
पुरानी हाय में से
किस तरह आग भभकेगी,
उडेगी किस तरह भक् से
हमारे वक्ष पर लेटी हुई
विकराल चट्टानें
व इस पूरी क्रिया में से
उभर कर भव्य होंगे, कौन मानव-गुण?".[12]

मुक्तिबोध अपनी क्रांतिकारी चेतना से भरी रचनाओं के द्वारा समाज की इन चट्टानों को तोडना चाहते हैं । उनके अनुसार- "कला को अपने औज़ार उठा लेना चाहिए । शायद बारूद भी ज़रूरी है जिससे चट्टाने तोडी जा सकें और युग के उन स्पन्दनशील सप्राण भाव निर्झरों को मुक्त किया जा सके जो चट्टानों के नीचे दब हुए हैं".[13] मध्यवर्ग से आनेवाले मुक्तिबोध अपना विकल्प सामाजिक प्रगति और मानव-मुक्ति स्वीकार करते हैं ।[14] इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं में सर्वहारा की मुक्ति की कविता क्रांति का दहकती इस्पाती दस्तावेज़ प्रस्तुत हुआ है ।

कि कहीं किसी-चौराहे पर
घनघोर क्रान्तिकारी पुराना कार्यकर्ता फटेहाल
संघर्षी जनता की रहा है मीटिंग ले
अन्याय के ख़िलाफ़
सारे शोषण के विरुद्ध
नये समाज की स्थापना की आवाज़ें बुलन्द हैं ।
बस्ती से जिन्दगी की महक बल खाती हुई
मुझ तक आती है कि विद्रोही कवि के
क्रोधाग्नि-स्वरों की धुआँधार धारा में
जनता के ज़ोर पर
नभ में प्रातः सूर्य की आगलग जाती है
मुक्ति का ज्वालाध्वज
मेघों को चूमता हुआ लहराता काँपता
कि बस्ती के पास,

आसमान छूती हुई व धरती पर चलती हुई
बिखराकर नीले-नीले स्फुलिंग-समूह
वह बनती है अकस्मात्
विराट मनुष्य-रूप
नहीं जान पाता कि छूकर मुझे मुझमें समा गयी कि
उसमें समा गया मैं ।
सुनहली काँपती-सी सिर्फ एक लहर रह जाती है
कि जिसे क्रान्ति कहते हैं
कि कहते हैं जन-क्रान्ति ।[15]

मुक्तिबोध जानते हैं कि शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था अधिक समय तक नहीं टिकेगी । उसका ह्रास अवश्यंभावी है । लेकिन यह आसानी से संभव नहीं है । उसके विरोध में जनता के मन में क्रोध उत्पन्न होना चाहिए । उस क्रोध की अग्नि में ही यह व्यवस्था एकदम भस्म हो जाएगी । अतः कवि वर्तमान व्यवस्था का नाश चाहते हैं क्योंकि इस अन्धकारमय वातावरण में नया सृजन नहीं होगा । पूंजीवाद मनुष्य को सामंजस्यों व समझौतों से निष्क्रिय बना देता है । लेकिन कवि बताते हैं कि साधारण जनता के अन्दर में उगनेवाले अशांति के कण्टक पौधों से ये सारे सतही सामंजस्य छिन्न-भिन्न हो जाएँगे । "भविष्य-धारा" कविता की पंक्तियाँ हैं -

बेचैनी में
लहराते कांटों द्वारा वे
फट जायेंगे गहरे परदे
सब भीतर के ।

वे सतही सामंजस्य, मार
चीख जंगली,
एक झटके में ही
टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे ।[16]

इसप्रकार सारे सामंजस्यों से मुक्त होकर इस क्रूर व्यवस्था का नाश करने का, उसमें योगदान देने का आह्वान करते हैं कवि -

बिना संहार के सर्जन असंभव है
समन्वय झूठ है,
सब सूर्य फूटेंगे
वे उनके केन्द्र टूटेंगे
    उड़ेंगे-खण्ड
बिखरेंगे गहन ब्रह्माण्ड में सर्वत्र
उनके नाश में तुम योग दो !![17]

नये समाज के निर्माण के लिए जनता को क्रांति करने का अधिकार है। कवि के अनुसार मनुष्यता की रक्षा केलिए क्रांति चलाना जनता का कर्तव्य है। वे लिखते है "गरीब-वर्गों के लिए क्रांति मनुष्यता का तकाजा है।"[18] कवि मानववादी होने के कारण वह आम जनता को शोषण से मुक्त करके समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं। यह सर्वहारा वर्ग की क्रांति से ही संभव हो जाएगी। इस वर्ग को संघर्षरत बनाना ही कवि अपना दायित्व समझते हैं। वे महाश्रमिक को संबोधित करके क्रांति की प्रेरणा देते हैं और कहते हैं कि इससे ही जीवन की भलाई है -

कर मुक्त श्वान-स्यारों के तन, चिमगादड तन
में अब तक जो मानव बन्दी,
तोड दे द्वार सौ रुद्ध किए
जो खडी दिशाएँ हैं अन्धी
शोषक की आवश्यकताएँ-दे तोड तिलस्मी सत्ताएँ
हे कष्ट जीवियों के प्रतिनिधि
नष्ट कर लोक-शशि-ग्रास-मग्न
सौ राहु-केतु।[19]

मुक्तिबोध की कविताओं में जो क्रांति भावना की अभिव्यक्ति मिलती है वह अपनी विशेषता रखती है। उनके लिए क्रांति का अर्थ केवल भावावेश या आक्रोश मात्र नहीं है। उसके पीछे यथार्थ बोध का ठोस धरातल है। उनके लिए क्रांति एक विश्वास और आस्था है। डा॰ वीरेन्द्र सिंह के अनुसार - "विद्रोह और क्रांति के महत्व को वे "आवेश" के रूप में नहीं लेते हैं, पर एक "समझ" एवं "एहसास" के रूप में ग्रहण करते हैं। इस क्रांति को वे एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में लेते हैं। इतिहास का द्वन्द्व और क्रांति के द्वारा ही संभव होता है - पर यह क्रांति और विद्रोह का रूप संगठित होना आवश्यक है, नहीं तो वह एक क्षणिक आवेश का रूप लेकर खत्म हो जाएगी।"[20]

मुक्तिबोध की प्रत्येक पंक्ति में जनता के अन्दर में निहित क्रांतिकारी शक्ति के प्रति अटूट आस्था की झलक मिलती है। वे जानते हैं कि जनता में उसी प्रकार क्रांति की आग निहित रहती है जिस प्रकार सूखी हुई लकडी में जलने की क्षमता होती है

कवि लोगों को आते-जाते देखते हैं । वे चुप रहने पर भी उनके मन में क्रांति की आग जल रही है । "अँधेरे में" की पंक्तियाँ हैं -

अँधेरे की सुरंग-गलियों में चुपचाप
चलते हैं लोग-बाग
दृढ-पद गंभीर,
बालक युवागण
मन्द-गति नीरव
किसी निज भीतरी बात में व्यस्त हैं
कोई आग जल रही तो भी अन्तःस्थ ।[21]

मुक्तिबोध की कविताओं में बार बार "आग" का परामर्श मिलता है । यह आग क्रांति की आग है । "चकमक की चिनगारियाँ"शीर्षक कविता में अभिव्यक्त "आग"[22] के संदर्भ में नामवर सिंह ने लिखा है - "कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह आग क्रांति है और ये पंक्तियाँ क्रांति का आह्वान है ।"[23] कवि को विश्वास है, अपने अपने अकेले व्यक्तित्व की रक्षा से क्रांति नहीं होती । मार्क्सवाद के अनुसार वर्ग-विभक्त समाज में मुक्ति किसी एक व्यक्ति की या एक वर्ग विशेष की नहीं हो सकती । वह सब के साथ और सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के साथ ही हो सकती है ।[24] मुक्तिबोध इसका समर्थन करते हैं -

याद रखो,
कभी अकेले में मुक्ति न मिलती,
यदि वह है तो सब के ही साथ है ।[25]

अतः कवि को इस बात में कोई शंका नहीं कि सर्वहारा वर्ग समूची जनता के अन्तःस्थ की क्रांतिकारी चेतना है और उसके द्वारा होनेवाली क्रांति वर्ग-संघर्ष को कुछ सार्थक निष्कर्षों तक पहुँचा सकती है लेकिन इस पीडित शोषित जनता का नेतृत्व कौन करेगा?

साधारणत: समाज के बुद्धिजीवी वर्ग ही सामाजिक-क्रांति का नेतृत्व करता है । लेकिन कवि मुक्तिबोध इस भयानक सत्य से खिन्न है कि आज के बुद्धिजीवी बिके हुए हैं । ये लोग क्रीतदास बन गये हैं -

बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास
किराये के विचारों का उद्‌भास ।[26]

नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे ये लोग रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल बद्ध हैं । शोषक वर्ग के साथ देनेवाले ये लोग जनता की क्रांति में मात्र सहयोग ही नहीं देते बल्कि उसे मात्र किंवदंती घोषित करते हैं -

सब-चुप, साहित्यिक चुप और कवि जन निर्वाक
चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
उनके खयाल से यह सब गप है
मात्र किंवदन्ती ।
रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे ।[27]

इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज के सारे बुद्धिजीवी क्रीतदास हैं । सत्ता या धन के हाथों से अनबिके बिरले लोग हैं समाज में । ऐसे लोग भी निसंग या निष्क्रिय है क्योंकि वे अपने व्यक्तित्व की रक्षा में तल्लीन है । "चंबल की घाटी में" ऐसे लोगों को "टूटकर गिरे हुए तारे का बुझा हुआ हिस्सा"[28] कहा गया है । "अन्धेरे में" कविता में भी एक कलाकार-व्यक्तित्व का चित्रण है । वह क्रांतिकारी भावों से युक्त होने पर भी असंग व्यक्तित्व के कारण उनका युक्तिसंगत उपयोग करने की कार्यक्षमता से वंचित है । सत्ता के हाथों से उसकी हत्या हो जाती है ।[29] मतलब यह है कि ज्ञान को क्रिया में बदलने की क्षमता व्यक्ति में नहीं होती । उसके द्वारा क्रांति होने की संभावना ही नहीं रह जाती । इसकी ओर संकेत करते हुए सुरेन्द्र प्रताप ने लिखा है - "मुक्तिबोध बुद्धिजीवी को कलाकार या कवि के रूप में देखते हैं । बौद्धिक वर्ग की स्थिति और नियति अच्छी तरह वे जानते थे फिर भी उन्हें विश्वास था कि बुद्धिजीवि क्रांति का वाहक बन सकता है । क्रांति में उसकी भूमिका को नज़रन्दाज़ करते हुए वे कहते हैं कि जब तक ज्ञान (idea) को क्रिया (action) में नहीं बदलता जाएगा, क्रांति संभव नहीं है ।"[30]

मुक्तिबोध अन्धेरे में कविता में गांधीजी को पंगु के रूप में चित्रित करते हैं ।[31] गांधीजी अपने आसपास को परिवर्तित करने केलिए क्रांति की अमोघ शक्ति को सामाजिक धरातल तक पहूँचाने में समर्थ न हुए । वे अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते रहे । कविता में गांधीजी स्वयं अपने को "गुज़र गये ज़माने के चेहरे" कहते हैं ।[32] वे अपने पास चुपचाप साये हुए क्रांति रूपी शिशु को कवि के हाथों में सौंप देते हैं और उसको सुरक्षित रखने को कहते हैं ।[33] कवि बच्चे को लेकर अन्धेरे में आगे बढ रहा है । इतने में बच्चा जागृत होकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगता है । कवि के बार-बार समझा-बुझाने पर भी वही नहीं मानता । उनके मन में भय है कि वह आवाज़ कोई न सुने । फिर भी उसके मन में यह संतृप्ति है कि जो काम उससे अब तक न हो पाया वह आज चल रहा है । इसप्रकार सोच में चलनेवाले कवि के कन्धे पर से शिशु अप्रत्यक्ष हो जाता है और उसके स्थान पर सूरज मुखी फूल के गुच्छे आ जाते हैं और उनसे कवि के चारों ओर प्रकाश फैल जाता है । कवि आगे बढता है, एकदम उसका कन्धा भारी हो जाता है कि उसके कन्धे पर फूल के गुच्छे के स्थान पर वज़नदार रायफल आ गयी है -

मैं बढ रहा हूँ
कन्धों पर फूलों के लंबे वे गुच्छे
क्या हुए, कहाँ गये?
कन्धे क्यों वज़न से दुख रहे सहसा ।
ओ हो,
बन्दूक आ गयी
वाह वा !!
वज़नदार रॉयफल ।[34]

इस प्रकार शिशु का सूरज मुखी-फूल के गुच्छों के रूप में, फिर वज़नदार रायफल के रूप में बदल जाने के संकेत में कवि सशस्त्र क्रांति का ही समर्थन देते हैं ।

कवि जनता को क्रांति पर पूर्ण आस्था रखते हैं । जीवन की गहरी पहचान और उनकी वर्गीय चेतना उन्हें जनता की क्रांति में आस्था रखने की प्रेरक शक्तियाँ हैं । इसलिए अन्य लेखक, जिन्हें जीवन की उथली पहचान होती है, जन-क्रांति के प्रति उपेक्षा रखने पर भी मात्र किंवदन्ती कहने पर भी कवि अपनी आस्था को नहीं छोड देते हैं । वे कहते हैं -

एक-एक वस्तु एक-एक प्राणाग्नि-बम है,
ये परमास्त्र हैं, प्रक्षेपास्त्र हैं, यम हैं ।
शून्याकाश में से होते हुए वे
अरे, अरि पर ही टूट पड़े अनिवार ।
यह कथा नहीं है, यह सब सच है, हाँ भई !!
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी !![35]

इस प्रकार कवि देखते हैं कि भारत की अन्धेरी गलियों में क्रांतिकारी शक्तियों और शोषक शक्तियों के बीच भयानक संघर्ष हो रहा है । "सूरज के वंशधर" कविता में कवि एक ओर पूंजीवादी शोषण को और दूसरी ओर उसके विरोध में जनता के द्वारा होनेवाले संघर्ष को चित्रित करते हैं । यहाँ भयानक सर्दी की रातें शोषण और यातनाओं का सूचक हैं तो लाल-लाल धधकते अंगार क्रांति का सूचक है ।

भारतीय अन्धेरी गहरी-गहरी गलियों में आजकल
भयानक सर्दी की काली-काली रातें हैं व
उनके किनारों पर
ज्वालाएँ लाल-लाल कि धधकते जल रहे
विद्रोह के अंगार ![36]

पूंजीवादी शोषण पर आधारित ह्रासग्रस्त शक्तियाँ जनता को क्रांति की अमोघ शक्ति से परिचित हैं । इसलिए वे अत्यन्त विचलित और चिंतित हैं । अतः जनता के दमन के लिए ये शक्तियाँ कुछ भी करने को तैयार हो जाती हैं । मरणोन्मुख होने पर भी ये अपने को मृत्युंजय मानती हैं । एक ओर जनता इन शक्तियों की अमानवीयता के विरोध में खड़ी होती है तो दूसरी ओर ये दमन की फासिस्ती भट्टियों में डालती हैं -

"दूसरी ओर भीतिग्रस्त होकर भी
अपने को मृत्युंजय
समझने का घबराया-सा स्वाँग रच
(अपनी ही गली में हो कुत्ते से शेर ये)

पूंजीवादी शक्तियाँ भयंकर,
जन जन को
दमन की फासिस्ती भट्टी में झोंककर
बनाया चाहती हैं वे
उनकी अस्थियों से श्वेत
आराम का फर्नीचर ।[37]

इसप्रकार दमन-नीति के सहारे अपनी कुर्सी की रक्षा करनेवाली ये शक्तियाँ शासन की सहायता से जनता की क्रांतिकारी आंखों को निकाल देती हैं । रामू "जिन्दगी का रास्ता" का नायक है । वह देखता है -

रामू जानता है कि पूंजीवादी शक्तियाँ
जन-जन की छाती पर बैठकर
शासन के चाकू से
विद्रोहिणी बुद्धि की त्रिकालदर्शी आंखों को काटकर
निकाल लेना चाहती हैं ।[38]

"अन्धेरे में" का काव्यनायक दमनकारी सत्ता के हाथों से पीडित हो जाता है । गांधी के दिये हुए क्रांतिकारी बच्चा पहले सूरज-मुखी फूल के गुच्छे, फिर वजनदार रॉयफल बन जाता है । और आगे बढनेवाला काव्य-नायक एक असंगत व्यक्तित्ववाले कवि को मरते हुए देखता है । काव्य-नायक जानता है कि अकेले में क्रांति संभव नहीं होती । इसलिए वह समानधर्मी सहचरों की खोज में निकलता है । इतने में दमनकारी सत्ता काव्य-नायक को गिरफ्तार कर लेती है और उसमें निहित क्रांतिकारी प्रेरणाओं को जानने के लिए स्क्रीनिंग करती है -

टूटे से स्टूल में बिठाया गया हूँ ।
शीश की हड्डी जा रही तोडी ।
लोहे की कील पर बडे हथौडे
पड रहे लगातार ।
शीश का मोटा अस्थि-कवच ही निकाल डाला ।

देखा जा रहा -
मस्तक-यन्त्र में कौन विचारों की कौन-सी ऊर्जा,

भीतर कहीं पर गड़े हुए गहरे
तलघर अन्दर
छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो ।
जहाँ कि चुपचाप ख़यालों के परचे
छपते रहते हैं, बाँटे जाते ।

स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता,
क्रॉस एक्ज़ामिन हिम थॉरोली !![39]

जब तक जनता जागृत नहीं हो जाती है तब तक अहंग्रस्त शोषण का प्रतीक लकड़ी का रावण शोषण के स्वर्णिम शिखरों पर अपने को सुरक्षित समझता है ।[40] लेकिन जनता जब पहचान लेती है कि उनकी शोचनीय स्थिति का संबन्ध कोई पुर्वजन्म कर्मफल या दैवीविधान की करतूत नहीं बल्कि शोषण के सिद्धहस्त स्वामियों की क्षुद्रता से है । इसी पहचान से प्रेरित जनता उनके अधिकारों के स्वर्णिम शिखरों पर वार करने को तैयार हो जाती है । इस जनक्रांति को दबाने के लिए शोषक वर्ग कठिन से कठिन मार्गों पर उतारु हो जाता है । वह आह्वान करता है -

आसमानी शमशीरो, बिजलियो
मेरी इन भुजाओं में बन जाओ
ब्रह्म-शक्ति !
पुच्छल ताराओं,
टूट पड़ो बरसो
कुहरे के रंग वाले वानरों के चेहरे
विकृत, असभ्य और भ्रष्ट हैं
प्रहार करो उन पर,
कर डालो संहार !![41]

कवि देखते हैं कि एक ओर पूंजीवादी-शक्तियाँ जनता को दमन की नीतियों से अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए प्रयत्नरत हैं । इस शोषण नीति में मध्यवर्ग के उदरंभरि क्रीतदासों का योगदान भी है । लेकिन पीड़ित जनता इस दमननीति के शिकंजों से मुक्त होने के लिए क्रांति के मार्ग को अपनाती है । इस भूमि के पुत्रों के हाथों से छूटी स्टनगन की आग की लकीर पृथ्वी पर घूम रही है -

आधुनिक सहस्रमुख रावण से द्रोह कर
विद्रोही भूमि के संगर-रत पुत्रों ने
धुएँ के उभरते हुए बादलों के ठीक बीच
भागती हुई काँधी-सी ज्वाला-सी
प्रलंबित धारा को
आँखों से देखा -
अपने ही हाथों से छूटी हुई
(स्टेनगन की ही) वह आग थी ।
शोषण-व्यवस्था को भंग करती हुई
आग की लकीर वह
पृथ्वी पर घूमती ।[42]

मुक्तिबोध को असीम विश्वास है इस बात में संगठित जनता अवश्य अपनी लक्ष्य की प्राप्ति कर सकती है । क्योंकि वह कोई मस्तिष्कहीन भीड़ नहीं होती है । उनके अनुसार - "कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह जानता है कि एक स्थान में एकत्र जनता भीड़ नहीं है, क्योंकि वह संगठित है । जहाँ संगठन है, वहाँ एक प्रेरणा और उद्देश्य भी है । जहाँ एक प्रेरणा और उद्देश्य है वहाँ एक स्फीत और सक्रिय चेतना है । देश-विदेश के पिछले इतिहास से हमें यह सूचित होता है कि संगठित जनता ने असाधारण कार्य किया है ।"[43] कवि इसकी सूचना निम्नलिखित पंक्तियों में देते हैं -

ले प्रतिभाओं का सार, स्फुलिंग समूह
सब के मनका
जो एक बना है अग्नि-व्यूह
अन्तस्तल में,

उस पर जो छायी हैं ठण्डी
प्रस्तर सतहें
सहसा काँपी, तड़कीं, टूटीं
औ' भीतर का वह ज्वलन्त कोष
ही निकल पड़ा ।[44]

कवि मानते हैं कि जनता के अन्दर में क्रांति की आग जल रही है । इसलिए कवि जनता को धधकाना चाहते हैं । उसके लिए जनता को उसकी सही हालत से अवगत कराना है । "चाँद का मुँह टेढा है" कविता में चित्रकार चित्र खींचने की इच्छा होने पर भी पोस्टर लिखकर चिपकाता है । वह जानता है कि चित्रों से अधिक कारगर हैं ये पोस्टरें । क्योंकि दिन को उजाले में वेदना के रक्त से लिखे गये लाल-लाल घनघोर धधकते पोस्टर जनता से उसकी करुण कहानी पुकारकर कहेंगी और इसके फलस्वरूप जनता व्यवस्था से टकराने को तैयार हो जाएगी -

फिलहाल तसवीरें
इस समय हम
नहीं बना पायेंगें
अलबत्ता पोस्टर हम लगा जायेंगे ।
हम धधकायेंगे ।
मानो या मानो मत
आज तो चन्द्र है सविता है,
पोस्टर ही कविता है !!
वेदना के रक्त से लिखे गये
लाल-लाल घनघोर
धधकते पोस्टर
गलियों के कानों में बोलते हैं
धड़कती छाती की प्यार-भरी गरमी में
भाफ-बने आँसू के ख़ूँखार अक्षर !![45]

अतः मुक्तिबोध की क्रांति की भावना स्वतस्फूर्त नहीं होती है । वह दमन नीति के विरोध में समानधर्मी चेता मित्रों को, सहचरों को ढूँढने और जनता को धधकाने में होती है । इसके संबन्ध में चंचल चौहान का कथन है - "मुक्तिबोध की कविता में कहीं भी क्रांति स्वतःस्फूर्त नहीं है । वह "साथियों", "सहचरों" के नेतृत्व में होती है, पार्टी संगठन के नेतृत्व में होती है ।"[46] इसलिए वे जनता के अनुभवों और पीडा को आत्मसात करने के साथ अपने जीवनानुभवों को जनता तक पहुँचाना चाहते हैं ताकि सब साथी मिलकर दण्डक वन से लंका के मार्ग की ओर अग्रसर हो सकते हैं -

अनुभव की दर्दभरी भीषण चट्टानों को
लक्ष्यों की पीडा की कुदाल में खनते और खनाते हैं
तब हम भी अपने अनुभव के
सारांशों को उन तक पहुँचाते हैं जिससे
जिस पहुँचाने के द्वारा हम, सब साथी मिल
दण्डक वन में से लंका का पथ खोज निकाल सकें
धीरे-धीरे ही सही, बढ़ें उत्थानों में
अंधियारे मैदानों के इन सुनसानों में ।[47]

लेकिन मुक्तिबोध की कविताओं का काव्य-नायक कहीं भी क्रांति का नेता होने का दावा नहीं करता है । वह अपने मध्यवर्गीय व्यक्तित्व से व्यक्तित्वांतरित होकर जनता की पंक्ति में मिल जाता है और जनता से प्रेरणा पाते हुए उसे प्रेरित भी करता है वह अपने साथियों को प्राणों के रुधिर की लकीरों से मानव का चित्र खींचने को प्रेरित करता हैं -

सत्य के गर्वीले
अन्याय न सह मित्र
संघर्ष करता हुआ जीवन का खींच चित्र
मिथ्या की हत्या कर, बुद्धि के, आत्मा के विष भरे तीरों से
खींच चित्र मानव का प्राणों के रुधिर की लकीरों से ।[48]

और कवि जानते हैं कि इस क्रांति के बीच जनता को बहुत कुछ सहना पड़ेगा । लेकिन कवि इस जनता की हार नहीं मानते हैं । उनकी आस्था है कि अपनी हार का बदला चुकाने के लिए एक क्रांति पुरुष आ जाएगा -

हमारी हार का बदला चुकाने आयगा
संकल्प-धर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर,
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रकट होकर विकट हो जाएगा ।[49]

इसप्रकार संसार की सारी कठिनाइयों को झेलते हुए मानव भविष्य के निर्माण में लगे हुए मानव के प्रति प्रेम रखनेवाले और क्रांति के तत्वों की समझ रखनेवाले कवि के मन में केवल सतही सहानुभूति मात्र नहीं है । वह एक जनवादी साहित्यकार की हैसियत से समाज के संघर्ष में लगे हुए निम्नमध्यवर्ग के लोगों के साथ अपनी पटरी बांध लेते हैं और जनक्रांति की दिशा की यथार्थ समस्याओं और उनके समाधान की ओर उन्मुख करने की प्रेरणा देते हैं । मुक्तिबोध की कविताओं के संबन्ध में प्रभाकर श्रोत्रिय का कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है - "मुक्तिबोध की कविता में ऐसी विरल करुणा, तीव्र विद्रोह, अपरिमित आस्था और परिपक्व पुष्टता है, सौन्दर्य संघर्ष की ऐसी अद्वितीय दीप्ति है जो निम्न और निम्न-मध्यवर्ग के दुखियारे मनुष्य को न केवल राहत देती है और विद्रोह के लिए उकसाती है, बल्कि एक तर्कसंगत विवेक-दृष्टि भी देती है । वह मनुष्य को नारों के लिए नहीं, संघर्ष के लिए तैयार करनेवाली और तपानेवाली कविता है ।"[50] इसके लिए कवि अभिव्यक्ति के सारे खतरों को उठाना चाहते हैं -

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे ।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब ।

इसलिए कवि प्रत्येक गतिविधि और घटनाओं को देखते-परखते हैं । वे सारे संसार में अपनी खोयी हुई परम अभिव्यक्ति की खोज में भटकते हैं -

इसलिए मैं हर गली में
और हर सडक पर
झाँक-झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,
प्रत्येक गतिविधि
प्रत्येक चरित्र,
व हर एक आत्मा का इतिहास,
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक-प्रक्रिया, क्रियागत परिणति !!
खोजता हूँ पठार   पहाड   समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-संभवा ।[51]

क्योंकि कवि देखते हैं कि जनता की क्रांति रूपी जहाज़ मुक्ति की तलाश में आ रहा है । वह आज ही आ रहा है । इसलिए वह अपनी परम अभिव्यक्ति को नहीं टाल सकते हैं जो इस मुक्ति-संघर्ष में अधिक क्रांतिकारी प्रभाव डाल सकती है । देखिए -

वह जहाज़
क्षोभ विद्रोह भरे संगठित विरोध का
साहसी समाज है !!
भीतर व बाहर के पूरे दलिद्दर से
मुक्ति की तलाश में
आगामी कल नहीं, आगत वह आज है !![52]

मानव मानव के बीच समता की स्थापना

मुक्तिबोध के लिए कविता का संबन्ध मानव-जीवन से है। इसके अनुसार कविता मस्तिष्क का क्रियाकलाप मात्र न होकर जीवन की जटिल समस्याओं की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति भी होती है। कविता और जीवन के यथार्थ को एक दूसरे के निकट लाने की आवश्यकता होती है। इसके लिए आवश्यक जीवन-दृष्टि मुक्तिबोध को मार्क्सवाद से मिली। मुक्तिबोध की जन-चेतना इस वैज्ञानिक, मूर्त और तेजस्वी दृष्टिकोण से अधिक प्रौढ हो गयी। इससे प्रेरित होकर कवि वर्ग-संघर्ष के चित्रण के साथ-साथ वर्गविहीन समाज की स्थापना की कल्पना करते हैं। इस शोषण विहीन समता पर आधारित समाज की आस्था ही उनकी कविता को गतिशील बना देती है। इसी एक लक्ष्य पर मुक्तिबोध के काव्य के सारे तत्व केन्द्रित होते हैं। यही स्वप्न कवि को दुनिया के सारे शोषण और अत्याचारों के प्रति विरोध और आक्रोश व्यक्त करने को बाध्य बना देता है। मुक्तिबोध इसका समर्थन यों देते हैं - "क्या यह आधुनिक भावबोध नहीं है कि मैं अपनी लेखनी द्वारा किसी विशेष लोकादर्श के लिए कविताएँ लिखूँ।"[53]

वर्ग-वैषम्य का यथार्थ कारण आर्थिक असमानता है। यह असमानता शोषण पर आधारित पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था का परिणाम है। पूंजीवादी व्यवस्था में समता का भाव नहीं हो सकता है। लेकिन पूंजीवाद के वक्ता दावा करते हैं कि इसमें सब को समान अधिकार है। लेकिन इसका स्वातंत्र्य दूसरों के स्वातंत्र्य को खरीदने और अपने अधिकार को बढाने का स्वातंत्र्य है। काड्वेल ने इसे यों सूचित किया है - "अब बुर्जुआ संस्कृति उस वर्ग की संस्कृति है जिसके लिए स्वतंत्रता-मनुष्य की मौलिक शक्तियों की पहचान-अद्वितीयता द्वारा प्राप्त की जाती है।"[54] मुक्तिबोध के अनुसार स्वातंत्र्य मानव के पूर्ण विकास करते हुए समाज के साथ अपने दायित्व को पूर्ण करने में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सुविधाएँ प्राप्त करने में कोई असुविधा न होना है। उनके ही शब्दों में - "मेरे लेखे, व्यक्तिस्वातंत्र्य का अर्थ है, प्रत्येक को मानवोचित जीवन का, आत्म विकास, सामाजिक रूप से, समाजरचनात्मक रूप से, स्थायी और शाश्वत प्रबन्ध, जिससे कि उसे अपने बाल-बच्चों के जीवन-यापन की चिन्ता न रहे, तथा वह

अपने को, अपने समय को, किसी व्यक्ति विशेष को और धनिक विशेष को या सरकार को बेचे नहीं, वरन् अपने को तन-मन-धन से समाजसेवा के कार्य में लगा दे, और समाज उसकी पूरी-जीवन व्यवस्था के आर्थिक पहलू के सवाल को अपने हाथ में लेकर उनका हल करे, समुचित प्रबन्ध करे , और , व्यक्ति को अपने जीवन-यापन के खर्च के सवाल की चिन्ता में तरह-तरह के समझौता न करना पड़ें ।"[55]

लेकिन मुक्तिबोध जानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में सच्चा व्यक्ति स्वातंत्र्य संभव नहीं है । इस व्यवस्था में स्वातंत्र्य के अधिकारी वे लोग हैं जिनके पास बड़ी-मात्रा में धन होता है । और ये धनी लोग अपने प्रभुत्व के बल पर गरीबों के स्वातंत्र्य को भी खरीदकर उनको शोषणनीति से जर्जरित करते हैं । पूंजीवाद के तथाकथित व्यक्तिस्वातंत्र्य के संबन्ध में मुक्तिबोध का कथन है - "वहाँ (पूंजीवाद में) इन लोगों के लिए वास्तविक व्यक्ति स्वतंत्र्य-रक्षा का युद्ध अपनी अन्तरात्मा की रक्षा का युद्ध अपने भौतिक-जैविक अस्तित्व-अपने पारिवारिक अस्तित्व की रक्षा के युद्ध में परिणत हो जाता है । मेरे लेखे - व्यक्तिस्वातंत्र्य जैसा कि हमारे पूंजीवादी समाज में देखा जाता है - एक अच्छा-खासा मुहावरा है ।"[56] इसी शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था से पीडित होकर कवि एकदम पूछते हैं -

कि क्या उत्पीड़कों के वर्ग से होगी न मेरी मुक्ति ।[57]

इस पंक्ति में जिस पीडा की अभिव्यक्ति मिलती है वह मुक्तिबोध की अकेली पीडा या उनकी अकेली मुक्ति नहीं है, सामाजिक मुक्ति है ।

मुक्तिबोध मानव-मानव के बीच कोई भेद-भाव नहीं मानते हैं । उनके बीच का भेद-भाव मानव का ही बना हुआ है । मानव के इतिहास के गहरे अध्ययन से मुक्तिबोध इस तथ्य से ठीक परिचित हैं । "चाँद का मुँह टेढा है" कविता की पंक्तियाँ हैं -

जैसे तुम भी आदमी
वैसे मैं भी आदमी ,

बूढ़ी माँ के झुर्रीदार
चेहरे पर छाये हुए
आंखों में डूबे हुए
ज़िन्दगी के तजुर्बात
बोलते हैं एक साथ
जैसे तुम भी आदमी
वैसे मैं भी आदमी
चिल्लाते हैं पोस्टर ।[58]

लेकिन पूंजीवादी आर्थिक शोषण की नीति के कारण मानव-मानव के बीच प्रतिदिन खाइ बढ़ती जा रही हैं । इस नीति के अधीन में आम जनता को अमानवीय परिस्थितियों गुज़रना पड़ता है । लेकिन एक दिन शोषण पर आधारित पूंजीवाद की वास्तविकता इ शोषित जनता के सम्मुख पूर्ण रूप से अनावृत हो जाएगी –

उस ब्रह्मदेव का दर्शन सभी करे सकेंगे,
जिसकी छत्र छाया में रह
अधिकाधिक दीप्तिमान होते
धन के श्रीमुख,
पर, निर्धन एक-एक सीढ़ी नीचे गिरते जाते
उस ब्रह्मदेव का विवेक दर्शन
होगा उद्घाटित पूरा ।[59]

इसप्रकार समाज में प्रचलित शोषण से अवगत होने से शोषित जनता उसके विरोध में आ उठायेगी । इससे शोषक-शोषितों के बीच का संघर्ष उसकी चरम सीमा पहूँचेगा । शो जनता के द्वारा चलानेवाली क्रांति इस शोषणकारी पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट कर कवि सूचित करते हैं –

जो दिव्य चिरन्तन अनन्त अब तक कहलाता
वह युगानुयुग से तना हुआ

कोमल उदार आकाश
मनोहर व्यापक स्वप्न
अरे, कागज़-छत-सा
वह अकस्मात् भभका
जल उठा किसी दुर्घटना से
वह दुर्घटना क्या है, क्या है ।[60]

मुक्तिबोध के काव्य का उद्देश्य समता पर आधारित मानव-समाज की स्थापना है । वे जानते हैं जनता की क्रांति के बाद स्थापित होने वाली साम्यवादी व्यवस्था में ही यह कार्य संभव हो सकता है । ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना से अब तक के मानव की सारी मुश्किलें दूर हो जाएँगी । ऐसी साम्यवाद की प्रतीक्षा करते हैं कवि -

सुबह होगी कब और
मुश्किल होगी दूर कब।
समय का कण-कण
गगन की कालिमा से
बूँद बूँद चू रहा
तड़ित-उजाला बन !![61]

लेकिन मुक्तिबोध में समाजवादी समाज की जो आस्था परिलक्षित होती है वह वायवीय कल्पना नहीं है । वह गतिशील वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित है । उनकी आस्था केवल वैचारिक न होकर सक्रिय होती है । वह श्रमिक वर्ग की सृजनात्मकता से, उनकी विशेषताओं से सबक लेकर, उनकी संघर्षशील चेतना से प्रेरणा लेकर पुस्तकों में पढे हुए साम्यवाद को जीता-जागता रूप देते हैं । उनके लिए समाजवाद जनता का मुक्ति मार्ग है । वे लिखते हैं - "घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य को मानवोचित जीवन प्राप्त हो । आर्थिक तुल के आधार पर, घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य के मूल्य को न आँका जाये । मनुष्य अपनी और परिवार की अस्तित्वरक्षा के आर्थिक-भौतिक संघर्ष और तत्संबन्धी चिन्ताओं से छूटकर, निर्माण और सृजन के कार्य में लगकर समाज की

उन्नति और प्रगति में योग दे, तथा उसको अपने निजत्व के विकास के अवसर प्राप्त हो - सब को समान रूप से । आर्थिक उत्पीडन और शोषणमूलक यह जो भयानक पूंजीवादी समाजव्यवस्था है, वह हमेशा के लिए समाप्त हो । और उत्पादन तथा श्रम के समस्त माध्यमों तथा साधनों पर पूरे समाज का अधिकार हो । व्यक्ति स्वातंत्र्य को रहन न रखा जाय, न कोई किसी को रहन रखने दे, किन्तु, जो व्यक्तिस्वातंत्र्य समाजवाद और जनतंत्र के समन्वय में बाधक हो, या इन दोनों में से किसी एक का भी उत्सर्ग करने के लिए उत्सुक हो, उस व्यक्ति स्वातंत्र्य को, पूरा समाज सार्वजनिक रूप से निन्दित और तिरस्कृत करे । समाजवाद जनता के - जन-साधारण के मुक्ति का राजपथ है ।"[62]

मुक्तिबोध के अनुसार इसी प्रकार वर्ग-संघर्ष के बाद स्थापित समाजवादी व्यवस्था में ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है । इसप्रकार निर्मित व्यक्तित्व का संबन्ध पूर्णरूप से सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से न होकर उसकी आत्मा और विवेक से है । "साझ रंगी ऊँची लहरों में" कविता में समाजवादी समाज में व्यक्ति की अवस्था को चित्रित करते हैं -

> स्वार्थान्ध सभ्यता के गहरे काजली चिह्न
> मिट गये, हुआ वह दीप्त रूप कोमल प्रसन्न !!
> खिल उठे सुविकसित मानव के
> मधु संवेदित व्यक्तित्व - कोष
> चाँदनी भरे नभ में युगान्त
> का उठा घोर
> उल्लास घोष ।[63]

इस साम्यवादी समाज में मानव को किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं होगा । इसमें जाति, धर्म, रंग और संपत्ति के कारण कोई भेद-भाव नहीं रह जाएगा । जनता सारी भिन्नताएँ भूलकर कन्धे से कन्धा लगाकर प्रेम और समर्पण में जीएगी । मानव-मानव के बीच में मानवीयता पर आधारित मधुर-संबन्ध स्थापित हो जाएगा । इससे प्रेरित कवि के मन में सब के साथ मिलते और इस मधुर-संबन्ध स्थापित होने की अदम्य अकुलाहट मिलता है -

रास्ते पर आते-जाते दीखते हैं
लठ-धारी बूढ़े-से पटेल बाबा
ऊँचे-से किसान दादा
वे दाढ़ी-धारी देहाती मुसलमान चाचा और
बोझा उठाए हुए
माँ, बहनें, बेटियाँ
सब को ही सलाम करने की इच्छा होती है,
सब को राम-राम करने को जी चाहता है जो
आँसुओं से तर होकर प्यार के
{सबका प्यारा पुत्र बन}
सभी ही का गीला-गीला मीठा-मीठा आशीर्वाद
पाने के लिए होती अकुलाहट ।[64]

प्रस्तुत विश्लेषण से पता चलता है कि मुक्तिबोध के काव्य में मानववाद, मार्क्सवाद के लोक कल्याणमय पक्ष से संबन्ध रखता है । उसमें जन-संघर्षों का विवेक संगत अध्ययन है और नये मूल्यों पर आधारित नये भविष्य के निर्माण की प्रेरणा भी है । सचमुच मुक्ति बोध अपनी कविताओं में शोषण के शिकार हुए मानव को वर्ग-हीन, शोषणमुक्त समाज में प्रतिष्ठित करने का परिश्रम करते रहे । इसके लिए उन्हें वैयक्तिक एवं समाजिक दोनों स्तरों पर संघर्ष करना पड़ा । लेकिन साम्यवादी समाज के प्रति उनकी आस्था कभी भी कम न हुई । एक समाज चेता, प्रतिबद्ध कवि के रूप में अपनी इस आस्था को कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचाने में उन्हें पूरी सफलता भी मिली ।

<u>मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता</u>

वर्ग विभक्त समाज में हर चीज़ की भाँति साहित्य का भी स्वरूप वर्गीय होता है और शोषक या शोषित वर्गों में से किसी एक के प्रति साहित्यकार को अपनी पक्षधरता और प्रतिबद्धता घोषित करनी पड़ती है । दरअसल तटस्थता की कोई स्थिति नहीं होती । अपने आप को तटस्थ माननेवाले लोग कहीं न कहीं से शोषकों के साथ देते हैं, और उनका समर्थन करते हैं और यथास्थिति को बनाये रखना चाहते हैं । कोई भी

कवि पक्षधर या प्रतिबद्ध होकर नहीं पैदा होता है । पर उसकी तत्कालीन विसंगत परिस्थितियाँ और उनमें पड़कर दम तोडनेवाले मानव की करुण पुकार ऐसी परिस्थितियों और शक्तियों के विरोध में और शोषितों के पक्ष में खडे होने के लिए मजबूर करती हैं । अतः कवि को अपनी स्पष्ट पक्षधरता घोषित करनी ही पडती है ।

अतः मुक्तिबोध के लिए पक्षधरता का प्रश्न "वाद" के पक्षधरता का प्रश्न मात्र न रहकर अन्तरात्मा की पक्षधरता का प्रश्न भी रहा । "नयी कविता के आत्म-संघर्ष तथा अन्यनिबन्ध" में वे इसके संबन्ध में लिखते हैं - "पक्षधरता का प्रश्न हमारी आत्मा का, हमारी अन्तरात्मा का प्रश्न है । मैं उस आत्मा का, उस अन्तरात्मा का पक्षधर हूँ । और, चूँकि मेरी अन्तरात्मा की हलचल और बेचैनी आप की अन्तरात्मा की हलचल और बेचैनी से मिलती-जुलती है, इसलिए जहाँ तक अन्तरात्मा का प्रश्न है, मैं आप का भी पक्षधर हूँ, और आप मेरे भी पक्षधर हैं । और, चूँकि हम-आप-जैसे अन्तरात्मावाले बहुत से लोग इस संसार में हैं, इसलिए हम सब उन सब के और वे सब हम सब के पक्षधर हैं, चाहे वे हिन्दी क्षेत्र के हों, या अन्य भाषा-क्षेत्र के, भारत भूमि के हों, या उसके बाहर के । संक्षेप में हम सब एक प्रवृत्ति हैं, एक धारा हैं - भावधारा, विचारधारा, जीवनधारा - और, हम सब उसी धारा के अंग हैं । और हम इस धारा के पक्षधर हैं और, हम, बिना इस पक्षधरता के, अपने आप को, अपूर्ण, मूल्यहीन और निरर्थक पाते

अतः मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता इस साधारण मनुष्य समाज के प्रति है इसलिए साधारण मनुष्य को शोषण के स्याह चक्रव्यूह में फंसनेवाली समकालीन बियावान परिस्थितियों के साक्षात्कार और उन्हें आभ्यंतरीकृत करने की इच्छा कवि के मन में है इन परिस्थितियों के यथार्थ से गुज़रना और उन्हें आभ्यंतरीकृत करना खतरे से खाली है । इसलिए उनके मन में गहरा संघर्ष चलता है । लेकिन मानव के प्रति आस्थावान होने के कारण वे साहस के साथ इनके साक्षात्कार करते हैं । जैसे डॉ. हुकुमचन्द राजपाल लिखते हैं - "मुक्तिबोध के कथ्य में सबसे बडी विलक्षणता "खतरा" है - वहाँ जान बूझकर वह इस खतरे की जिन्दगी का मार्ग अपनाता है, क्योंकि इसे इस प्रकार का जीवन सुरत लगता है ।"[66] इस प्रकार खतरों का सामना करते हुए तुच्छ समझे जानेवाले, साधारण मिट्टी के बने हुए फिर भी तडित्-बुद्धि से भरे हुए, साधारण मनुष्य के बीच से कवि अपने को जीवित समझते हैं -

तुम मेरी परंपरा हो प्रिय
तुम हो भविष्य-धारा दुर्जय
तुम में मैं सतत प्रभावित हूँ
तुम में रहकर ही जीवित हूँ
तुम मृत न मुझे समझो ।[67]

प्रतिबद्धता की प्रासंगिकता को नकारनेवाले कवि या साहित्यकार कलावादी हैं । मुक्तिबोध जानते हैं ये लेखक को स्वतन्त्र मानकर कविता को ऊँची श्रेणी के यहाँ बाँध रखना चाहते हैं । ऐसे करने से ये वर्तमान परिस्थितियों को परिवर्तित करने के स्थान पर उसे रोक देते हैं । इसप्रकार कविता को गुमराह कर देते हैं । ऐसे लोग कविता को संघर्ष के नाम पर संघर्षविरोधी तत्वों से जोड देते हैं । अतः इनके द्वारा प्रश्रय दी जानेवाली लेखकीय स्वतंत्रता कविता से कोई सामाजिक दायित्व की माँग नहीं करती है - "एक साहित्यिक की डायरी" में मुक्तिबोध ऐसे लोगों की प्रवृत्ति को प्रकाश में लाते हैं - "भारत के उच्चतर वर्गों के बहुत से कर्णधार ठेठ पश्चिमी, साम्राज्यवादी विचारधाराओं को अपनाकर उनका प्रचार करते हैं । उन विचारधाराओं और दृष्टि-बिन्दुओं का प्रचा साहित्य में भी होता है । छोटे या मंझोले मध्यवर्ग के महत्वाकांक्षी लेखक पद और प्रतिष्ठा के लोभ से उन्हीं के दरवाज़े जाते हैं। उन्हीं से सामंजस्य स्थापित करते हैं और जाने या अनजाने साहित्य में उन्हीं उच्चतर वर्गों की अद्यतन राजनैतिक सांस्कृतिक मनोवृ के, उन्हीं के प्रभावों और विचारों के, उन्हीं की दृष्टियों और भावों के संवाहक बन ज हैं । यह एक वास्तविक जीवन-तथ्य है ।"[68] ये लोग सत्य के नाम पर असत्य का प्रचा कर रहे हैं । वे वास्तव में समाज को बहावे में डालते हैं । कवि इनकी कविताओं की ओर भी प्रकाश डालते हैं -

सचाई के अधजले मुर्दों की चिताओं की
फटी हुई, फूटी हुई दहन में
कवियों ने बहकती हुई
कविताएँ गाना शुरु किया ।[69]

जब आज के अन्य कवि अपने को आधुनिक दिखाने के लिए जन-जीवन के विशाल क्षेत्र से अपने को अलग करते हैं, तब मुक्तिबोध अपनी कविताओं को सामाजिक जीवन में व्याप्त भीषण गरीबी, भूख, दमन और अन्याय से पीड़ित जन-समाज से प्रतिबद्ध बना देते हैं । "डायरी" के पन्ने में कवि इसे सूचित करते हैं - मैं तो सिर्फ मेहनत पर, अकारथ मेहनत पर, उस मेहनत पर जो अपना पेट भी नहीं भर सकती, उस मेहनत पर जो बहुत सज्जन है उस सृजनशील श्रम पर लिखनेवाला हूँ, उस श्रम का चित्रण करनेवाला हूँ जिसका बदला कभी नहीं मिलता और जिसे आए दिन आत्म-बलिदान और त्याग को न दी जाती है ।"[70] मुक्तिबोध को मैं आम जनता से अपनी इस पक्षधरता को स्पष्ट कर में कोई हिचक या डर नहीं है । उनकी विशेषता इसमें है कि वे किसी भी शक्ति के सा अपनी छाती तान कर इसकी घोषणा करने की साहसिकता दिखाते हैं ।

अब आप चाहे सरकार हों
या साहूकार हों
उनके साथ मेरी पटरी बैठती है
उनके साथ
हाँ, उन्हीं के साथ
मेरी यह बिजली भरी ठठरी लेटती है
और रात काटती है
शायद यह मेरी बहुत बड़ी भूल है
लेकिन मेरी यह गरीब दुनिया
उन्हीं के बदनसीब हाथों से चलती है ।[71]

मुक्तिबोध वर्ग-चेतना से युक्त कवि हैं । उनके अनुसार कवि को वर्ग-चेत का सही प्रयोग करना है । कवि जिस वर्ग का है उसे अपने वर्ग की प्रत्येक गतिविधियों और अन्तर्संबन्धों को समझलेना चाहिए । इससे कवि को अपने समाज या वर्ग की ह्रासोन् शक्तियों का पता लग जाता है । इससे उन शक्तियों के विरुद्ध मोर्चा खड़ा करने और प्रगतिशील तत्वों की स्थापना करने में मौका मिलता है । अतः वे मानते हैं कि कवि व ईमानदारी इस बात में निहित होती है कि वह समाज के अन्तर्विरोधों का ज्ञान प्राप्त कर वास्तविक सत्य की खोज में जितना निरत् रहता है । वह अपने वर्ग की चेतना से

जुडा हुआ है और उसका प्रयोग कैसे करता है । इसलिए मुक्तिबोध अपने वर्ग और उसकी पीडा से विमुख होकर उच्च श्रेणी की ओर जाने और उससे समझौता करने की प्रवृत्ति को खतरनाक और बोईमान मानते हैं । उनके अनुसार वर्गीय चेतना की उपेक्षा करना अनुभूत यथार्थ की अवहेलना है ।[72]

मुक्तिबोध मध्यवर्ग के सदस्य हैं मध्यवर्ग के अधिकांश लोगों के मन में निम्न मध्यवर्ग के लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव है । उनमें उच्चवर्गों की श्रेणी में पहुँचने की लालसा होती है । इसके लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं ये समझौतावादी, अवसरवादी लोग । मुक्तिबोध में अपने को निम्न मध्यवर्ग के साथ संबद्ध कराने का भरसक प्रयत्न दिखाई देता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि मुक्तिबोध में मध्यवर्गीय कमजोरियाँ नहीं हैं । वे स्वयं इसे स्वीकार कर लेते हैं -

यह भी तो सही है
कमजोरियों से लगाव है मुझको ।[73]

मुक्तिबोध कभी भी इस बात का निषेध नहीं करता है कि उनके अंदर में आदर्शों और सुविधाओं के बीच संघर्ष चलता है । आदर्शों के पालन में अधिक निष्ठा रखने के कारण काव्य-नायक देवों की कोटि में ऊपर तक उठ जाते प्रतीत होता है । वह इतना ऊपर उठता है कि अप हाथों से आसमान को छू पाते हैं । इतने में उनको अपनी सुविधाओं का ध्यान आता है

बस, तभी तलब लगती है बीडी पीने की ।
मैं पूर्वाकृति में आ जाता,
बस, चाय एक कप मुझे गरम कोई दे दे
ऐसे-वैसी उस गौरव को
जो छीन चले मेरी सुविधा ।[74]

"अन्धेरे में" कविता में भी ऐसे अन्तर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति मिलती है । काव्य-नायक रात क गहरी नींद में लीन है । तब "अंबतक न पायी गयी" उसकी "परम अभिव्यक्ति" उसके द्वार पर आकर सांकल बजाती है । काव्य-नायक उसकी प्रतीक्षा में है और वह उसे गले लगाना चाहता है । लेकिन वह ऐसा नहीं कर पाता और सोचता है -

अवसर-अनवसर
प्रकट जो होता ही रहता
मेरी सुविधाओं का न तनिक खयाल कर ।

लगता है - दरवाज़ा खोलकर
बाहों में कस लूँ,
हृदय में रख लूँ
घुल जाऊँ मिल जाऊँ लिपटकर उससे
परंतु, भयानक खड्डे के अंधेरे में आहत
और क्षत-विक्षत, मैं पडा हुआ हूँ,
शक्ति ही नहीं है कि उठ सकूँ ज़रा भी ।[75]

लेकिन मुक्तिबोध की विशेषता इसमें है कि वे अपनी इन कमज़ोरियों के प्रति अधिक सजग हैं । वे जानते हैं कि मध्यवर्गीय कमज़ोरियों के प्रति लगाव के कारण ही व्यक्ति तटस्थ हो जाता है । यह ज्ञान कवि को अपनी मध्यवर्गीय कमज़ोरियों से अपना पिंड छुडाने की प्रेरणा देता है । अपने को इन के गुलाम बनने से बचाने के लिए संघर्ष रत रहते हैं । इसलिए उनकी प्रतिभा के प्रत्येक चरण में उनके मन में एक प्रकार असंतोष का भाव मिलता है । कवि इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं - "यहाँ यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं है कि मेरी हर विकास स्थिति में मुझे घोर असंतोष रहा है ।"[76] इस असंतोष का भा उन्हें आत्मालोचन और आत्मसंशोधन के लिए बाध्य बना देता है । तब उन्हें मालुम ज है कि अपनी वर्गगत कमज़ोरियों के कारण निष्क्रिय होना पडता है और उस से समाज के प्रति अपने दायित्व का पालन न हो जाता है । कवि अनुमानित करते हैं कि उनकी निष्क्रियता के कारण ही समाज में अनुचित कार्य हो रहे हैं -

मानो मेरे कारण ही लग गया
मार्शल-लॉ वह
मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया,
मानो मेरे कारण ही दुर्घट
हुई यह घटना ।[77]

और मुक्तिबोध के प्रतिबद्ध कवि टटोल लेते हैं कि क्या इस दुर्घटना में अपना कोई अपराध

अचानक जाने किस चेतना में डूब
उर में समाये हुए अपने तलातल
टटोलता हूँ
क्या कहीं मेरा अपराध'[78]

इस अपराध की भावना समाज की निम्न-मध्य श्रेणी के लोगों के साथ भावनात्मक संबन्ध स्थापित करने की प्रेरणा देती है। इसके लिए कवि को जीवन की तथाकथित सफलताओं की प्राप्ति के लिए अमानवीय परिस्थितियों के साथ समझौता करना पड़ता है। लेकिन मुक्तिबोध सारे अभावों के जीवन जीने पर भी इन परिस्थितियों से समझौता करने को तैयार नहीं हो जाते हैं। इसलिए उनका वैयक्तिक जीवन पराजित होने पर भी एक कवि के रूप में उन्हें हारना न पड़ा। जीवन की परिस्थितियों से संघर्ष करते-करते यद्यपि वे अपने को हारे हुए मानते हैं लेकिन थके हुए नहीं मानते।

अपनी अक्षमता में लिपटी वह मुक्ति हो गयी स्वयं-शाप
पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं,
जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते थका नहीं।[79]

इसप्रकार कवि का जीवन विपन्नता और अभावों से गुज़रने पर भी अपने को जनता के बीच से अलग करने का भाव नहीं है। वे अपने को व्यक्तित्वांतरित करके जनता के बीच ही प्रतिष्ठित करना चाहते हैं -

कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर
जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वांतरित होकर
नए सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ सच।[80]

इसी विचार से युक्त होने के कारण उनकी कविताओं में कहीं भी निजबद्धता का भाव नहीं मिलता है । वे जानते हैं कि अद्वितीय और असाधारण बनने के लिए व्यक्ति असंग निजबद्धता के घेरे में बन्ध हो जाता है और वह धीरे धीरे समाज से कट जाता है । इससे उसकी तरक्की नहीं होती है और समाज की भलाई भी नहीं होती । "अन्धेरे में" कविता में ऐसे एक असंग व्यक्तित्व के कवि का चित्रण मिलता है जिसकी हत्या शोषणकारी सत्ता के हाथों से हो जाती है ।[81] मुक्ति बोध की राय में असंग निजबद्ध कवि या व्यक्ति उस वृक्ष के समान है जो धरती से रस न खींचकर सूर्य से प्रकाश न स्वीकार कर ठूँठ बन जाता है । यहाँ कवि का मतलब यह है कि रचनाकार अपने अहं को क्षुद्रता से हमेशा के लिए उपेक्षित रह जाता है । "इस चौडे ऊँचे टीले पर" कविता की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

किन्तु इन मूलों ने
पृथ्वी से रस न सही खींचा
रवि किरणों से पूरी न शक्ति खींची
अर्थात् ठूँठ बन गया
तब गिरे नीड
विध्वंस हुआ
क्या करूँ !![82]

इसका अर्थ यह नहीं है कि निजबद्धता का विरोध करनेवाला मुक्तिबोध मनुष्य को नाचीज़ बनाने का षडयन्त्र कर रहे हैं । वे कभी भी ऐसा रचनाकार नहीं है जो अपनी प्रतिभा की परिधि से व्यक्ति मानव को निकालने उतावले हो उठते हैं । वे व्यक्ति मानव की गरिमा को अवश्य मान्यता देते हैं लेकिन उसकी सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही ऐसे करते हैं । रचना प्रक्रिया को "आत्मचरित्रात्मक[83] माननेवाले मुक्तिबोध से मानव की अवहेलना नही हो सकती । लेकिन वे कविता की जडों को समाज की धरती से रस और शक्ति प्राप्त करने की अनिवार्यता को ज़ोर देते हैं कवि के द्वारा अभिव्यक्त भावभूमि सामाजिक हो । उसमें समाज के पीडित-शोषित जनता की आशा-आकांक्षाओं को, शोषण-नीति के कारण नष्ट होनेवाले उसके अस्तित्व को, उसकी मुक्ति के संघर्ष को प्रेरित करनेवाली क्रांतिकारी शक्तियों को चित्रित करने से वह व्यक्ति का अपना सत्य न रहकर मानव सत्य बन जाता है । वे इसके संबन्ध में कहते हैं - "सच तो यह है कि स्वयं के मनोभावों की कविता

प्रत्यक्षतः व्यक्ति की होने से जन विरोधी नहीं हो जाती, बशर्ते कि वे मनोभाव जनता के बीच में हो जाती, बशर्ते कि वे मनोभाव जनता के बीच में रहकर स्वाभाविक हुए हों । जन-मन की सर्वसाधारण मनःस्थिति व्यक्ति की मनोदशाओं द्वारा प्रकट हो तो फिर क्या कहना । वे मनोभाव तो गरीब वर्गों की साधारण मनःस्थिति के ही द्योतक हैं । अपनी बिकी हुई मेहनत, बे-सहारा जिन्दगी की आकांक्षाएँ, सामाजिक उलझनों से होनेवाले मानसिक तनाव, स्थिति-परिस्थिति की क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संवेदनाएँ आदि को अपने में सन्निहित करनेवाला विचार-संवेदना - मण्डल जब लोक - मुक्ति की नयी क्रांतिकारी विचारधारा से और भी सशक्त, और भी संवेदनमय हो जाता है तब जिस साहित्य का आविर्भाव होता है उसमें महान् "मनुष्य-तत्व" होता है"।[84]

इसप्रकार मुक्तिबोध अपनी कविताओं को "जन चरित्री" मानते हैं । वे अपने को कविता का कर्ता, पिता, धाता या अपनी दुहिता नहीं मानते हैं वह "विश्वशास्त्री" है । उनका प्रतिबद्ध कवि कहते है कि कविता जनता के कारणों से जगमगाती है । लेकिन कवि के व्यक्तिगत कारणों से वह नीरस हो जाती है -

नहीं होती, कहीं भी खतम कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है ।
व मैं उसका नहीं कर्ता,
पिता - धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती,
परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है ।
गहन-गंभीर छाया आगमिष्यत् की
लिए, वह जन-चरित्री है ।
नये अनुभव व संवेदन
नये अध्याय-प्रकरण जुड
तुम्हारे कारणों से जगमगाती है
व मेरे कारणों से सकुच जाती है ।[85]

मुक्तिबोध की कविताओं में समकालीन जन जीवन की स्थितियों को छोड़कर कुछ भी सार तत्व नहीं शेष रह जाता । उनमें वर्तमान मनुष्य-जीवन को उसकी समग्रता के साथ समाहित करने की दिल-दिमाग के साथ पूरा प्रयत्न मिलता है । इस प्रकार जीवन की द्वन्द्वात्मक गतिशीलता को और उसके संघर्ष के आघातों को स्वयं झेलकर अपनी सार्थकता को प्राप्त करते हैं । मुक्तिबोध अपने सारे जीवन में "सुनहले ऊर्ध्व आसन के दबाते पक्ष" का विरोध करते रहे । ऐसे संघर्षशील व्यक्ति कभी भी जीवन की वास्तविकता से अपने को तटस्थ नहीं रख सके, बल्कि वे समाज के उन गतिशील तत्वों से अपने को प्रतिबद्ध करते रहे जो अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत रहते हैं । इसप्रकार सर्वहारा वर्ग के साथ अपनी पक्षधरता घोषित करनेवाले कवि दूसरों से भी अपने पक्ष को प्रकट करने का प्रस्ताव रखते हैं -

बशर्ते तय करो,
किस ओर हो तुम, अब
सुनहले ऊर्ध्व - आसन के
दबाते पक्ष में, अथवा
कहीं उससे लुटी-टूटी
अन्धेरी निम्न कक्षा में तुम्हारा मन,
कहाँ हो तुम[86]

"भूलगलती" कविता में कवि अपनी ईमानदारी को प्रस्तुत करते हैं । वे जानते हैं व्यक्ति जब अपने जीवन के मूल्यों और अनुभवों के प्रति ईमानदार रहते हैं, तभी वह प्रतिबद्ध हो सकता है । इसलिए सामयिक शोषणपरक परिवेश की क्षुद्रताओं के बावजूद कवि जीवन और उसके मूल्यों के प्रति अपनी ईमानदारी नहीं खो देते हैं । इसलिए कवि को बेईमानी के दरबार में क्षत-विक्षत होकर खड़ा होना पड़ता है । जीवन और मूल्यों के प्रति ईमानदार होने के कारण वे उसे शोषणकारी सत्ता की आँखों से आँख मिलाकर बातें करने का साहस मिलता है । श्री विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी के अनुसार - "मुक्तिबोध का जीवन जिन संघर्षों में गुज़रा है और उनके पार्थिव शरीर का अन्त जिस प्रकार हुआ है, उस पर दुख और क्षोभ चाहे जितना हो, आश्चर्य की बात नहीं । जब तक संसार में अन्याय, पीड़न विषमता है तबतक हर ईमानदार आदमी को जो अपनी परवाह नहीं करता, उसी प्रकार तिल-तिल करके जूझना पड़ेगा ।"[87] कवि की ईमानदारी का स्पष्ट चित्र हमें निम्नलि पंक्तियों में मिलता है -

नामंजूर
उसको जिन्दगी की शर्म की - सी शर्त
नामंजूर,
हठ इनकार का सिर तान खुद-मुख्तार ।[88]

इसप्रकार मुक्तिबोध अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए जीवन की शर्म की-सी शर्तों को स्वीकार कर अपने आत्मज सत्यों की हत्या करने को तैयार नहीं थे । इसलिए उन का जीवन विपन्नता और अभावों से भरता गया । फिर भी कवि में जनता से अपने को अलगाने का भाव नहीं । रमेश शर्मा के अनुसार - "मुक्तिबोध सचमुच गरीब हिन्दुस्तान के एक गरीब ईमानदार कवि थे, क्योंकि उन्होंने सदा ही विपन्नता एवं अभावों के विरुद्ध संघर्ष किया । वे एक दृढ सत्याग्रही थे, इसलिए गरीब देश में उनके धनी होने का प्रश्न ही नहीं उठता है । समाज से प्राप्त इस उपेक्षा और अज्ञान के बावजूद भी मुक्तिबोध ने अपने दृढ अडिग जीवन से दलितों एवं उपेक्षितों को नवीन मार्ग दिया और उनका मार्ग प्रशस्त किया । मुक्तिबोध का जीवन एक दृढ ईमानदार पीढी का जीवन है, समाजगत उपेक्षाओं से जूझनेवाले का जीवन है ।"[89] कवि की अपनी सारी सहानुभूति उसी मानव के प्रति है जो अपने सारे अभावों के बावजूद देश के निर्माण में अपने प्राणों का समर्पण करने को तैयार हो जाते हैं -

जिनके कारण यह हिन्दुस्तान हमारा है
कल्याण-व्यथाओं में फूलकर
जिन लाखों हाथों - पैरों ने यह दुनिया
पार लगायी है,
जिन के कि पूत-पावन चरणों में
हुलसने मन -
से किये निछावर जा सकते
सौ-सौ जीवन,
उन जन-जन का दुर्दान्त रुधिर
मेरे भीतर, मेरे भीतर ।[90]

इसप्रकार कवि की समाज-संपृक्ति जन-संपृक्ति का पर्याय है। वे निरंतर पीड़ित एवं निर्वाक बना दी गयी जनता को ऊपर उठाना चाहते हैं। जीवन के क्रूर पदाघातों से ठठरी बन गये मानव की छायाओं को देखकर कवि का मन पिघल उठता है -

गिरस्तिन मौन माँ-बहनें
सड़क पर देखती हैं
भाव-मन्थर, काल-पीड़ित ठठरियों की श्यान गो-यात्रा
उदासी से रंगे गंभीर मुरझाये हुए प्यारे
गऊ-चेहरे
निरख कर,
पिघल उठता मन ![91]

इसलिए मुक्तिबोध में कहीं भी समाज के सभ्य कहलानेवाले तथाकथित उच्चवर्ग के साथ दोस्ती बनाने का आग्रह नहीं है। उनका सारा विश्वास भारत के उत्पीड़ित, उपेक्षित मानव पर ही है। लेकिन मुक्तिबोध की सहानुभूति भारत के निर्धन जनता तक सीमित नहीं रह जाती है। उनकी प्रतिबद्धता विश्व-दृष्टि पर आधारित है। वह सारे संसार में शोषण के अमानवीय शिकंजों से मुक्ति के लिए संघर्षरत सारी मानवता के प्रति है। कवि स्वयं कहते हैं - "क्या लेखक के लिए यह परम आवश्यक नहीं है कि विश्व-जनता के अभ्युत्थान को देखे और समाज का उत्पीड़न करनेवाली शक्तियों से सचेत हो और उसके प्रति विद्रोह करनेवाली ताकतों से सहानुभूति रखे।"[92] इसलिए जहाँ भी जनता शोषण का शिकार हो रही है कवि में उसके साथ देने की छटपटाहट हो रही है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि की छटपटाहट द्रष्टव्य है -

मैं देखता क्या हूँ कि -
पृथ्वी के प्रसारों पर
जहाँ भी स्नेह या संगर,
वहाँ पर एक मेरी छटपटाहट है,
वहाँ है ज़ोर गहरा एक मेरा भी,
सतत मेरी उपस्थिति, नित्य-सन्निधि है।[93]

मुक्तिबोध देख रहे हैं कि वर्तमान युग अंधेरे से गुज़र रहा है। उन्हें सर्वत्र अन्धेरे के दृश्य ही दिखाई देते हैं। लेकिन वे अपनी कविताओं के द्वारा युग को अंधेरे के गर्त से बाहर निकाल कर उजाले के रास्तों से आगे चलाने की प्रशंसनीय कार्य को संभलते दिखाई देता है। वे बुर्जुआ सौन्दर्यवादियों के इस विचार को निराधार बना देते हैं कि कवि को प्रतिबद्ध होना संगत नहीं है और अन्धेरे की दुनिया में से ऊपर उठने का कोई मार्ग नहीं है। मुक्तिबोध के प्रतिबद्ध कवि अन्धेरे में भी प्रकाश की खोज करते हैं और दूसरों को उसके लिए प्रेरित भी करते हैं। प्रभात त्रिपाठी के शब्दों में कहें तो - "अन्धेरे का यह तीखा एहसास और उजाले की अनथक खोज मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता है।"[94] इसलिए कवि पूंजीवाद के क्षयग्रस्त चन्द्र के फ्यूज़ बल्ब को निकालकर पावन प्रकाश का प्राणबल्ब लगाना चाहते हैं -

मैं स्याह-चन्द्र का फ्यूज़ बल्ब
जल्दी निकाल
पावन-प्रकाश का प्राण-बल्ब
वह लगा सकूँ
जो बल्ब तुम्हीं ने श्रमपूर्वक तैयार किया
विक्षुब्ध जिन्दगी की अपनी
वैज्ञानिक प्रयोगशाला में।[95]

घोर अमानवीयकरण इस युग की सबसे स्पष्ट पहचान है। पूंजीवाद के इस अमानवीय युग में आदमी जानवर बन जाता है। मुक्तिबोध की प्रतिबद्ध दृष्टि में इस अमानवीय समाज को सम्पूर्णता एवं मानवीयता के साथ देखने की क्षमता है। उनका अभीष्ट था इस भयानक दानव-दस्यु-सभ्यता के भारतीय रूप को शब्दबद्ध करना। इसलिए वे कला की परंपरागत मान्यता प्राप्त धारणाओं को तोड डालने की कोशिश करते रहे क्योंकि वे जानते थे कि यह कला केवल दार्शनिक दुखों की गिद्ध सभा मात्र है। उनकी प्रतिबद्धता की विशिष्टता इस में है कि पूंजीवादी शक्तियों के अमानवीयकरण, शोषण और उसके विरुद्ध होनेवाले संघर्ष को नया रूप और भाव दिये।[96] इस पूंजीवादी अमानवीयकरण के कारण भीतर के संदूक में हमारा असली चेहरा जानवर का है। इस आदिम चेहरे को हम सभ्यतावश छिपा रखते हैं। लेकिन कवि अपनी प्रतिबद्धता की आंखों से मानव के अन्दर छिपे हुए उस जानवर और उसके बाघ नखों को देख लेते हैं। कवि आत्मालोचन के द्वारा इसे यों प्रस्तुत करते हैं -

स्वयं की ग्रीवा पर
फेरता हूँ हाथ कि
करता हूँ महसूस
एकाएक गरदन पर उगी हुई
सघन अयाल और
शब्दों पर उगे हुए बाल तथा
वाक्यों में ओरांग उटांग के
बढ़े हुए नाखून !![97]

मुक्तिबोध विग्रहभंजक कवि हैं। वे हमारे जड़ सांस्कृतिक संस्कारों को नष्ट करके एक नये सौन्दर्यशास्त्र की स्थापना के लिए प्रयत्नरत रहते हैं जिसमें जीवन और मनुष्य को अपने सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है। लेकिन ऐसी प्रक्रिया में संस्कारहीनता को कहीं भी बढ़ावा नहीं देते थे। समय की अनिवार्यता या मांग के प्रति वे कभी भी आंख भी न मूँदते। इसप्रकार एक नये सौन्दर्यशास्त्र के सृजन में उन्हें मार्क्सवाद से प्रोत्साहन मिला। मानव जीवन के यथार्थ का विश्लेषण और भविष्य का स्वप्न और इन दोनों के साथ व्यक्ति के अन्तर्जीवन का संबन्ध जानने की दृष्टि उन्हें मार्क्सवाद से मिली। वर्ग-विभक्त समाज में फैले अत्याचारों और अमानवीय कार्यों के साथ अपने आत्मा को भी बेचनेवाले समझौतापरस्त, आत्मसंमोहित, लालची मध्यवर्ग और उच्चवर्ग की वास्तविकता को दिखा देने के लिए कवि को अपनी निजबद्धता को छोड़कर बाहर जनता के पक्ष में आ जाना पड़ा। इससे उनकी प्रतिबद्धता एक अद्भुत, विकराल, आत्मीय स्वप्निल और दुस्वप्नयुक्त कल्पनाशीलता के बीच प्राणधारा के समान दिखाई देती है। मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता की इस विशेषता की ओर प्रकाश डालते हुए अशोक वाजपेयी लिखते हैं -"मुक्तिबोध असीमित मानवीय प्रतिबद्धता के कृतिकार हैं। तभी उनका दुस्वप्न जैसा काव्य-संसार बावजूद अपनी ऐन्द्रजालिकता के सच्चे, मानवीय और ठोस जान पड़ता है। उनकी मानवीय प्रतिमा कितनी भी विकृत क्यों न हो उसमें हमेशा मार्मिक तात्कालिकता होती है।"[98]

अध्याय - पाँच

1. मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ: 28.
2. वही - पृ: 19.
3. Marx-Engles Manifesto of the Communist Party p.4-.
4. "The History of all hitherto existing society is the history of class struggles" - Ibid. p.40.
5. "All history has been a history of class struggles between exploited and exploiting, between dominated and dominating class at various stages of social development" - Ibid. p.13.
6. माओ-त्से-तुंग, चुनी हुई कृतियाँ - तीसरा भाग पृ: 97.
7. True as it is that the essential function of art for a class destined to change the world is not that of making magic but of enlightening and stimulating action, it is eliminated, for without that minute residue of its original nature, art ceases to be art" - The necessity of Art Ernst Fischer ; p.14.
8. मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पृ: 79.
9. वही तारसप्तक पृ: 53.
10. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ: 310.
11. डा. शशिबाला शर्मा, मुक्तिबोध की कविता में यथार्थ बोध, पृ: 83.
12. मुक्तिबोध, मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 260-261.
13. वही नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ: 20.
14. वही पृ: 59.
15. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 269-270.
16. वही मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ: 129.
17. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ: 210.
18. वही कामायनी एक पुनर्विचार, पृ: 70.
19. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 228.
20. डा. वीरेन्द्र सिंह, मुक्तिबोध काव्य बोध का नया परिप्रेक्ष्य, पृ: 21.
21. मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ: 307.
22. वही, पृ: 159.

23. नामवरसिंह , कविता के नये प्रतिमान पृ: 222.

24. "The emancipation of the working class was simultaneously the emancipation of the entire society from all exploitations." B.T.Ranadive ; On Maxi's Teachings, p.12.

25. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 264.

26. वही पृ: 311.

27. वही पृ: 311.

28. वही पृ: 247.

29. वही पृ: 299.

30. सुरेन्द्र प्रताप मुक्तिबोध विचारक कवि और कथाकार (भूमिका) पृ:

31. मुक्तिबोध चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 294.

32. वही पृ: 295.

33. वही पृ: 296.

34. वही पृ: 293.

35. वही पृ: 313.

36. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 265.

37. वही पृ: 241-242.

38. वही पृ: 241.

39. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 301-302.

40. वही पृ: 23.

41. वही पृ: 24-25.

42. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 237.

43. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 37-38.

44. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 6.

45. वही , पृ: 42-43.

46. चंचल चौहान , मुक्तिबोध , (सं) निर्मल शर्मा , पृ: 90.

47. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 336-337.

48. वही भूरी-भूरी खाक धूल , पृ: 216.

49. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 3.

50. प्रभाकर श्रोत्रिय , संवाद , पृ: 19.
51. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 317.
52. वही पृ: 200.
53. वही , नयी कविता का आत्मसंघर्ष , पृ: 79.
54. कॉडवेल , इल्यूज़न एण्ड रियालिटी पृ: 58.
55. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 180.
56. वही पृ: 130.
57. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 167.
58. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 43-44.
59. वही पृ: 142.
60. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 138.
61. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 44-45.
62. वही नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 114-115.
63. वही , मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 309-310.
64. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 81.
65. वही नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 109.
66. डा. हुकुमचन्द राजपाल मुक्तिबोध की काव्य-चेतना और मूल्य संकल्प पृ: 43.
67. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 127.
68. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 40.
69. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 37.
70. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 49.
71. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 250-251.
72. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 37.
73. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 271.
74. वही पृ: 123.
75. वही पृ: 270-271.
76. वही तारसप्तक , पृ: 43.
77. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 285-286.

78. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 238.
79. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 86.
80. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 164.
81. वही पृ: 299.
82. वही पृ: 236.
83. वही नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र , पृ: 93.
84. वही पृ: 74.
85. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 164-165.
86. वही पृ: 156.
87. श्री विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी , राष्ट्रवाणी जनवरी-फरवरी 1965 , पृ: 282.
88. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 2.
89. रमेश शर्मा , कवि मुक्तिबोध एक विश्लेषण , पृ: 5.
90. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 171.
91. वही पृ: 91-92.
92. वही , एक साहित्यिक की डायरी पृ: 84.
93. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 206.
94. प्रभात त्रिपाठी प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य , पृ: 169.
95. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 100.
96. प्रभात त्रिपाठी प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य , पृ: 172.
97. मुक्तिबोध , चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ: 17.
98. अशोक वाजपेयी फिलहाल , पृ: 117.

अध्याय - छः

मुक्तिबोध का शिल्प - सामाजिक चेतना का संवाहक

कुछ सतही समीक्षकों ने मुक्तिबोध पर शिल्प के प्रति उदासीन होने का आरोप लगाया है जो उनकी रचना-प्रक्रिया को न समझ पाने की नादानी का ही परिणाम है। डा. देवेश ठाकुर का यह निर्णय कितना हास्यास्पद है कि "जहाँ तक मुक्तिबोध की रचनाओं में शिल्प का प्रश्न है, मुक्तिबोध शिल्प के प्रति उदासीन रहे हैं।"[1] मुक्तिबोध की कविताओं का गहन और सत्यनिष्ठ अध्ययन करने से पता चलेगा कि मुक्तिबोध की कविताओं में शिल्प के प्रति एक समाज प्रतिबद्ध कवि की सारी सतर्कता मिलती है। मुक्तिबोध शुद्ध सौन्दर्यवादी और उग्र मार्क्सवादी सौन्दर्यवादी तत्वों से परिचित हैं इसलिए वे अपना एक अलग सौन्दर्य-दृष्टिकोण का निर्माण करने में कोई कठिनाई नहीं हुई उनके अनुसार कलात्मकता शैली के चमत्कार न होकर जीवन और समाज की सशक्त अभिव्यक्ति है। फिर भी उनकी रचनाओं में शिल्प के प्रति नितांत उपेक्षा का भाव नहीं है। उनकी कविताओं प्रतीकों और बिंबों के अलंकृत रूप की योजना हुई है। यह योजना पतनशील प्रवृत्तियों का समर्थन देनेवाले बुर्जुआ कलाकारों की तरह फूहड़, असंबद्ध तथा अर्थहीन नहीं है। वह एक सशक्त, ईमानदार, मौलिक प्रतिभा संपन्न, संघर्षशील और प्रतिबद्ध कवि के यथार्थबोध की अभिव्यक्ति ही है।

अतः मुक्तिबोध नयी कविता के काव्य-शिल्पी हैं जिन्होंने अपनी शिल्प-सृष्टि से एक नयी धारा का प्रणयन किया। उनका शिल्प कभी भी एकआयामी नहीं रहा। भाषा बिंब, प्रतीक और फैंटसी में उनकी शिल्प-कुशलता का परिचय मिलता है। अपने निजी शिल्प-विधान करनेवाले कवि के संबन्ध में उन्होंने जो कुछ बताया वह बिलकुल सत्य-सिद्ध होता है - "अपने स्वयं के शिल्प का विकास केवल वही कवि कर सकता है, जिसके पास अपने निज का कोई ऐसा मौलिक विशेष हो, जो यह चाहता हो कि उसकी अभिव्यक्ति उसी के मनस्तत्वों के आकार की, उन्हीं मनस्तत्वों के रंग की, उन्हीं के स्पर्श और गंध की ही हो।"[2] मुक्तिबोध ने

अपनी अनुभूति के अनुरूप शिल्प का निर्माण किया । इस दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि प्रचलित तत्वों से संपन्न होने पर भी उनका शिल्प-विधान बिलकुल मौलिक और अपने समकालीनों से अलग भी है । डा. जगदीश गुप्त ने संकेत किया है - "उनकी कवि-सुलभ ईमानदारी का तकाजा यह रहा है कि उन्होंने अपने अभिप्रेत मूल अथवा उद्दिष्ट काव्य-रूप को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न छोड नहीं दिया वरन् उसको प्रातिभ स्तर के बाद प्रयास के स्तर पर भी उपलब्ध करने का प्रयत्न बराबर जारी रक्खा ."[3]

यहाँ हम मुक्तिबोध की भाषा, शब्द, प्रतीक, बिंब और फैंटसी के विवेचनात्मक विश्लेषण करेंगे -

भाषा

प्रत्येक युग में जीवन की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं । इसलिए युग के अनुसार कविता में अभिव्यक्त होनेवाले चित्रण भी अपनी विशेषता रखते हैं । मुक्तिबोध इस बात से भली-भांति परिचित थे । इसलिए उनको अपने कथ्य को सार्थक और जनता तक पहुँचाने केलिए संघर्ष करना पडा । उनके अनुसार - "अभिव्यक्ति का संघर्ष दीर्घ होता है ।"[4] जिस रचनाकार के पास अपनी अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली और मौलिक बनाने की प्रवृत्ति मिलती है वही सफलता का अधिकारी बन जाता है । इसके संबन्ध में मुक्तिबोध ने लिखा है - "सक्षम सुन्दर अभिव्यक्ति तो अविरत साधना और श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न होती है ।"[5]

इसप्रकार आधुनिक परिस्थितियों और उनके भयानक यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए मुक्तिबोध ने नयी भाषा गढी जो आधुनिक हिन्दी कविता के लिए उपलब्धि बन गयी है । इसके द्वारा उन्होंने मार्गदर्शन दिया कि कैसे भाषा में युगीन परिस्थितिय को समाहित करने की शक्ति निहित होती है । इसके लिए उनको पुरानी परंपराओं व भाषा की फ्रेम को तोड़-फोड करना पडा । अतः मुक्तिबोध ने अपने कथ्य के अनुरूप भा का निर्माण किया । क्योंकि वे मानते थे - "कवि भाषा का निर्माण करता है । जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्संदेह महान होता है ।"[6] इस प्रकार अनुयोज्य भाषा के निर्माण के आग्रह के कारण उनको अपनी कविताओं को बार-बार लिखना पडा । वे कभी भी अपनी अभिव्यक्ति से संतुष्ट नहीं थे ।

इसप्रकार परंपरागत भाषा-पद्धति से विमुख होने के कारण उनकी भाषा को दुरूह, क्लिष्ट और अनगढ कहा गया है । इसके फलस्वरूप हिन्दी कविता क्षेत्र में एक "मुक्तिबोधपन" मिलता है । इसको सूचित करते हुए डा. राजनारायण मौर्य ने लिखा है:- "नयी चेतना एक नयी धारा की तरह अपने आप अपना मार्ग बना लेती है । वह कभी पाषाणों के नीचे दबकर, कभी पाषाणों की छाती पर चोट करती हुई, कभी ऊँचे कभी नीचे, कभी झाड-झंखाडों, खण्डहरों से और कभी शस्य-श्यामला पुष्पित समतल भूमि से बहती हुई चलती है । उसका अपना कोई मार्ग नहीं होता क्योंकि वह नयी है । मुक्तिबोध की नयी चेतना इसी प्रकार की है । वह कभी संस्कृतनिष्ट सामाजिक पदावली की अलंकृत वीथिका से गुज़रती है, कभी अरबी, फारसी तथा उर्दू के नाज़ुक लचीले हाथों को थामकर चलती है, कभी अंग्रेजी की इलेट्रिक ट्रेन पर बैठ कर जल्दी से खटाक-खटाक निकाल जाती है और कभी विशाल जनसमूह के शोरगुल और धक्के-मुक्के के बीच एक-एक पर तीव्र दृष्टि डालती हुई रुक-रुक कर चलती है । मुक्तिबोध ने अपनी इस नयी चेतना की अभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसमें स्पष्ट रूप से मुक्तिबोधपन है ।

मुक्तिबोध का काव्य उनके अपने संघर्षशील अनुभवों की अभिव्यक्ति ही है । इसके साथ प्रखर सामाजिक चेतना भी उसमें सम्मिलित हुई है । कथ्य में जो संघर्ष मिलता है वही संघर्ष भाषा में भी प्रकट हुआ है । उनकी भाषा में प्रयुक्त शब्द, प्रतीक, बिंब और फैंटसी उनकी प्रखर सामाजिक चेतना और संघर्ष को प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल हुए हैं ।

शब्द

भाषा की सारी शक्ति उसमें प्रयुक्त शब्द हैं । जीवित भाषा के लिए सन्दर्भयुक्त शब्दों का प्रयोग अत्यन्त महत्व रखता है । कवि की विजय अपने अन्तर्जगत् में समाहित भावों को सार्थक और सन्दर्भयुक्त शब्दों में स्थापित करने में है । विशेष रूप से एक समाज-चेता रचनाकार के लिए शब्दों की साधना की अपेक्षा होती है । उसे अपने समाज के अनाचारों और वैषम्यों के विरोध में कारगर अस्त्र के रूप में उपयुक्त शब्दों से ही प्रहार करना पडता है । महान कवि-चिन्तक ऑक्टोवियो पाज़ ने लिखा है - "कवि की पहली जिम्मेदारी भाषा के प्रति निष्ठा है । लेखक के पास शब्द के अलावा कोई दूसरा औजार नहीं होता । कारीगर, चित्रकार, संगीतज्ञ के औज़ारों से भिन्न, ये शब्द जटिल जहाँ तक कि अन्तर्विरोधी अर्थों से भरे होते हैं उनके इस्तेमाल करने का अर्थ होता है उन्हें स्पष्ट करना, उनका शुद्धीकरण करना, उन्हें ऐसे औज़ारों में बदलना ताकि वे हमारे सोच को धारण कर सकें ...।"[8]

मुक्तिबोध की शब्द-संपदा वर्तमान समाज के घात-प्रतिघातों से निर्मित है। इसलिए वर्तमान समाज की प्रत्येक धड़कन को उसकी पूरी जटिलता और यथार्थता के साथ समाहित करने की शक्ति उसमें निहित है। समाज और जीवन को छोड़कर शब्द अर्थहीन हो जाते हैं। भाषा के आभिजात्य की रक्षा के लिए शब्दों को संयम में रखने की प्रवृत्ति मुक्तिबोध में नहीं थी। इसलिए उनकी भाषा में भावों का विस्फोट मिलता है जैसे ज्वालामुखियाँ फूट रही हैं। इसके अतिरिक्त कवि ने अपनी वर्गीय चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिए अनुयोज्य शब्दों को चुन भी लिया था। इसप्रकार मुक्तिबोध ने जिस वर्ग के लिए संघर्ष किया उस वर्ग तक अपनी कविता को पहुँचा दिया। उन्होंने अनुयोज्य शब्द-योजना के द्वारा अपने सामाजिक संबन्धों को व्यक्त किया। उन्होंने लिखा है - "संवेदनानुसारी शब्द-चेतना का विकास कवि के लिए महत्वपूर्ण है। शब्द-चयन की भावानुसारिता को घटित करनेवाली आत्मचेतना अर्थात् स्वयं के भाव-अभाव से घनिष्ट परिचय के अभाव में व्यक्तिगत अभिव्यक्ति शैली का विकास नहीं हो सकता ."[9]

अतः मुक्तिबोध के लिए शब्दों का प्रयोग भाषा के द्वारा इन्द्रजाल की रचना नहीं था। उनकी कविता सौन्दर्यवादी न होकर अपने और अपने समकालीन समाज-जीवन के खुरदरे यथार्थ की अभिव्यक्ति थी। इसलिए उनकी कविताओं में शब्दों को कोमल बनाने की चेष्टा नहीं है। कथ्य के समान उनके शब्द भी कटु और अनगढ होते हैं। इस अनगढपन और कटुता के साथ उनके शब्दों में वैचारिकता का पुट भी मिलता है। क्योंकि कवि के मन में समकालीन यथार्थ के प्रति आलोचना और प्रत्यालोचना चलती है। यह वैचारिकता का भाव उनकी कविता की भंगिमा को कभी नष्ट नहीं कर देता है। वह अधिक प्रासंगिक और भावोत्पादक बन जाती है। मुक्तिबोध की शब्द-योजना की ओर संकेत करते हुए डा. राजनारायण मौर्य ने लिखा है - "वास्तव में वे शब्दों के शिल्पी हैं। वे ऐसे जौहरी हैं जो शब्दों की शक्ति के, शब्दों की आभा को और सबसे बढकर शब्दों की आत्मा को परखना जानते हैं। एक कुशल शिल्पी की तरह वे शब्दों के छांट-छांटकर प्रयोग करते हैं और जहाँ जरूरत हुई वहाँ तराश भी देते हैं। भले ही उसका आकार और शब्दों से भिन्न हो जाय। ऐसे कुशल शिल्पी की भाषा में आधुनिक युग की नयी चेतना पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुई है।"[10]

मुक्तिबोध की कविताओं में सर्वत्र दिखाई देनेवाला शब्द है "अन्धेरा"। इसके अतिरिक्त अन्धेरे से संबंधित अनेक शब्द उनकी कविताओं में भरे पडे हैं। यह "अन्धेरा"

भीतर और बाहर का अन्धेरा है - मन का और मन को बनानेवाली बाह्य परिस्थितियों का ।[11] उनकी कविताओं में अंधेरे वृक्ष, अंधेरा ख्याल, अंधेरे आइने, अंधेरे मीनार, अन्धेरी खोह, स्याह पहाड, स्याह जीवन, स्याह सडकें, साँवली चाँदनी, सांवली हवाएँ, साँवली सिवन्ती आदि अनेक शब्द मिलते हैं । इन शब्दों के द्वारा कवि वर्तमान जीवन और समाज में व्याप्त निराशा, मूल्यहीनता को सूचित करते हैं । अमानवीय शोषण का यह अन्धकार व्यक्ति और समाज दोनों को अन्तर और बाहर से ग्रसित है ।

इस अमानवीय शोषण के अन्धेरे से ग्रस्त वातावरण में मानव का जीवन अर्थहीन हो जाता है । उसका अस्तित्व नहीं के बराबर है । इस स्थिति का वर्णन मुक्तिबोध के शब्दों में कितने सटीक हो जाता है देखिए -

रामू सोचता है कि व्यर्थ गया सारा दिन, / मेहनती गरीब के असाध्य किसी रोगग्रस्त / क्षीणकाय किन्तु अति भोले प्यारे / बालक की उदास / किसी आन्तरिक प्रेरणा से चमकती हुई आँखों - सा कि म्लान मुस्कानों-सा / अरे ! यह मेरा दिन जीने की प्रेरणा लिए हुए ।/ भी पूरा न कर पाया अपना काम / अपना जीवन कर्तव्य [12]

मुक्तिबोध अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी भी शब्द का इस्तेमाल करते हैं । इसके उदाहरण हैं उनके द्वारा प्रयुक्त हठयोग से संबन्धित सहस्रदल, कुण्डलिनी, नागिनी, उन्मनी, ब्रह्माण्ड कुआँ, अनहदनाद आदि शब्द । इन शब्दों के प्रयोग के कारण रामविलास जैसे आलोचक मुक्तिबोध को रहस्यवादी कवि मानने के पक्ष में हैं । लेकिन कविताओं के कथ्य के विवेचनात्मक विश्लेषण करने से देख सकते हैं कि कवि अपनी प्रखर सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए ही इनका प्रयोग करते हैं -

मानव लक्ष्यों का सहस्रदल / नयी जिन्दगी का यह सूरज / बिखराता है अग्नि-रत्न-कण / संघर्षों की रक्तिम केशर / जन-जन की गलियों राहों में ।[13]

मुक्तिबोध की कविताएँ, उनमें अभिव्यक्त यथार्थ की प्रखरता के कारण, मनको नहीं सुलाती बल्कि आतंकित करती हैं । उनके काव्य में सर्वत्र आतंक का वातावरण ही दिखाई देता है । वर्तमान शोषण सभ्यता की दमन नीति के कारण सामाजिक जीवन में सर्वत्र आतंक, घबराहट, और अनिश्चय का भाव मिलता है । कवि देखते हैं कि समाज की विद्रूपकारी शक्तियाँ मानव के विरुद्ध षडयन्त्र करती रहती हैं । मुक्तिबोध के अपने

जीवन के अनुभव ऐसे थे । उनको विशेष रूप से साहित्यिक और राजनैतिक षडयन्त्रों का शिकार होना पड़ा । इस आतंक को सूचित करने के लिए वे एकाएक, अचानक अकस्मात् सहसा आदि शब्दों का प्रचुरमात्रा में प्रयोग करते हैं । एक उदाहरण -

> मद्धिम चाँदनी में एकाएक एकाएक / खपरैलों पर ठहर गयी / बिल्ली एक चुपचाप / रजनी के निजी गुप्तचरों की प्रतिनिधि / पूँछ उठाए वह, / जंगली तेज / आंखें / आंख / फैलाये / यमदूत पुत्री-सी/ (सभी देह स्याह, पर / पंजे सिर्फ श्वेत और / खून टपकाते हुए नाखून) /[14]

मुक्तिबोध समाज और मानव के प्रति प्रतिबद्ध कवि हैं । इसलिए अन्धेरे की शक्तियों से घबराकर वे पलायन नहीं करते । वे अपने चारों ओर फैले इस गहन अन्धेरे के बीच भी प्रकाश अर्थात् जीवन के महान तत्व के प्रति आस्था रखते हैं और उनकी खोज करते हैं । ये महान तत्व मानव और समाज के मूल्य ही हैं । इसलिए वे यह नहीं मानते हैं कि दुनिया की सारी मानवता नष्ट हो गयी है और आगे वह अन्धेरी शक्तियों से दबी रहेगी । वे मलबे के नीचे दबी हुई मानवता की खोज करते हैं । अतः मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया अन्धेरे में प्रकाश की खोज करने का महत्व पूर्ण दायित्व ही है । कवि इसके लिए अनुयोज्य शब्दों को चुन लेते हैं जैसे - किरणों के रक्तमणि, रत्न मण्डल, किरण, नवीन मणि समूह, द्युति, रेडियोएक्टिव । प्रकाश के प्रति कवि की आस्था निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है -

> भूमि की सतहों के बहुत नीचे-नीचे / अंधियारी एकान्त / प्राकृत गुहा एक / विस्तृत खोह के सांवले तल में / तिमिर को भेदकर चमकते हैं / मणि तेजस्क्रिय रेडियो एक्टिव रत्न भी बिखरे ।[15]

प्रतीक

प्रतीक भावाभिव्यक्ति को कम शब्दों में अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने में सहायक है । मुक्तिबोध अपने भावों को अनुयोज्य प्रतीकों में प्रस्तुत करते हैं । उन के लिए प्रतीक कविता को अलंकृत करने का नहीं, बल्कि मानव के यथार्थ और उसकी करुण स्थिति को पूर्ण रूप से समाहित करने का साधन है । उनके प्रतीकों में अयथार्थ का बोध कहीं भी नहीं है । डा. हरिचरण शर्मा ने इसे सूचित किया है - "मुक्तिबोध ने जिन्दगी के वैविध्यमय, सभ्यता की नकाब ओढ़े समाज, डरावने जीवन, जीवन व्यापी

शून्यता और संत्रस्त जिन्दगी को ऐसे कोण से देखा था जिससे उसका सारा नक्शा उनके मन में था। यही नक्शा विविध सन्दर्भों में विविध प्रतीकों और बिंबों में कविताओं में नज़र आता है।"[16]

मुक्तिबोध की कविताओं के प्रतीक समाज के प्रति उनकी प्रतिबद्धता के सूचक हैं। कवि वर्ग-संघर्ष में अपनी भूमिका कविता के द्वारा निभाना चाहते हैं। कवि देखते हैं कि इस युग-संधिकाल में सारे मूल्य उपेक्षित और अप्रासंगिक बन पडे हैं। वर्तमान घिनौनी परिस्थितियों के कारण ऐसा हुआ है। कवि अपनी कविता को "फणिधर नाग" बनने की आशा व्यक्त करते हैं। ऐसा विश्वास है कि साँप अपने सिर पर रत्नधारण कर अपने खोड में रहता है। इसलिए कवि अपनी कविता को फणिधर नाग बनने और धराशायी हुए सारे मानव मूल्यों की रक्षा करने की आशा व्यक्त करते हैं। इसप्रकार कवि काव्यात्मन् फणिधर के प्रतीक के द्वारा अपनी प्रतिबद्धता स्पष्ट करते हैं -

> लहराओ, लहराओ, नागात्मक कविताओ, / झाडियों में छिपो, /
> उन श्याम झुरमुटों-तले कई / मिल जायँ कहीं / वे फेंके गये रत्न, ऐसे /
> जो बहुत असुविधाकारक थे, / इसलिए कि उनके किरण-सूत्र से होता था /
> पट-परिवर्तन, यवनिका-पतन / मन में जग में ! / ओ काव्यात्मन् फणिधर,
> अपना फन फैलाओ ! / मणिगण को धारण करो, उन्हें / वाल्मीक-गुहा में
> ले जाओ, / एकत्र करो ।[17]

"भूलगलती" प्रतीक के द्वारा मुक्तिबोध वर्तमान मूल्यच्युत समाज का पर्दाफाश करते हैं। इस शोषण और गलत मान्यताओं पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में ईमान का कोई महत्व नहीं होता है। उसकी सर्वत्र अवहेलना होती है।[18] इसी प्रकार मुक्तिबोध की कविताओं में प्रयुक्त प्रमुख प्रतीक है "चाँद"। लेकिन उनके यहाँ इसका प्रयोग परंपरागत सौन्दर्यवादी कवियों के समान नहीं हुआ है। मुक्तिबोध की सौन्दर्यचेतना मार्क्सवाद पर आधारित है। इसलिए उनकी कविता के चाँद का मुँह टेढा है। कवि इस टेढे हुए चाँद को शोषणकारी पूंजीवादी सभ्यता के प्रतीक के रूप में चित्रित करते हैं। चाँद के समान पूंजीवादी सभ्यता भी बाहर से अधिक शानदार दिखाई देती है। लेकिन कवि जानते हैं कि यह सभ्यता विद्रूपताओं का संचित रूप है। इसलिए ही कवि को चाँद का मुँह टेढा-सा लगता है -

नगर के बीचोबीच
आधीरात-अँधेरे की काली स्याह
शिलाओं से बनी हुई दिवालों के घेरों पर,
अहातों के काँच-टुकड़े-जमे-हुए
ऊँचे-ऊँचे कन्धों पर, सिरों पर
चाँदनी की फैली हुई सँवलाई झालरें।
कारखाना -अहाते के उस पार
कलमुँह चिमनियों के मीनार
उद्गार चिह्नाकार।
मीनारों के बीचोबीच चाँद का है टेढ़ा मुँह।[19]

इस पूंजीवादी शोषण को कवि अपनी सारी कविताओं में शब्दबद्ध करने की कोशिश करते हैं। शोषण पर आधारित समाज-व्यवस्था और चंबल की घाटी में कवि कोई भिन्नता नहीं देखते हैं। आधुनिक समाज जीवन के कार्यकलापों को "चंबल की घाटी" प्रतीक के द्वारा कवि अनावृत्त करते हैं -

यों मेरी कविता बिना-घर
बिना-छत गिरस्तिन,
जिसमें कि मेरा भाव
ज्वलन्त जागता
जिसे लिए हुए मैं
देख रहा ज़माने की गयी परिपाटियाँ
चंबल की घाटियाँ !![20]

चंबल की घाटी जैसी व्यवस्था में बसनेवाले मानव अत्यन्त स्वार्थी है। इस आधुनिक युग में भी वह अपनी स्वार्थपरता की उपेक्षा नहीं कर पाता। वह अपने

अन्तर के आदि मानव को सभ्यता के आवरण में छिपाना चाहता है और प्रयास करता है। मन के भीतरी प्रकोष्ठ में, भारी सन्दूक में छिपाने पर भी वह दमित नहीं रहता। उसकी स्वार्थता और हिंसा की भावना एकदम जागरित होकर मानवता को कष्ठ में डालती है। आधुनिक मानव की इस पाशविकता को "ओरांग-उटांग" के प्रतीक के द्वारा अधिक संवेदनशील बनाते हैं। इसके संबन्ध में न. चि. जोगलेकर ने लिखा है - "आज का तथाकथित सभ्य मानव सभ्यता का जामा पहना हुआ पुराना जंगली असभ्य ओरांग-ओटांग ही कहा जाएगा। क्यों कि उसके जघन्य कार्य और मानवता को नष्ट करनेवाले हिंस अस्त्र उसके नाखून हैं। और झूठे अहं से दूसरों का शोषण करनेवाला कार्य ही उसकी पूंछ है। पूरी कविता इसी काव्याशय की अभिव्यक्ति करती है। "ओरांग-ओटांग" मानव की बर्बरता और असत्य शक्ति का प्रतिरूप है।"[21]

कवी की पंक्तियाँ देखिए -

करीने से सजे हुए संस्कृति-प्रभामय
अध्ययन-गृह में
बहस उठ खड़ी जब होती है -
विवाद में हिस्सा लेता हुआ मैं
सुनता हूँ ध्यान से
अपने ही शब्दों का नाद, प्रवाह और
पाता हूँ अकस्मात्
स्वयं के स्वर में
ओरांग-ओटांग की बौखलाती हुकृत ध्वनियाँ।[22]

मुक्तिबोध की कविताओं में सर्वत्र वर्ग-संघर्ष के चित्रण मिलते हैं। शोषक-शोषितों के बीच निरंतर चलनेवाले इस संघर्ष को प्रस्तुत कर मुक्तिबोध शोषितों का समर्थन करते है। जिस आमजनता के प्रयासों से मानवता सारी विरोधी शक्तियों से सामना करके आगे बढती है उस जनता को कमज़ोर समझकर शोषक शक्तियाँ उसकी दमन

करती रहती हैं । लेकिन यह आमजनता सारे जमाने में दमित नहीं रहेगी । अनुकूल परिस्थिति में वह जागृत हो जाएगी और शोषकों के अधिकारों के उत्तुंग शिखरों पर, दंतगोपुरों पर हमला करेगी । "लकडी का बना रावण" कविता में इस वर्ग संघर्ष उसकी सारी सजीवता में प्रस्तुत करते हैं कवि । "लकडी का बना रावण" पूँजीपती शोषकों का प्रतीक है तो "जनतंत्री वानर" शोषकों के विरोध में जागृत क्रांति से प्रेरित जनता का प्रतीक है । कवि की पंक्तियाँ देखिए -

बढ न जायँ / छा न जायँ / मेरी इस अद्वितीय / सत्ता के शिखरों पर स्वर्णाभ, /
हमला न कर बैठें खतरनाक / कुहरे के जनतंत्री / वानर ये, नर ये !![23]

मुक्तिबोध इस वर्ग संघर्ष को संगत निष्कर्षों तक पहुँचाना चाहते हैं । लेकिन वे जानते हैं कि केवल एक व्यक्ति या मात्र बुद्धिजीवियों से यह कार्य संपन्न हो जाएगा । "ब्रह्मराक्षस" के द्वारा कवि इसे व्यक्त करते हैं । "ब्रह्मराक्षस" उनका सबसे प्रिय प्रतीक है और इसे कवि के व्यक्तित्व का प्रतीक मानने में असंगति नहीं है । ब्रह्मराक्षस मध्यवर्गीय बुद्धिजी का प्रतीक है । वह समाज-व्यवस्था से असंतुष्ट है । उसके मन में भारत के शोषित-पीडित गरीबों के प्रति बडी सहानुभूति है । चंचल चौहान ने लिखा है - "ब्रह्मराक्षस कविता में, बावडी में ब्रह्मराक्षस के पास लाल फूलों का सहकता झौर है । उस में "लाल चिन्ता की रुधिर सरिता प्रवाहित कर दीवारों पर" रवि निकलता है । स्पष्ट है यह "लाल चिन्ता" इस देश के गरीबों के शोषित रुधिर की चिन्ता है जिसकी वेदना और जिसका रंग कवि के मनस्तत्वों का अंग बन गया है ।"[24] अतः मुक्तिबोध ब्रह्मराक्षस को समाज में परिवर्तन लाने में प्रयत्नरत, लेकिन विषम परिस्थितियों के कारण असमर्थ होकर आंतरिक और बाह्य संघर्षों के बीच पिसनेवाले समाज चेता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करते हैं । वह अपनी असमर्थता के कारण पापछाया से ग्रसित होकर अपने गणित में ही मर जाता है -

गहन अनुमानिता / तन की मलिनता / दूर करने केलिए प्रतिपल /
पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन-रात / स्वच्छ करने - /
ब्रह्मराक्षस / घिस रहा है देह हाथ के पंजे, बराबर, /
बाँह-छाती-मुँह छपाछप / खूब करते साफ, / फिर भी मैले /
फिर भी मैल ।[25]

मुक्तिबोध की प्रखर सामाजिक चेतना वर्ग-संघर्ष की परिणति जनक्रांति मानती है। समाज में प्रचलित वर्ग-संघर्ष को समाप्त करने केलिए जनक्रांति ही एकमात्र मार्ग है। इसलिए उनकी कविताओं में इसे सूचित करने के लिए तरह-तरह के रंगों को प्रतीक के रूप में अपनाते हैं। प्रतीकों के रूप में काले और लाल रंगों की प्रमुखता है। इनमें भी लाल रंग की प्रमुखता है और काला रंग लाल रंग से दबा-सा दीखता है। यह लाल रंग क्रांति और विद्रोह के प्रतीक के रूप में अभिव्यक्ति पाता है। चंचल चौहान ने लिखा है - "लाल लाल मुक्तिबोध के मनस्तबधों का रंग है जो उनके काव्य में व्याप्त है किन्तु वह "लाली तेरे लाल की जित देखो तित लाल" से भिन्न है। वह उनका निजी प्रतीक है, वह उनका समाजवादी समाज के स्वप्न का रंग है जो ऐसी तर्क संगत व्यवस्था का द्योतक है जिसमें मानव के द्वारा मानव का शोषण संभव नहीं। मुक्तिबोध की कविताएँ लाल रंग से रंगी प्रतीक-कथाएँ हैं। कविताओं के वाचक वर्गापसरित होकर क्रांति को लाने में रत दिखाई देते हैं। इसलिए मुक्तिबोध की संपूर्ण कविता रक्त-प्रतीक-कथा है।"[26]

उस घाटी के नव-क्षितिज-तीर / पर स्तब्ध धधकता हुआ गोल / अंगार-चन्द्र / गंभीर सत्य वह निर्निमेष कालान्तशील / कालिमा दिगंबर पट फैला आलोक लाल / रक्तिम संघर्षों के क्षेत्रों पर खिलता है / वह महाबिंब / युद्ध-रत लोक-जीवन का वह भीषण प्रतीक / आकुल कराल।[27]

मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना की आधारशिला है मानवता के प्रति उनकी प्रतिबद्धता। इसने जीवन की स्याह सड़कों पर प्रयत्नरत मानव पर असीम आस्था इजहार किया। वे प्रत्येक मानव पर विश्वास रखते हैं। इसलिए मानवता के भविष्य के संबन्ध में उनकी दृष्टि आस्थापूर्ण है। उसमें कहीं भी निराशा, हताशा और अनास्था का भाव नहीं है। "मनु" उनके मानववाद का प्रतीक है जिसके द्वारा कवि मानवता पर अपनी आस्था व्यक्त करते हैं -

इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ।[28]

अतः मुक्तिबोध मानवता की अन्तिम विजय को घोषित करते हैं। वे जानते हैं कि जनता की क्रांति में अन्तिम विजय जनता की होगी। इस क्रांति के बाद जिस समाज-व्यवस्था की स्थापना हो जाएगी वह शोषणरहित समता पर आधारित होगी। इस लक्ष्य-प्राप्ति को कवि "कमल" के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं -

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे / उठाने ही होंगे । / तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब । / पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार / तब कहीं देखने मिलेंगी हमको / नीली झील की लहरीली थाहें / जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता / अरुण कमल एक ।[29]

बिंब

कवि का कर्तव्य मात्र अर्थ-ग्रहण कराना नहीं होता है । उसे भाव और अनुभूति को उसकी पूरी तीव्रता के साथ पाठकों के मन तक पहुँचाना भी है । कवि लोग इसके लिए अनुयोज्य बिंबों से काम लेते हैं । इन मूर्त शब्द-चित्रों से कवि को काल्पनिक और वास्तविक वस्तुओं और घटनाओं की प्रभावात्मक अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है । मुक्तिबोध भी बिंबों को महत्ता को स्वीकार देते हैं - "कल्पनाचित्र स्वयं एक बोधात्मक या ज्ञानात्मक {जीवन ज्ञानात्मक} पक्ष रखते हैं और उनका दूसरा पक्ष निःसन्देह संवेदनात्मक होता है । इसप्रकार दोनों पक्षों के संयोग से कल्पनाचित्र में सौन्दर्य और सार्थकता उत्पन्न होती है । कल्पना और भावना दोनों का जो मिलाजुला रूप हमें कलाकृति में दिखाई देता है, उसके माध्यम से, हम उन वस्तु सत्यों का - जीवन स्थितियों का - अनुमान कर सकते हैं कि जिनके प्रति वास्तविक जीवन में की गई संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ कवि हृदय में संचित होकर भाव या भावना का रूप धारण कर चुकी है । इसीलिए, कल्पना चित्र या बिंबविधान स्वयं वस्तुसत्यों के ज्ञान की एक विशेष प्रणाली है, जो सृजनप्रक्रिया में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है ।"[30]

मुक्तिबोध के बिंबों में मौलिकता है । उर्वर कल्पना और अनुभव संपन्नता उनके बिंबों में सम्मिलित है । लेकिन वे बिंबवादी कवि नहीं है । उनकी बिंब-रचना जड़ सौन्दर्यवादियों से एकदम भिन्न दिखती है । डा. गंगाप्रसाद विमल के मत में - "जीवन-वृत्तों के ये स्फटिक {क्रिस्टालइज्ड} प्रतीक-बिंब रूढ़ि प्रतीक-बिंबों की तरह नहीं हैं । मुक्तिबोध ने इनका कलात्मक संयोजन, रुचि और प्रभाव, दोनों दृष्टियों से विचित्र किया है । जैसे इलियट के बारे में कहा जाता है कि उसका काव्य उस कमरे की तरह है जिसमें अनेक पंक्तियों में दर्पण रखे हुए हैं, थोड़े से संशोधन से यही बात मुक्तिबोध के बारे में कही जा सकती है कि उनका काव्य दर्पणों का विचित्र संयोजन है ।"[31]

अतः मुक्तिबोध के लिए बिंब अपने विचारों को प्रकट करने का सशक्त माध्यम हैं। कवि अपने को इन कल्पना-चित्रों के द्वारा कल्पना की अलौकिक दुनिया में उडाने के स्थान पर समाज से प्राप्त अनुभव सत्यों को चित्रित करते हैं। ये जीवन-सत्य भयानक और चौंकानेवाले हैं। ये हमें डराते हैं। मुक्तिबोध में यथार्थ को सरलीकृत करने की प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए उनके बिंब भी भयानक और बीभत्स हैं। ये हमें न आनंदित करते हैं, न चैन देते हैं। ये हमें आंदोलित और पीडित करते हैं। इनके संबन्ध में देवेन्द्र इस्सर का कथन बिलकुल ठीक है - "जो न आंखों को सुख देते हैं न मन को शांति उल्टे मस्तिष्क पर हथौडे से मारते हैं। जासूसी उपन्यासों की भाँति एक के बाद दूसरी गुफा में उतार देते हैं जहाँ एक रोमांचकारी दृश्य देखने को मिलता है।"[32] देखने में ये बिंब ऐन्द्रजालिक या अजायबघर के समान प्रतीत होते हैं। लेकिन इसका संबन्ध मानव-संसार से है। डा॰ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के शब्दों में कहें तो - "मुक्तिबोध की कविता में मानव संसार के बिंब अधिक हैं। यह कवि का मानव संसार में दिलचस्पी के कारण, समाज और यथार्थ के प्रति सजगता के कारण है।"[33] इसप्रकार मुक्तिबोध ने अपने बिंबों में अपनी जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत किया है। उनकी जीवन-दृष्टि अवश्य मार्क्सवादी है। इसलिए उनके बिंबों में विचारधारा को जीवन-संघर्ष के साथ चित्रात्मकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। डा॰ शशिशर्मा इस संदर्भ पर लिखती है - "मुक्तिबोध के मार्क्सवादी काव्य दर्शन को उनकी बिंबधर्मिता की विशिष्टता ने ही सृजनात्मक आधार दिया है, उनके संदर्भ में दार्शनिक विचार को काव्यगत विचार में परिणत करने की क्षमता ही बिंब प्रयोग की क्षमता बन गयी है।"[34]

"अन्धेरे में" कविता में मृत्यु-दल की शोभायात्रा का बिंब प्रस्तुत हुआ है। वास्तव में यह मृत्यु-दल की शोभा-यात्रा न होकर वर्तमान पतनग्रस्त समाज का एक छोटा-सा नमूना है। इस शोभा-यात्रा में समाज के सारे शोषक तत्व हैं - पत्रकार, आलोचक, कविगण, मंत्री उद्योगपति, कुख्यात हत्यारा-शामिल हैं। समाज के सभ्य कहलानेवाले ये लोग स्वार्थी और शोषण के सिद्धहस्त स्वामी हैं। इस मृत-दल की शोभा-यात्रा के बिंब के द्वारा इन सभ्य कहलानेवाले लोगों के यथार्थ को चित्रित करते हैं -

> उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण / मन्त्री भी, उद्योगपति और विद्वान् / यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात / डोमाजी उस्ताद / बनता है बलबन / हाय, हाय !! / यहाँ ये दीखते हैं भूत-पिशाच-काय।

भीतर का राक्षसी-स्वार्थ अब / साफ उभर आया है, / छुपे हुए उद्देश्य / यहाँ निखर आये हैं, / यह शोभा-यात्रा है किसी मृत्यु-दल की ।[35]

मुक्तिबोध साहित्य को समाज का लालटेन माननेवाले कवि हैं । इसलिए वे साहित्यकार की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के तरफदारी हैं । लेकिन प्रतिक्रियावादी दमनकारी फासिस्ट शक्तियों से इस स्वतंत्रता का विध्वंस हो जाता है । जिस साहित्यकार में इन फासिस्ट शक्तियों से संघर्ष करने का साहस होता है उसे बहुतकुछ सहना पड़ता है । मुक्तिबोध स्वयं इसके शिकार बने हैं । उनकी किताब "भारत इतिहास और संस्कृति" पर सरकार द्वारा अवैध प्रतिबन्ध लगाने पर कवि का विद्रोही मन एकदम आक्रोश से भर गया वे इन फासिस्ट शक्तियों के अत्याचारों को यों प्रस्तुत करते हैं ।

धधकती जा रही है ग्रन्थशाला भी / हमारे पर्सिपोलिस की!! / कहाँ फ़ामरोज़ (पंडितराज) / केटायून (कवयित्री) / कहाँ जहराम (संपादक) / कहाँ रुस्तम / उन्होंने सिर्फ नालिश की / अरे, रे सिर्फ नालिश की/अँधेरी उस अदालत में / जहाँ मुंशी व मुंसिफ़ पी रहे थे / लुटेरे के अर्दली के साथ / रम, शैम्पेन, ह्विस्की जब / उँडेले जा रहे थे खूब कैरोसिन के पीपे / लगायी जा रही थी आग नागरिक को कहाँ थे वे / कहाँ थे तुम / कि जब दस मंजिलों, दस गुंबदोंवाली / सुलगती जा रही थी लायब्रेरी पर्सिपोलिस की / हमारे गहन जीवन-ज्ञान / मानव-मूल्य के उस एक्रोपोलिस को !![36]

मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण कवि शोषित-पीड़ित सर्वहारा वर्ग के प्रति प्रतिबद्ध हैं । इसलिए वे अपनी कविताओं में समाज में प्रचलित शोषण को चित्रित करके जनता को जगाने का दायित्व उठा लेते हैं । कवि अपनी बिंबनिर्मिति में भी इस बात पर ध्यान देते हैं । इसी बात का परिचय "चाँद का मुँह टेढ़ा है" कविता के कारखाने के चित्रण मिलता है । चाँद पूंजीवादी शोषण को सूचित करता है तो कारखाना उसका शोषण केन्द्र है ।[37] कवि जानते हैं कि पूंजीवादी शोषण के कारण आम जनता अपने अधिकारों से वंचित हो जाती है । जनता अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए शोषकों से संघर्ष करती रहती है । लेकिन सरकार और पुलिस की सहायता से शोषक शक्तियाँ जनता का दमन करती है । जनता को आतंकित करने के लिए करफ्यु लगाती है सरकार । "चाँद का मुँह टेढ़ा है" पंक्तियों में कवि सैनिक शासन के आतंकपूर्ण वातावरण को बिंबबद्ध करते हैं -

गहन में करफ्यू, / धरती पर चुपचाप ज़हरीली छी: थू / पीपल के सुनसान घोंसलों में पैठे हैं / कारतूस-छर्रे / जिनसे कि हवेली में / हवाओं के पल्लू भी सिहरे । / गंजे-सिर चाँद की सँवलाई किरनों के जासूस / साम-सूम नगर में धीरे-धीरे घूम-घाम / नगर के कोनों के तिकोनों में छुपे हुए / करते हैं महसूस / गलियों की हाय-हाय !![38]

मुक्तिबोध की कविताओं में युग-युगों से शोषण की फासिस्ती भट्टी में जल मरनेवाले भारत के सर्वहारा वर्ग के अभावग्रस्त जीवन की हरेक धड़कन मुखरित होती है । कवि की सारी सहानुभूति इस सर्वहारा वर्ग के प्रति है । बीसवीं शती के अन्त में भी इस वर्ग को शोषण से मुक्ति नहीं मिली है । भारत की इस शोचनीय स्थिति को कवि निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत करते हैं जो अत्यन्त प्रभावशाली और सजीव है -

सूखी हुई जाँघों की लंबी-लंबी अस्थियाँ / हिलाता हुआ चलता है /
लँगोटीधारी यह दुबला मेरा हिन्दुस्तान / रास्ते पर बिखरे हुए /
चावल के दानों को बीनता है लपककर / मेरा यह साँवला इकहरा हिन्दुस्तान।[39]

<u>फैंटसी</u>

फैंटसी कल्पना पर आधारित शिल्प-विधान है । अभिव्यक्ति की क्षमता को बढ़ाने के वास्ते इसमें एक कलात्मक शक्ति निहित रहती है । मुक्तिबोध फैंटसी की इस अपरिमेय शक्ति से परिचित थे । वे फैंटसी को रचना प्रक्रिया के तीन क्षणों में दूसरा मानते हैं । उनके शब्दों में - दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैंटसी अपनी आँखों के सामने खड़ी हो ।"[40] वे जानते थे कि बाह्य जगत् से प्राप्त अनुभवों के यथार्थ उसी प्रकार शब्दबद्ध करने से वह पाठकों के मन में प्रभाव नहीं डाल सकता है और उसकी कलात्मकता नष्ट हो जाएगी । अतः कल्पना पर आधारित फैंटसी शैली को स्वीकारने से कवि यथार्थ के फोटोग्रैफिक चित्रण से बच सकता है । क्योंकि मुक्तिबोध के अनुसार - "कल्पना अधिक स्वतंत्र होकर जीवन की स्वानुभूत विशेषताओं को समष्टि चित्रों एवं प्रतीक चित्रों द्वारा प्रस्तुत करती है ।"[41]

इसप्रकार अवास्तव और अमूर्त को दृश्य बनाते समय कवि किसी कल्पना-संसार में नहीं विचरते हैं बल्कि अनुभव की ठोस धरती पर उनके पैर स्थिर रहते हैं ।

इन फैंटसियों में उन्होंने अपने समकालीन जीवन और सामाजिक यथार्थ को ही अभिव्यक्ति दी है। फैंटसियों के चित्रण में उन्हें अधिक सुविधाएँ मिली हैं। इनसे वे अमानवीय वर्तमान के चित्रण में स्वाभाविकता ला सके हैं। फैंटसियों के पीछे के अनुभव के संबन्ध में उन्होंने लिखा है - "फैंटसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतन्त्र विकासमान व्यक्तित्व है। वह अनुभव से प्रसूत है, इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है।"[42] इन फैंटसियों के कारण उनकी रचनाओं में एक प्रकार की रहस्यात्मकता, अनगढपन और अमूर्तता आ जाती है। लेकिन कवि को पूर्ण विश्वास है कि अपने तत्कालीन अमानवीय यथार्थ को तर्कसंगत रूप में परिवर्तित करने में उसकी फैंटसी सक्षम है। उन्होंने लिखा है -

मैं विचरण करता-सा हूँ एक फैंटसी में / यह निश्चित है कि फैंटसी कल वास्तव होगी

अतः हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध की फैंटसी उनके कथ्य के अनुसार गढी हुई है।[44] उनका कथ्य विस्तृत सामाजिक फलक है। वे केवल वर्तमान यथार्थ के कवि नहीं है। उनके सामने इतिहास, वर्तमान और भविष्य के मूर्त यथार्थ बिखरे पडे हैं। इन यथार्थों का संबन्ध पूरे मानव समाज से है। इसलिए मुक्तिबोध की फैंटसियाँ लक्ष्यहीन मन का भटकाव नहीं बल्कि वर्तमान समाज की अन्धकारमय पर्तों में छिपे हुए यथार्थ को ऊपर उभारने का सार्थक परिश्रम है। मुक्तिबोध की फैंटसी लक्ष्यहीन नहीं है। वे इनकी रचना व्यापक सामाजिक फलक पर करते हैं। इसके द्वारा वे छिपे हुए यथार्थ सारी ताकत के साथ उभारने और भ्रष्ट व्यवस्था पर प्रहार करने के लिए प्रयुक्त करते हैं। मुक्तिबोध के सामने एक विचित्र और भयावह संसार फैला पड़ा है। उसके सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन एवं विडंबनाग्रस्त परिस्थितियाँ कवि की चेतना को एक नयी अभिव्यक्ति पद्धति के लिए बाध्य बनाती है। यथार्थ की भयावहता को अधिक तीव्र बनाने केलिए उपयुक्त माध्यम थी फैंटसी।[45]

इसलिए मुक्तिबोध जैसे समाज चेता रचनाकार के प्रति यह आरोप निराधार है कि उनकी फैंटसियाँ नितांत व्यक्ति मन की अभिव्यक्ति ही है। यह बिलकुल सत्य है कि कवि मन के सत्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। लेकिन ये सत्य कवि के अपने मात्र नहीं हैं। वे समाजप्रदत्त हैं। अन्तर्बाह्य जगत् के संघर्ष से जो निष्कर्ष उनके मन में आते हैं वे वैयक्तिक और सामाजिक दोनों हैं। मुक्तिबोध फैंटसी के द्वारा अपने मन के निगूढ तत्वों को अनावरण करता है। वे इन तत्वों को उनकी पूरी सुन्दरता के साथ कविताओं में व्यक्त करते हैं। उनके मन के निगूढ तत्व अपने व्यक्तिगत संपत्ति न होकर आन्तरिक और

बाहरी दुनिया की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले जीवन के महान सत्य हैं । इसप्रकार मुक्तिबोध ने फैंटसी को यथार्थ जीवन से संपृक्त कर कोरी कल्पना के आरोप से बचा लिया है । वे फैंटसी को भावप्रधान स्वीकार करने पर भी उसमें जीवन या समाज पक्ष के नितांत अभाव को मान्यता नहीं देते ।[46]

अतः हम देख सकते हैं कि मुक्तिबोध प्रतिबद्ध रचनाकार होने के नाते कल्पना पर आधारित शिल्प को अपनाने पर भी कभी भी यथार्थ की अवहेलना नहीं की है । उन्होंने स्थापित किया है कि फैंटसी जैसे शिल्प-विधान अयथार्थ और असंगत नहीं है । उन्हें चाहिए थी स्वतन्त्रता यह स्वतन्त्रता समाज से कटकर अलग होने की नहीं, बल्कि स्वानुभूत सत्यों को सार्थकता देने के लिए भाषापरक बन्धनों से मुक्त होने की है । इस प्रकार मुक्तिबोध ने कभी भी अपनी समाज-प्रतिबद्धता को त्याग नहीं दिया । यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टि के संबन्ध में कहे गये उनके ये शब्द द्रष्टव्य हैं - "यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अन्तर है । यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत, जो भाववादी शिल्प हैं - उस शिल्प के अन्तर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो । कवि के जीवन-ज्ञान के स्तर पर और कवि-व्यक्तित्व की अनुभव संपन्नता के स्तर पर उसकी दृष्टि पर यह निर्भर है कि वह कहाँ तक वास्तविक जीवन-जगत् को उसके सारे वास्तविक संबन्धों के साथ ग्रहण कर उसे वस्तुतः समझता है ।"[4] मुक्तिबोध को अपने कटु-जीवन से यह यथार्थवादी दृष्टि मिली है । उनकी फैंटसियाँ कटु-तिक्त अनुभवों की विषमतम प्रतीति और तज्जन्य गहरे तीव्र आवेग की धारा में बहती रहती है ।[48] अपनी अनुभूतियों और चित्रों को समाज संपृक्त बनाने की अपार शक्ति मुक्तिबोध के कवि में मिलती है । इसप्रकार मुक्तिबोध की फैंटसियों में मानवीयता और मानव विकास के प्रति गहरी प्रतिबद्धता मिलती है ।

यों मुक्तिबोध की फैंटसियाँ अन्य कवियों से बिलकुल भिन्न दिखाई देती हैं । जहाँ अन्य कवियों की मात्र काल्पनिक आधार पर बुनी गयी फैंटसियाँ शोर मचाते गुज़र जाती हैं मुक्तिबोध इन्हें प्रखर सामाजिक यथार्थ से जोड देते हैं । उनकी फैंटसियों के द्वारा प्रखर अमानवीय यथार्थ उसकी पूरी भयावहता से खुल जाता है । डा. जगदीश गुप्त ने लिखा है - "उन्होंने भी यथार्थ की भूमि तोडकर उसके भीतर लावे की तरह निर्ग अतियथार्थ को उद्घाटित करने की बहुमुखी चेष्टा की है । विशेषता यह है कि उनका

यह अतियथार्थ मानववादी सामाजिक यथार्थ से अनुप्रेरित और उसमें एक जागरूक युगबोध भी समाविष्ट है ।"[49]

मुक्तिबोध की कविताओं में अभिव्यक्त तनाव उन्हें अपने समकालीन कवियों से अलग कर देता है । उन्हें तनाव इसलिए भोगना पड़ा कि वे समझौता करनेवाला नहीं थे । वर्तमान भयानक परिस्थितियों से समझौता करने का अर्थ है मृतकों के समान ज़िन्दगी को ढोना । लेकिन मुक्तिबोध ऐसा जीवन नहीं चाहते थे । इसलिए एक प्रकार के अनबन से ग्रस्त होने पर भी अपने कवि व्यक्तित्व के प्रति वे हमेशा ईमानदार रहे । यही ईमानदारी और उससे उत्पन्न तनाव की अभिव्यक्ति ही उनकी फैंटसियाँ हैं ।[50]

हम देख चुके हैं कि मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कवि हैं । उनका सारा सरोकार समाज की निम्न-मध्य श्रेणी से है । उनकी विश्लेषणात्मक दृष्टि समाज-जीवन के प्रत्येक पहलू को निकट से देख लेती है । उसे मालूम हो जाता है कि निम्न-मध्य श्रेणी के लोग तथाकथित सभ्य लोगों के शोषण से जर्जरित है । उनके अनुसार वर्तमान समाज-व्यवस्था चंबल की घाटी के समान है । "चंबल की घाटी में" कवि ने इसे फैंटसी के द्वारा प्रस्तुत किया है -

> वहीं कहीं मैं भी / हाय-हाय करते हुए भाग चले लोगों में भागता, /
> गठरी है सिर पर,/कन्धे पर बालक, / फटे हुए अंगोछे से बंधी हुई /
> बच्ची है कसी हुई पीठ पर, / बोझ है कई मन / यों मेरी कविता है
> बिना-घर / बिना-छत गिरस्तिन, / जिसमें कि मेरा भाव /
> ज्वलन्त जागता / जिसे लिए हुए मैं / देख रहा जमाने की गयी
> परिपाटियाँ, / चंबल की घाटियाँ ।[51]

चंबल की घाटी जैसी शोषणपूर्ण समाज-व्यवस्था में सारे मानव-मूल्य उपेक्षित हो गये हैं । जिन मूल्यों में संसार को परिवर्तित करने की अपार शक्ति है उन्हें असुविधाकारक मानकर फेंक दिया गया है । इसप्रकार शोषण पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में शोषकों ने इन सारे मानव-मूल्यों को कचरे में फेंक दिया है । कवि जानते हैं कि आम जनता की भलाई इन मूल्यों की पुनस्थापना में निहित होती है । कवि की प्रतिबद्धता शोषित-पीड़ित जनसमाज के प्रति है । इसलिए जन-उत्पीड़क व्यवस्था को नष्ट करने और इन महान मूल्यों को संगठित करना चाहते हैं । "ओ काव्यात्मन्

फणिधर" कविता में कवि अपनी कविताओं को फणिधर के रूप में चित्रित करते हैं। वर्तमान व्यवस्था में मूल्यों की स्थिति फैंटसी द्वारा यों प्रस्तुत होती है -

उन रत्नों के ही लिए तुम्हारी व्याकुलतर / गति सर-सर / जंगल पार /
पुरों-नगरों में आँगन के पीछे / कचरे के ढेरों में, जिनकी / मैली सतहों
में फँसा-दबा / चुपचाप धँसाये गये, छिपाये गये रत्न मन के, जन के, /
जो मूल्य सत्य हैं इस जग के परिवर्तन के। / वे विविध असुविधाओं के कारक
होने से / नित उपेक्षित भूमि में फिंके।[52]

मुक्तिबोध की कविताओं की गतिशीलता फैंटसी की प्रस्तुति में भी है एक ही कविता में फैंटसियों का गुच्छा मिलता है। यथार्थ के तत्व परस्पर गुंफित होने की वजह से ही यह संभव हुआ है। हम देख सकते हैं कि मुक्तिबोध की संपूर्ण कविताओं में यथार्थ के किसी न किसी पहलू की अभिव्यक्ति मिलती है। इसलिए उनकी सारी फैंटसियों को विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर मालूम हो जाएगा कि वर्तमान भयानक व्यवस्था के यथार्थ एक चौंकानेवाली कहानी के रूप में शब्दबद्ध हो गये हैं। "अन्धेरे में" कविता में यथार्थ अभिव्यक्ति अपनी चरम सीमा पहुँच गयी है। "जुलूस" का चित्रण मुक्तिबोध के यथार्थबोध तथा फैंटसी की असली पहचान है -

हलचल (पातालों तल में / चमकदार सांपों की उड़ती हुई लगातार /
लकीरों की वारदात !! / सब सोये हुए हैं। / लेकिन, मैं जाग रहे,
देख रहा / रोमांचकारी यह जादुई करामत !!) / ..../
गंभीर क्विक मार्च / कलाबत्तूवाली काली जरीदार ड्रेस पहने /
चमकदार बैंडदल - / / उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक,
जगमगाते कविगण / मन्त्री भी, उद्योगपति और विद्वान / यहाँ तक कि
शहर का हत्यारा कुख्यात / डोमाजी उस्ताद / बनता है बलबन / हाय,
हाय !! / यहाँ ये दीखते हैं भूत-पिशाच-काय। / भीतर का राक्षसी-
स्वार्थ अब / साफ उभर आया है, / छुपे हुए उद्देश्य / यहाँ निखर आये हैं, /
यह शोभा-यात्रा है किसी मृत्यु-दल की।[53]

मुक्तिबोध मध्यवर्ग का सदस्य हैं। वे वर्तमान समाज-व्यवस्था को एकदम परिवर्तित करके नये सिरे से उसका पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। लेकिन उन्हें इस कार्य में सफलता नहीं मिलती है। इसलिए उनमें एक प्रकार की अपराध भावना है

ब्रह्मराक्ष का व्यक्तित्व वास्तव में कवि का ही व्यक्तित्व है । मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी इसप्रकार आन्तरिक और बाह्य संघर्ष का शिकार होकर नष्ट हो जाता है । "ब्रह्मराक्षस" कविता की फैंटसी द्रष्टव्य है -

बावडी की उन घनी गहराइयों में शून्य / ब्रह्मराक्षस एक पैठा है, /
व भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज, / बडबडाहट-शब्द पागल से । /
गहन अनुमानिता / तन की मलिनता / दूर करने के लिए प्रतिपल /
पाप छाया दूर करने के लिए, दिन-रात / स्वच्छ करने - / ब्रह्मराक्षस /
घिस रहा है देह / हाथ के पंजे बराबर, / बांह-छाती-मुंह छपाछप /
खूब करते साफ, / फिर भी मैल / फिर भी मैल।।[54]

अपराध भावना के इस अनुमानित मलिनता को वह दूर करना चाहते हैं और ब्रह्मराक्षस के अधूरे कार्य को संगत, पूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचाना चाहते हैं । लेकिन जब तक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समाज से मिला नहीं देता है तब तक वह इस प्रशोषण सभ्यता से संघर्ष नहीं कर पाता । इस प्रकार वह प्रशोषण सभ्यता से सामंजस्य स्थापित करता रहता है । इसलिए कवि अपने मध्यवर्गीय व्यक्तित्व को निम्नवर्ग से मिलाने की कोशिश करते हैं । वे जानते हैं कि इसप्रकार व्यक्तित्वांतरण से ही व्यक्ति की मुक्ति और समाज का परिवर्तन हो सकते हैं । इसे कवि "चंबल की घाटी में" फैंटसी के द्वारा प्रस्तुत करते हैं । शोषण रूपी दस्यु व्यक्ति की छाती पर बैठकर उसे दबा देता है -

शिलीभूत भूमि से / सामंजस्यों का घनीभूत जितना / यत्न है तुम्हारा, /
उतनी ही बंजर बनती है दुनिया, / उतनी ही जिन्दगी उजाड बनती /
उतनी ही दृढ पाषाणी कारा / ऐसे सामंजस्यों की वह जो, / दुष्ट
व्यवस्था की वह जो / प्रतिनिधि मूर्ति, / तुम्हारे ही उर पर /
दस्यु की चट्टानी आकृति बनकर / दबंग रौबीले ठाठ से बैठी, /
छाती पर चढी हुई स्याह पहाडी / मात्र बृहत्कृत बिंब है तुम्हारे ही
निज का / तुम्हारे स्वरूप का मूर्त महत्कृत / रूप है वह तो ।

दस्यु- पराक्रम / शोषण पाप का परंपरा-क्रम / वक्षासीन है, /
जिसके कि होने में गहन अंशदान / स्वयं तुम्हारा ।। /

इसलिए जब तक उसकी स्थिति है, / मुक्ति न तुम को । /
याद रखो, / कभी अकेले में मुक्ति न मिलती , /
यदि वह है तो सब के ही साथ है ।[55]

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध की फैंटसी के अंतर्गत भाव पक्ष ही प्रधान हो गया है । विभाव पक्ष सिर्फ सूचित है । मुक्तिबोध ने भोगे गये जीवन की वास्तविकताओं के सारभूत निष्कर्षों को फैंटसी द्वारा चित्रित किया है जो वास्तविक जीवन का ही प्रतिनिधित्व करती है । यह बात दर असल फैंटसी संबन्धी मुक्तिबोध की विचारधारा के अनुकूल ही है ।[56]

अध्याय - छः

1. डा० देवेश ठाकुर - नयी कविता के सात अध्याय , पृ: 226-227.
2. मुक्तिबोध - नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 61.
3. डा. जगदीश गुप्त , मुक्तिबोध का रचना संसार {सं} गंगाप्रसाद विमल , पृ: 69.
4. वही , पृ: 4.
5. वही पृ: 18.
6. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 28.
7. डा. राजनारायण मौर्य , मुक्तिबोध की काव्य - भाषा , राष्ट्रवाणी जनवरी-फरवरी 1965 , मुक्तिबोध विशेषांक , पृ: 347.
8. ऑक्टोवियो पॉज - द लैबिरिंथ आफ सालिट्यूड , एवरग्रीन बुक , न्यूयार्क , पृ 164 - प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य : प्रभात त्रिपाठी पृ: 156 से उद्धृत ।
9. मुक्तिबोध , नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 22.
10. डा० राजनारायण मौर्य , मुक्तिबोध की काव्य-भाषा राष्ट्रवाणी - जनवरी-फरवरी 1965 , पृ: 349.
11. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी समकालीन हिन्दी कविता पृ: 35.
12. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 234.
13. वही भूरी भूरी खाक धूल , पृ: 219.
14. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 301-302.
15. वही चाँद का मुँह टेढा है , पृ: 288.
16. डा. हरिचरण शर्मा , नयी कविता नये धरातल , पृ: 304.
17. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 195.
18. वही , पृ: 427.
19. वही पृ: 297.
20. वही , पृ: 445.
21. न. चि. जोगलेकर , मुक्तिबोध का रचना-संसार , {सं} गंगाप्रसाद विमल , पृ: 51.
22. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 179-180.
23. वही पृ: 405.

24. चंचल चौहान , मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 57.
25. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 345.
26. चंचल चौहान , मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक , पृ: 56.
27. मुक्तिबोध , भूरी-भूरी खाक धूल , पृ: 229.
28. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 83.
29. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 380.
30. वही नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध , पृ: 380.
31. गंगाप्रसाद विमल , ग. मा. मुक्तिबोध का रचना संसार पृ: 75.
32. देवेन्द्र इस्सर मुक्तिबोध के काव्य-बिंब , लहर - नवंबर 1967 पृ: 24.
33. डा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी समकालीन हिन्दी कविता पृ: 46-47.
34. डा. शशि शर्मा , ग. मा. मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन पृ: 214.
35. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 360.
36. वही पृ: 424-425.
37. वही चाँद का मुँह टेढ़ा है , पृ: 26.
38. वही मुक्तिबोध रचनावली-2 , पृ: 298.
39. वही मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ: 267.
40. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 19.
41. वही , कामायनी एक पुनर्विचार , पृ: 3.
42. वही एक साहित्यिक की डायरी पृ: 20.
43. वही चाँद का मुँह टेढ़ना है , पृ: 118-119.
44. डा. हुकुमचन्द राजपाल मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य संकल्प पृ: 160.
45. डा. शशि शर्मा , मुक्तिबोध का साहित्य एक अनुशीलन , पृ: 240.
46. वही , पृ: 101.
47. मुक्तिबोध , कामायनी एक पुनर्विचार , पृ: 6.
48. डा. जगदीश गुप्त , ग. मा. मुक्तिबोध का रचना संसार , पृ: 66.
49. वही , पृ: 67.
50. डा. जगदीश शर्मा , मुक्तिबोध एक साहित्यिक की इकाई , पृ: 102.

51. मुक्तिबोध , मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ: 445.

52. वही , पृ: 194.

53. वही , पृ: 358-359-360.

54. वही , पृ: 345.

55. वही पृ: 458-459.

56. वही मुक्तिबोध रचनावली-4 , पृ: 97.

उपसंहार

साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है कि कभी कतिपय व्यक्तित्व अपने सृजनात्मक कृतित्व की वजह समूचे समाज की पहचान का माध्यम बनता है । इतना ही नहीं, ये अपने माध्यम के द्वारा सामाजिक यथार्थ और उसके अन्तर्विरोधों को उन्मीलित करने के साथ उसे समाज को एक आदर्श लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाने का ज़रिया भी बनाते हैं । इनका यह कर्म सचेत है और यह उनकी सजग सामाजिक चेतना से उद्भूत है । कबीर, तुलसी "निराला" ऐसे कालजयी व्यक्तित्व रहे थे । समाज की पहचान का माध्यम और अगुआ बने ऐसे कालजयी व्यक्तित्वों में एक और नाम हम जोड़ सकते हैं - गजानन माधव मुक्तिबोध । यह बात दरअसल आरोपित और पूर्वाग्रह से युक्त कदापि नहीं है । मुक्तिबोध का संपूर्ण कृतित्व उनकी सजग सामाजिक चेतना का प्रक्षेपण है । उनके कवित्व में अभिव्यक्त यथार्थबोध , आत्मसंघर्ष व आत्मालोचना, मूल्य चेतना, दार्शनिक आधार और समाजोन्मुख भविष्य-दृष्टि उनकी समाज-संपृक्ति व चेतना का ही समूर्त मिसाल है ।

मुक्तिबोध प्रखर यथार्थबोध के कवि हैं । जीवन विवेक को ही साहित्य विवेक मानने के कारण अपने युग और समाज के चौंकनेवाले यथार्थ को वे अनदेखा नहीं करते हैं । इस प्रकार मुक्तिबोध का काव्य उनके अपने समय का साक्ष्य है । यह सत्य है कि उनकी आरंभकालीन रचनाओं में रोमेंटिक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं । लेकिन समय और परिस्थितियों की माँगों के अनुसार उनकी यथार्थ दृष्टि अधिक स्वच्छ और प्रखर होती गयी है । तत्कालीन समाज के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया और निजी जीवन संघर्षों ने इस दृष्टि को अधिक परिपक्व बना दिया । इसके अतिरिक्त मार्क्सवाद का प्रभाव उनके कवि-व्यक्तित्व पर स्पष्ट परिलक्षित है । वे रचनाकार की रचना-प्रक्रिया के पीछे किसी दार्शनिक विचारधारा की पृष्ठभूमि का निहित होना समीचीन मानते हैं । क्योंकि उसकी सहायता से कवि ज़िन्दगी के प्रति एक सकारात्मक दृष्टि का स्थापन कर सकते हैं । मुक्तिबोध मार्क्सवाद को अधिक वैज्ञानिक, मूर्त और प्रायोगिक सिद्धान्त मानते हैं । उनके अनुसार इस सिद्धांत ने उनकी जीवन दृष्टि की जडता को दूर कर अधिक संवेदनशील बना दिया । लेकिन वे कभी भी कट्टर पंथी और

कोरे प्रचारवादी नहीं रहे । उनके लिए मार्क्सवाद कोई बैसाखी न होकर जीवन के विशाल अनुभव और यथार्थ को देखने-परखने और आत्मसात करने का सशक्त माध्यम रहा । इस प्रकार वे अपने समकालीन प्रगतिवादी साहित्यकारों से अलग रहे । उनका लक्ष्य वर्तमान भारतीय जीवन को उसकी पूरी विद्रूपताओं और विरूपताओं के साथ प्रस्तुत करना था । इसकेलिए मार्क्सवाद ने उन्हें सही दृष्टिकोण प्रदान किया ।

मुक्तिबोध का यथार्थ कभी भी फैशन की चीज़ नहीं रहा है । वह अनुभव प्रसूत है । उनके अनुसार काव्य-प्रक्रिया बाह्य का आभ्यंतरीकरण और आभ्यंतर का बाह्यीकरण है । इस प्रक्रिया के द्वारा जो निष्कर्ष निकाले गये वे उनके कथ्य बन गये । मुक्तिबोध की राय में इस दुनिया की प्रत्येक वस्तु, रचना का विषय बन सकती है । इसलिए लेखक या कवि की समस्या विषय का अभाव नहीं बल्कि ठीक चुनाव की है । वे मानते हैं कि यथार्थ के तत्व परस्पर गुंफित रहते हैं । इसलिए ही वे छोटी कविताएँ लिख न सके । जो छोटी होती हैं वे बिल्कुल अधूरी ही हैं । मुक्तिबोध ने परस्पर गुंफित इन यथार्थों को उनकी पूरी भयानकता और जटिलता के साथ प्रस्तुत किया । युगीन अमानवीय और डरावने यथार्थ से कवि एकदम चौंक गये । वे जानते हैं कि इन अमानवीय यथार्थ का साक्षात्कार करना खतरे से खाली नहीं है । फिर भी वे अपने वैयक्तिक जीवन को समर्पित करते हुए इनसे जूझने का निश्चय किया । इसलिए मुक्तिबोध के कवित्व में यथार्थ के सरलीकरण की प्रवृत्ति नहीं मिलती है ।

मुक्तिबोध मध्यवर्ग के कवि हैं । इसलिए उनके यथार्थ चित्रण में मध्यवर्गीय जीवन के विविध प्रसंगों को सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है । मध्यवर्ग एक विशाल जनसमाज है । समाज की प्रत्येक समस्या का इस वर्ग पर स्वाभाविक रूप से प्रभाव पड़ता है । लेकिन अपनी वर्गगत विशेषताओं के कारण यह वर्ग समाज पर प्रभाव डालने में असमर्थ बन जाता है । इस वर्ग के अधिकांश लोग अवसरवादी पदलोलुप और समझौतावादी हैं । इस वर्ग में समाज का अगुआ बनने की क्षमता है । लेकिन यह जीवन के खतरों से डरता है, इसलिए निष्क्रिय रहता है । अपनी स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी भी परिस्थिति से समझौता करनेवाले ये लोग क्रीतदास और उदरंभरी हैं । मुक्तिबोध के अनुसार इस मध्यवर्ग की भलाई निम्न मध्यवर्ग और सर्वहारा वर्ग के साथ संबन्ध जोडने से ही संभव हो सकती है । कवि अपनी कविताओं में इस वर्ग के यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए उसे समाज के निम्न श्रेणी के शोषित-पीडितों से जा मिलने की प्रेरणा भी देते हैं ।

मुक्तिबोध वर्ग-चेतना के कवि हैं। उनके अनुसार कवि या साहित्यकार को अपने वर्ग के प्रति निष्ठा रखनी चाहिए। इसका अर्थ कभी भी यह नहीं है कि कवि को अपने वर्ग को संकुचित सीमाओं में बन्ध रहना है। उनका तात्पर्य यह है कि कवि को अपने वर्ग के प्रति आस्था रखने के साथ ही साथ उसकी कमियों को सुधारने की कोशिश भी करनी चाहिए। इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं का काव्य-नायक अपने वर्ग चेतना से युक्त होने पर भी व्यक्तित्वांतरित होकर विशाल समाज में शरीक होना चाहता है।

मुक्तिबोध के कवित्व में मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इसलिए ही उनकी कविताओं में समाज में बरकरार वर्ग-वैषम्य और वर्ग-संघर्ष का चित्र मिलता है। कवि जानते हैं कि अब तक के मानव का इतिहास इस वर्ग संघर्ष का इतिहास ही है। आधुनिक जीवन में विभिन्न वर्ग और जातियों के बीच की खाइयाँ अधिक गहरी बन गई हैं। इसके पीछे के सारे तत्वों से कवि परिचित हैं। जब तक समाज में छोटे और बड़े का भेदभाव रहेगा, और पूँजीवादी शक्तियों का शोषण रहेगा तब तक यह वर्ग-संघर्ष भी रहेगा। वर्ग विभाजित समाज में धनिकों के द्वारा गरीबों का शोषण अवश्य चलेगा। इस शोषण-प्रक्रिया से समाज का जीवन कैसे अमानवीय और घिनौना होगा, इसका दर्दनाक परिचय मुक्तिबोध की कविताओं में मिलता है। शोषणग्रस्त समाज में आमजनता की हालत उसकी पूरी त्रासदी के साथ प्रस्तुत होती है मुक्तिबोध की पंक्तियों में। सत्ता आम जनता के दमन में इन शोषक शक्तियों का साथ देती हैं। बुद्धिजीवी वर्ग तो अपनी स्वार्थ-सिद्धी की पूर्ति तथा अस्तित्व की रक्षा के वास्ते संघर्षरत जनता के विरोध में सत्ता के पक्ष का समर्थन करता है। उनके अनुसार शोषण का कार्य मात्र किंवदन्ती है। इस प्रकार मुक्तिबोध ने दिन-प्रतिदिन अन्धेरे की शक्तियों द्वारा पदाक्रान्त शोषितों की दीन पुकार को कविता में तब्दील कर दिया है।

प्रखर सामाजिक चेतना के कवि होने के नाते मुक्तिबोध की कविताओं में पुरोगामी मानव-मूल्यों पर असीम आस्था व्यक्त की गयी है। इसके साथ उनमें वर्तमान सामाजिक मूल्यों की आलोचनात्मक विवेचन भी मिलता है। फिलहाल संसार को परिवर्तित करनेलायक सारे मानव-मूल्य उपेक्षित हो गये हैं। ये कूटे-कर्कटों के समान भूमिस्थ हो गये हैं क्योंकि समाज के तथाकथित सभ्य और सुविधावादी लोगों के लिए ये

असुविधाकारक हैं। पूंजीवादी सभ्यता, वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति, स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार और भ्रष्टराजनीति के कारण मानव-समाज अपनी गरिमा खो रहा है। आज के सारे मूल्य समाज के शोषक वर्ग की शोषण-नीति के अनुसार निर्मित हैं। इसलिए कवि अपनी कविताओं के द्वारा उन सारे उपेक्षित मानव-मूल्यों को इकट्ठा करना चाहते हैं जो मानवजाति को आगे बढ़ाते हैं। क्यों कि वे जानते हैं कि इन मूल्यों की पुनर्स्थापना से ही शोषितों की मुक्ति संभव है।

स्वतंत्र भारत में स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार और भ्रष्टराजनीति के कारण सामाजिक जीवन का वातावरण कलुषित हो गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय जिन महान लक्ष्यों और आदर्शों पर भारतीय जीवन को मूर्त बनाने का निश्चय किया गया था उन सारे तत्वों को हम ने मिट्टी में मिला दिया। दरअसल मुक्तिबोध की कविताएँ स्वतंत्र भारत की राजनीति का दहकता इस्पाती दस्तावेज़ हैं। राष्ट्रीय वातावरण में एक प्रकार अन्धेरा छा गया था। इस अन्धेर समाज में मुक्तिबोध हरेक गली और चेहरे को पहचान प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। उनकी कविताएँ घुप्प अन्धेरे के बीच में प्रकाश की खोज की अनन्य आस्था ही है। लेकिन उनकी मूल्य-दृष्टि में कहीं भी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति नहीं मिलती है। जहाँ उनके समकालीन कवि आधुनिकता के नामपर प्रतिक्रियावादी शक्तियों का साथ दे रहे थे उनका समर्थन दे रहे थे वहाँ मुक्तिबोध ने जिस दृष्टि का परिचय दिया वह बिलकुल मौलिक था। इसलिए उनकी कविताओं में कहीं भी निराशा अनास्था का आभास नहीं मिलता है। क्योंकि उन्हें प्रत्येक मनुष्य पर पूरा विश्वास है। इसलिए उनकी कविताओं में निरन्तर एक सहचर-मित्र का परामर्श मिलता है। कवि को पूरा विश्वास है कि सारी अमानवीय शक्तियों और परिस्थितिय के बीच भी मानवता कायम रहेगी। वे मानते हैं कि मानवता का पतन हो गया है अब लेकिन उसकी मृत्यु पूर्ण रूप से नहीं हो गयी है अब तक। इतिहास के मलबे नीचे दबी पड़ी हुई मानवता को अवश्य पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। यही आशा का स्वर मुक्तिबोध की कविताओं में सर्वत्र मुखरित है। वे मानते हैं कि भारत की गरीब जनता के द्वारा ही समाज का पुनर्निर्माण और मूल्यों की पुनर्स्थापना हो सकती है।

मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कवि हैं। उनकी प्रतिबद्धता सिर्फ किसी वाद या विचारधारा के प्रति नहीं होती है। बल्कि समाज के शोषित-पीडित सर्वहारा वर्ग के प्रति है। युग-युगों से शोषित-पीडित इस वर्ग की मुक्ति अहिंसा तत्वों से असंभव मानने के

कारण उनकी कविताओं में सशस्त्र क्रांति का समर्थन हुआ है। मानव की भलाई के नाम अनेक सिद्धांतों का आविष्कार हो गया था। लेकिन अब तक मानव की मुक्ति का कार्य शेष रह गया है। इसलिए कवि मानते हैं कि मानव को मानवोचित इज्जत मिलनी है तो उसके लिए क्रांति का मार्ग पर अग्रसर होना है। कवि जानते हैं कि शोषण के अमानवीय हाथों से ग्रसित सर्वहारा वर्ग किसी न किसी दिन शोषण के विरोध में जागृत हो जाएगा। कवि देखते हैं कि इस वर्ग के अन्दर क्रांति की चिनगारियाँ चमक रही हैं। वे इन चिनगारियों को धधकाना चाहते हैं। इसलिए ही समाज की शोषणकारी शक्तियों के अत्याचारों और अनीतियों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता की विशेषता यह भी है कि वह कभी भी समाज-परिवर्तन का अगुआ न बनते हैं बल्कि समाज के पीड़ितों के सहचर बनकर उन्हें क्रांति के लिए प्रेरित और तैयार करने में निरत रहते हैं। इसलिए वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय से गुज़रते हुए उसके अनुभवों को अपने में समाहित करना चाहते हैं। मुक्तिबोध के समकालीन कवियों में भी इस प्रकार प्रतिबद्धता का परिचय मिलता है, लेकिन आम आदमी से मिलने और उसके साथ तल्लीन होने की जो बेचैनी है वह उनकी अपनी विशिष्टता है।

अतः मुक्तिबोध मानते हैं कि विध्वंस और संघर्ष के बिना नया निर्माण असंभव है। वे उम्मीद करते हैं कि क्रांति के बाद जो समाज की स्थापना हो जाएगी वह बिलकुल समता पर आधारित होगा। ऐसे समाज में व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए कभी भी दूसरे से संघर्ष नहीं करना पड़ेगा। इस प्रकार के साम्यवादी समाज में मानव के हित का ही सर्वोपरी स्थान दिया जाएगा। व्यक्ति भी अपने बहुमूल्य समय का उपयोग समाज की भलाई के लिए कर सकेगा।

मुक्तिबोध की सारी कविताओं में आत्मसंघर्ष और आत्मालोचना की प्रवृत्ति मिलती है। लेकिन इसे कवि मन की अभिव्यक्ति मात्र नहीं कह सकते हैं। वे तो बाह्य का आभ्यंतरीकरण और आभ्यंतर का बाह्यीकरण करते रहते हैं। तभी उन्हें मालूम हो जाता है कि समकालीन समाज का यथार्थ सचमुच भयानक है। उसे देखकर व्यक्ति अन्धा हो सकता है, संबोधित कर गूँगा हो सकता है और नंगे साक्षात्कार से आत्मघात कर सकता है। अतः कवि इसे भोगने के लिए विवश हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप कवि के मन में भीषण तनाव घर कर जाता है। ऐसा तनाव कुछ न कुछ अंश तक सारे कवियों में है। लेकिन मुक्तिबोध में जो तनाव मिलता है वह अन्यादृश्य है।

इसलिए उनमें उस पुरानी यशस्वी-पीढ़ी के समान बचाव का भाव ज़रा भी नहीं जिस ने भयावह यथार्थ से साक्षात्कार करने से इनकार किया था । दरअसल मुक्तिबोध ने अपनी कविता के इस तनाव के द्वारा अमानवीय यथार्थ को संवादयोग्य बनाया । इस कारण उनकी कविताओं में संगीतात्मकता का बिलकुल अभाव मालूम होता है । युगीन बर्बरता का पोल खोलनेवाले, तह तक चुभनेवाले "तेज़ी" कथ्य कभी भी संगीतात्मक नहीं हो सकते हैं । सचमुच मुक्तिबोध ने जान-बूझकर संगीत के स्थान को तनाव से भरा दिया । इस तनाव के कारण ही उनकी कविता कविता बनती है, नहीं तो वह केवल गद्य ही रह जाती

आत्मसंघर्ष के साथ आत्मालोचना का भाव भी मुक्तिबोध के काव्य में मयस्सर है । मानवता के प्रति प्रतिबद्ध कवि मानवता और मानव-विकास के लिए हमेशा संघर्षरत हैं । इसलिए उनकी कविताओं में एक प्रकार के आत्मालोचना का भाव भी है । कवि आम जनता को बुद्धिहीन भीड़ माननेवाले समाज के तथाकथित सभ्य और सज्जनों से अपने को अलग कर सर्वहारा से मिलाने के लिए बेचैन रहते हैं । माने कवि में वर्गापसरित होकर आम जनता से मिलने की अदम्य आकांक्षा है । जब कभी वे इस कार्य में असमर्थ बन जाते हैं तब आत्मालोचना और आत्मभर्त्सना की भावना से गुज़रने मजबूर हो जाते हैं । अतः मानव के प्रति कवि की ईमानदारी ही आत्मालोचना की हेतु बन जाती है ।

मुक्तिबोध की कविता का एक ही विषय है - मानव जीवन । जितनी विविधता मानव जीवन की होती है, उतनी विविधता उनकी कविता में भी मिलती है । उन्हें व्यापक अनुभव प्राप्त था, इसलिए एक छोटी कविता में वह समा नहीं सकता था, लंबी कविताओं के रूप में पूरी ज़िन्दगी के फलक के रूप में ही वह अवतरित हो सकता था और उनकी कविताओं में मानव व्यक्तित्व के बुनियादी सवालों से जूझने की जो प्रवृत्ति मिलती है वह हिन्दी की नयी कविता के लिए नया अनुभव बन गयी थी । शोषण, उत्पीडन, क्रूरता, आतंक और हिंसा से भरी इस दुनिया में मानव की हालत का तथा इन अमानवीय परिस्थितियों का अतिक्रमण करने की मानव की दुर्दम लालसा का जो चित्रण मुक्तिबोध में मिलता है वाकई अन्यादृश्य है ।

मुक्तिबोध कथ्य के क्षेत्र में जिसप्रकार क्रांतिकारी होते हैं उसी प्रकार शिल्प के प्रति भी वे क्रांतिकारी रहे हैं । अपनी प्रखर सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए मुक्तिबोध ने जो नये शिल्प का प्रणयन किया है वह बिलकुल नयी कविता के क्षेत्र

में उन्हें अन्य कवियों से अलग कर देता है। उन्होंने कला और सौन्दर्य की सारी प्रचलित मान्यताओं को धराशायी करते हुए एक नयी दृष्टि की स्थापना की। मुक्तिबोध शुद्ध कलावादी और मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र दोनों से परिचित थे। जहाँ अन्य कवि परंपराओं की पुष्टि और अनुकरण करते रहे वहाँ मुक्तिबोध युगप्रवर्तक कवि और शिल्पकार बन गये। उन्होंने शब्दों में जो काल्पनिक चित्र खींचा है वह हमारा वास्तविक संसार ही है। इस प्रकार उन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा की सहायता से कल्पना और वास्तविकता के बीच के अन्तर को समाप्त कर दिया। उनकी कविताओं में यथार्थ, फैंटसी में कलात्मक परिणति प्राप्त करता है।

निष्कर्षतः मुक्तिबोध की प्रतिभा अपनी विविधता और व्यापकता के कारण आज भी अनिर्णीत है। वह उनकी मृत्यु के इतने सालों बाद भी साहित्य-संसार में एक चुनौती के रूप में बरकरार है। भविष्य में भी ऐसी ही रहेगी। बहुतों ने उनके द्वारा बनाये मार्ग से चलकर लक्ष्य तक पहुँचने की कोशिश की लेकिन एकाध को छोड़कर किसी को सफलता नहीं मिली। क्योंकि युगद्रष्टा और युगस्रष्टा बनने के लिए सिर्फ अनुकरण काफी नहीं है। युग को अर्थ देने और उसे कुछ निष्कर्षों तक ले चलने की शक्ति भी चाहिए अन्धकार के गरजते हुए महासागर की चुनौतियों को स्वीकार करने, पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने और अनमापी गहराई में उतरने की प्रक्रिया खतरों से खाली नहीं है। इसप्रकार स्वयं अपने को खतरों में डालकर आस्था के साथ इस तरंगायित अन्धेरे में प्रकाश के कणों को खोजने, बटोरने और बचाकर धरातल तक ले आने के लिए जिस संघर्ष और पीड़ा की जरूरत है उसका समूर्त रूप रहा था – मुक्तिबोध का काव्य। अस्तु।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मुक्तिबोध के सृजनात्मक ग्रन्थ

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है – गजानन माधव मुक्तिबोध – भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन वाराणसी-5 प्र: सं. 1964.
2. मुक्तिबोध रचनावली-1 – (सं) नेमीचन्द्र जैन – राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002 प्र. सं. 1980.
3. मुक्तिबोध रचनावली-2 – (सं) नेमीचन्द्र जैन – राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002. प्र. सं. 1980.
4. भूरी भूरी खाक धूल – मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्र: सं. 1981

मुक्तिबोध के आलोचनात्मक ग्रन्थ

5. एक साहित्यिक की डायरी – गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी-5 प्र. सं. 1964.
6. एक साहित्यिक की डायरी – गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली-110001 पंचम सं. 1980.
7. कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध, हिमांशु प्रकाशन जबलपुर 1961.
8. नयी कविता का आत्मसंघर्ष – गजानन माधव मुक्तिबोध राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली – 110002 प्र. सं. 1983.
9. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध – गजानन माधव मुक्तिबोध – विश्वभारती प्रकाशन, धनवटे चेम्बर्स, नागपुर 12 द्वि. सं. 1977.
10. नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र – गजानन माधव मुक्तिबोध – राधाकृष्ण प्रकाशन, दरिया गंज, दिल्ली-6, 1971.
11. मुक्तिबोध रचनावली-3 – (सं) नेमीचन्द्र जैन – राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली- 110002, प्र. सं. 1980.

12. मुक्तिबोध रचनावली-4 - (सं.) नेमीचन्द्र जैन - राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002 प्र. सं. 1980.

13. मुक्तिबोध रचनावली-5 - (सं.) नेमीचन्द्र जैन - राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली - 110002 , प्र. सं. 1980.

14. मुक्तिबोध रचनावली-6 - (सं.) नेमीचन्द्र जैन - राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली - 10001 प्र. सं. 1980.

अन्य सृजनात्मक ग्रन्थ

15. अनुक्षण - प्रभाकर माचवे - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी. प्र. सं. 1959.

16. अन्धा युग - धर्मवीर भारती - किताब महल, इलाहाबाद, चतुर्थ सं: 1971.

17. अपरा - निराला - साहित्यकार संसद, प्रयाग, बारहवाँ सं, 1980.

18. अपूर्वा - केदारनाथ अग्रवाल - परिमल प्रकाशन, अल्लापुर, इलाहाबाद-211006, प्र. सं. 1984.

19. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये - अज्ञेय - सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथमावृत्ति, 1957.

20. एक उठा हुआ हाथ - भारतभूषण अग्रवाल - लोकभारती प्रकाशन, द्वि. सं. 1976. इलाहाबाद-1.

21. एकान्त - नेमिचन्द्र जैन - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कनाट प्लेस, नई दिल्ली-1 प्र. सं. 1973.

22. ओ अप्रस्तुत मन - भारतभूषण अग्रवाल - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1.

23. कवितावली - (सं.) माताप्रसाद गुप्त - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, अष्टम संस्करण, सं. 2010.

24. कबीर ग्रंथावली - (सं.) डा. श्यामसुन्दर दास - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी आठवाँ संस्करण, सं. 2018.

25. कामायनी - जयशंकर प्रसाद - भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वादश संस्करण, सं. 2021.

26. कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ - शमशेर - राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1984

27. गांधी पंचशती - भवानी प्रसाद मिश्र - सरला प्रकाशन, दिल्ली-32, प्र. सं. 1969

28. गीतफरोश - भवानी प्रसाद मिश्र - सरला प्रकाशन, दिल्ली-32.

29. चुभते चौपदे - अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध - हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस ।

30. चुका भी हूँ नहीं मैं - शमशेर - राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1975.

31. तारसप्तक - (सं) अज्ञेय - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी-5, दूसरा संस्करण, 1966.

32. तेल की पकौड़ियाँ - प्रभाकर माचवे - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, द्वि. सं. 1965.

33. दिगन्त, त्रिलोचन - वाणी प्रकाशन, जगत शंखधर, वाराणसी, 1957.

34. दूसरा सप्तक - अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी-5, 1951.

35. धरती - त्रिलोचन - नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977.

36. धूप के धान - गिरजाकुमार माथुर - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वि. सं. 1953.

37. प्रेमघन सर्वस्व - प्रेमघन - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीयावृत्ति शक 1884.

38. फूल नहीं रंग बोलते हैं - केदारनाथ अग्रवाल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 196

39. बावरा अहेरी - अज्ञेय - सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद,

40. भारतेन्दु ग्रंथावली-II - भारतेन्दु - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, दूसरा संस्करण, संवत् 2010.

41. मंजीर - गिरजाकुमार माथुर - इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) लि., इलाहाबाद, 196

42. युग की गंगा - केदारनाथ अग्रवाल - हिन्दी ज्ञानमंदिर लि. बंबई, प्र. सं.

43. रूप तरंग - डा. रामविलास शर्मा - विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, 1956.

44. शिलापंख चमकीले - गिरजा कुमार माथुर - साहित्यभवन प्रा. लि. इलाहाबाद, प्र. सं. 1961.

45. श्री रामचरित मानस - (सं) हनुमान प्रसाद पोद्दार - मोतीलाल जालान, गोरखपुर, सं. 2029.

46. सातगीत वर्ष - धर्मवीर भारती - लीडर प्रेस, इलाहाबाद 1939.

47. स्वर्णधूलि - सुमित्रानंदन पंत - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वि. सं. 1959.

48. हरी घास पर क्षण भर - अज्ञेय - प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, 1949.

अन्य आलोचनात्मक ग्रन्थ

49. अपरोक्ष - अज्ञेय - सरस्वती विहार, नई दिल्ली, प्र. सं. 1979.

50. आज का हिन्दी साहित्य - प्रकाश चन्द्रगुप्त - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-7, प्र. सं. 1966.

51. आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ - डा. नरेन्द्र मोहन - आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली-31, प्र. सं. 1973.

52. आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य - डा. कुसुमचन्द - भारतीय संस्कृत भवन, जालन्धर, प्र. सं. 1970.

53. आधुनिक काव्य संदर्भ और प्रकृति - डा. गंगाप्रसाद गुप्त - रचना प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं. 1971.

54. आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य - कृष्णबिहारी मिश्र - आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली-5, प्र. सं. 1972.

55. आधुनिक हिन्दी कविता - डा. जगदीश चतुर्वेदी - मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्र. सं. 1975.

56. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ - डा. नगेन्द्र - गौतम बुक डिपो, दिल्ली, 1957.

57. आधुनिक हिन्दी कविता की भूमिका - शंभूनाथ पाण्डेय - विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्र. सं. 1964.

58. आधुनिक हिन्दी कविता सिद्धांत और समीक्षा - डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1962.

59. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प - कैलाश वाजपेयी - आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्र. सं. 1963.

60. आधुनिक हिन्दी काव्य - डा. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र - ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर ।

61. आधुनिक हिन्दी काव्य और नैतिक चेतना - डा. राजवधवा - फ्रैंक ब्रदर्स एण्ड कंपनी, चांदनी चौक, दिल्ली-6, 1969.

62. आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद - डा. परशुराम शुक्ल विरही - ग्रंथम्, कानपुर-12, 1966.

63. आधुनिकता साहित्य के संदर्भ में - गंगाप्रसाद विमल - दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण ।
64. आलोचना के नए मान - कर्णसिंह चौहान - दि मैक मिलन कंपनी लि. प्र.सं. 1978.
65. आस्वाद के धरातल - डा. धनंजय वर्मा - विद्या प्रकाशन मंदिर, दिल्ली-6, 1969.
66. इतिहास और आलोचना - डा. नामवर सिंह - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 1978.
67. कबीर - डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी रत्नाकर प्रा. लि. बंबई, छठा सं. 1960.
68. कबीर और जायसी का मूल्यांकन - पुरुषोत्तमचन्द्र वाजपेयी - हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-1, द्वि. सं. 1961.
69. कबीर का सामाजिक दर्शन - डा. प्रहलाद मौर्य - पुस्तक संस्थान, कानपुर-12, 1973
70. कविता की तलाश - चन्द्रकान्त वांदिवडेकर - विभूति प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली-32, प्र. सं. 1983.
71. कवि मुक्तिबोध एक विश्लेषण - रमेश शर्मा - सस्ता साहित्य भण्डार, दिल्ली-6, 1972.
72. कालजयी कवि भवानी प्रसाद मिश्र - डा. हरिमोहन - वाणी प्रकाशन, दिल्ली- 110002, प्र. सं. 1986.
73. काव्य-धारा - शिवदान सिंह चौहान - आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्र.सं. 1955
74. कुछ विचार - प्रेमचन्द - सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1965.
75. केदारनाथ अग्रवाल - (सं) अजयतिवारी - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद-211006, प्र. सं. 1986.
76. गजानन माधव मुक्तिबोध, (सं) लक्ष्मण दत्त गौतम - विद्यार्थी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1972.
77. गजानन माधव मुक्तिबोध जीवन और काव्य - महेश भटनागर - राजेश प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली-51, प्र. सं. 1976.
78. गजानन माधव मुक्तिबोध व्यक्तित्व एवं कृतित्व - डा. जनक शर्मा - पंचशील प्रकाशन , जयपुर, प्र. सं. 1983.
79. गिरजाकुमार माथुर नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में - विजयकुमारी - अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली-110002.

80. चिन्तामणि-1 - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्रयाग, 1967
81. चुनी हुई कृतियाँ (तीसरा ग्रंथ) - माओ-त्से-तुंग. - (सं) भैरव प्रसाद गुप्त, विचार प्रकाशन, कानपुर, 1969.
82. जिरह - श्रीकान्त वर्मा - संभावना प्रकाशन, हापुड - प्र. सं. 1973.
83. तारसप्तक के कवियों की समाज चेतना - डा. राजेन्द्र प्रसाद - वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, प्र. सं. 1987.
84. त्रिशंकु - अज्ञेय - सूर्य प्रकाशन, बिकानेर, 1973.
85. द्विवेदी युग का काव्य - डा. रामसकल राय शर्मा - अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर-3, 1966.
86. धर्मवीर भारती कनुप्रिया तथा अन्य कृतियाँ - डा. ब्रजमोहन शर्मा - भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली-110032, प्र. सं. 1976.
87. नयी कविता नये धरातल - डा. हरिचरण शर्मा - प्रदम प्रकाशन, जयपुर, 1969.
88. नया सृजन नया बोध - डा. कृष्णदत्त पालीवाल - राजेश पुस्तक केन्द्र, नई दिल्ली, प्र. सं. 1975.
89. नया हिन्दी काव्य - डा. शिवकुमार मिश्र - अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर कानपुर ।
90. नयी कविता और अस्तित्ववाद - डा. रामविलास शर्मा - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं. 1978.
91. नयी कविता का परिप्रेक्ष्य, परमानन्द श्रीवास्तव - नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं. 1968.
92. नई कविता के प्रमुख हस्ताक्षर - डा. संतोषकुमार तिवारी - जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्र. सं. 1980.
93. नयी कविता नये कवि, - विश्वंभर मानव - लोकभारती प्रकाशन, महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद-1, 1968.
94. नयी कविता में मूल्यबोध - शशि सहगल, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली-6, प्र. सं. 1976
95. नयी कविता में राष्ट्रीय चेतना - डा. देवराज पथिक - कादंबरी प्रकाशन, नई दिल्ली-110015, प्र. सं. 1985.

96. नई कविता सिद्धांत और सृजन - डा. नरेन्द्र वर्मा - वाणी प्रकाशन, दिल्ली-7, प्र. सं. 1978.
97. नयी समीक्षा - अमृतराय - हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977.
98. नये प्रतिनिधि कवि - डा. हरिचरण शर्मा - पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. 1979.
99. निबन्ध और निबन्ध - डा. इन्द्रनाथ मदान, बंसल एण्ड कंपनी, दिल्ली-32, प्र. सं. 1966.
100. निबन्ध प्रभाकर - मनसुखराम गुप्त - सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, नई दिल्ली-6, 1985.
101. परंपरा का मूल्यांकन - रामविलास शर्मा - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981.
102. प्रगतिवाद - एक समीक्षा - धर्मवीर भारती - साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग ।
103. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ - डा. रामविलास शर्मा - विनोद पुस्तक मंदिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा, द्वि. सं. 1957.
104. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड - रांगेय राघव - सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, 1954.
105. प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य - प्रभात त्रिपाठी - वाग्देवी प्रकाशन, चन्दन सागर, बीकानेर-334001, प्र. सं. 1990.
106. प्रेमचन्द घर में - शिवरानी देवी प्रेमचन्द - आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-6, 1956.
107. फिलहाल - अशोक वाजपेयी - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6, प्र. सं. 1970.
108. भवन्ति - अज्ञेय - राजपाल एण्ड संस, प्र. सं. 1972.
109. मध्यकालीन बोध का स्वरूप - डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी - पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़, प्र. सं. 1970.
110. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन इतिहास तथा सिद्धांत - डा. शिवकुमार मिश्र - मध्यप्रदेश हिन्दी अकादमी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, प्र. सं. 1973.
111. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र - (सं.) कमला प्रसाद, मैनेजर पाण्डेय संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्र. सं. 1977.
112. मानववाद और साहित्य - नवल किशोर - राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-6, 1972.
113. मुक्तिबोध - (सं.) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - ज्ञानभारती प्रकाशन, दिल्ली-110007, प्र. सं. 1986.

114. मुक्तिबोध – {सं} निर्मल शर्मा – नयी प्रकाशन, धानमण्डी, रतलाम {म.प्र}
पृ. सं. 1980.

115. मुक्तिबोध का रचना संसार – डा. गंगाप्रसाद विमल, सुषमा प्रकाशन,
दिल्ली-51, पृ. सं. 1969.

116. मुक्तिबोध की कविता में यथार्थबोध – शशिबाला शर्मा, प्रवीणाशर्मा, शब्द
और शब्द, डी-113, अशोक विहार, दिल्ली-110052, पृ. सं.

117. मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक – चंचल चौहान – पांडुलिपि प्रकाशन,
दिल्ली-51, पृ. सं. 1976.

118. मुक्तिबोध की काव्य चेतना और मूल्य-संकल्प – डा. कुन्दनचन्द राजपाल,
वाणी प्रकाशन, दिल्ली-110002, पृ. सं. 1985.

119. मुक्तिबोध काव्यबोध का नया परिप्रेक्ष्य – डा. वीरेन्द्र सिंह – पंचशील
प्रकाशन, जयपुर ।

120. मुक्तिबोध की काव्य सृष्टि – सुरेश ऋतुपर्ण – ऋषभचरण जैन एवं संतति,
नई दिल्ली-110002, पृ. सं. 1976.

121. मुक्तिबोध विचारक, कवि और कथाकार, सुरेन्द्र प्रताप – नेशनल पब्लिशिंग
हाउस, नई दिल्ली, पृ. सं. 1978.

122. मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता – डा. लल्लन राय –
संथन पब्लिकेशंस, 34-एल, मॉडल टाउन, रोहतक-124001 {हरियाणा}

123. रीतिकाव्य की भूमिका – डा. नगेन्द्र – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क,
दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 1961.

124. रीतिकाव्य प्रकृति एवं स्वरूप – डा. सत्यप्रकाश मिश्र – अभिव्यक्ति प्रकाशन,
इलाहाबाद-2, पृ. सं. 1973.

125. लक्षित मुक्तिबोध – {सं} मोतीराम वर्मा – विद्यार्थी प्रकाशन, दिल्ली-51, पृ. सं.

126. लोकवादी तुलसी – विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी – राधाकृष्ण प्रकाशन,
नई दिल्ली, 1974.

127. विचार के क्षण – डा. विजयेन्द्र स्नातक – नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली-6, पृ. सं. 1970.

128. विचारधारा और साहित्य - अमृतराय - हंसप्रकाशन, इलाहाबाद ।

129. विद्रोह और साहित्य - नरेन्द्र मोहन / देवेन्द्र इस्सर - साहित्य भारती, दिल्ली-51, प्र. सं. 1974.

130. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत-1 - डा. त्रिगुणायत गोविन्द - भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली ।

131. संवाद नई कविता आलोचना और प्रतिक्रिया - प्रभाकर श्रोत्रिय - राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्र. सं. 1982.

132. समकालीन लेखन एक वैचारिकी - डा. चन्द्रभान रावत - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-110002.

133. समकालीन साहित्य आलोचना की चुनौती - बच्चन सिंह - हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, 1968.

134. साहित्य और आधुनिक युगबोध - देवेन्द्र इस्सर - कृष्ण ब्रदर्स, कचहरी रोड, अजमेर, प्र. सं. 1973.

135. साहित्य और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया - अज्ञेय - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली- 10002, प्र. सं. 1985.

136. साहित्य और सामाजिक संदर्भ - डा. शिवकुमार मिश्र - कला प्रकाशन, दिल्ली-110032, प्र. सं. 1977.

137. साहित्य का परिवेश - अज्ञेय - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-110002, प्र. सं. 1985.

138. साहित्य का श्रेय और प्रेय - जैनेन्द्रकुमार - पूर्वोदय प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-6, द्वि. सं. 1961.

139. साहित्य का समाजशास्त्र - डा. नगेन्द्र - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2, प्र. सं. 1982.

140. साहित्य मूल्य और प्रयोग - वैजनाथ सिंहल - संजय प्रकाशन, अशोक विहार, दिल्ली-52, प्र. सं. 1985.

141. साहित्यिक निबन्ध - सं. राजनाथ शर्मा - विनोद पुस्तक मंदिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा, सप्तम संस्करण, 1963.

142. साहित्य में सृजन के आयाम और विज्ञान दृष्टि - राजेन्द्रकुमार - प्रकाशन संस्थान, शाहदरा, दिल्ली-32, 1980.

143. साहित्य विवेचन - क्षेमचन्द्र सुमन, योगेन्द्रकुमार मल्लिक - आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-6, तीसरा संस्करण, 1963.

144. साहित्य समाजशास्त्रीय संदर्भ - वी.डी. गुप्ता - सीता प्रकाशन, मोती बाजार, हाथरस-204101 (उप्र) प्र. सं. 1987.

145. सूर और उनका काव्य - डा. हरवंशलाल शर्मा - भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, चतुर्थ संस्करण, 1971.

146. सूर की भाषा - डा. प्रेमनारायण टंडन - हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, 197

147. स्रोत और सेतु - अज्ञेय - राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली, प्र. सं. 1978.

148. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - भाग-14 - (सं) डा. हरवंशलाल शर्मा - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र. सं. सं. 2027.

149. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा. नगेन्द्र - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र. सं. 1973.

150. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 1997.

151. हिन्दी की मार्क्सवादी कविता - संपत्त ठाकुर - प्रगति प्रकाशन, आगरा-3, प्र. सं. 1973.

152. हिन्दी रीतिकाव्य - भगीरथ मिश्र - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6, द्वि. सं. 1963

153. हिन्दी साहित्य और साहित्यकार - सुधाकर पाण्डेय - नन्दकिशोर एण्ड संस, चौक, वाराणसी, 1961.

154. हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना - डा. रत्नाकर पाण्डेय - पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली-110051, प्र. सं. 1976.

अंग्रेजी पुस्तकें

155. Art and Social Life - Plakhanov - People's Publishing House Ltd., Bombay, 1953.

156. Illusion and Reality - Christopher Caudwell - People's Publishing House, New Delhi-1966.

157. Literature and Art - Marx-Engels - Progress Publishers, Moscow, 1976.

158. Manifesto of the Communist Party - Marx Engels - Progress Publishers, Moscow, 1977.

159. Marx, Engles, Marxism - V.I.Lenin - Progress Publishers, Moscow.

160. New Bearings in English Poetry - F.R.Leavis - Penguin Books London, 1972.

161. On Literature - Maxim Gorkey - Progress Publishers, Moscow.

162. On Literature and Art - V.I.Lenin - Progress Publishers, Moscow, Fourth Edn. 1972.

163. On Marx's Teaching - B.T.Ranadive - National Book Centre, New Delhi, 1983.

164. Selected Works Vol.I - Progress Publishers, Moscow, Fourth Ed

165. Selected Works Vol.III - Progress Publishers, Moscow, Third Edn. 1976.

166. The Necessity of Art - Ernst Fisher - Penguin Books, London, 1964.

167. The Sociology of Literature - Alan Swingewood - Macgibon & Kee, London, 1971.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना - जून, 1965.
2. आलोचना - अप्रैल-जून, 1970.
3. आलोचना - अक्तुबर-दिसंबर, 1974.
4. आलोचना - जनवरी-मार्च 1978.
5. आलोचना - अक्तुबर-दिसंबर, 1985.
6. आलोचना - अप्रैल, 1989.
7. दस्तावेज़ - जुलाई, 1985.
8. लहर - सप्तंबर, 1960.
9. लहर - नवंबर, 1967.
10. राष्ट्रवाणी - जनवरी-फरवरी, 1965.
11. माध्यम - नवंबर, 1964.
12. साप्ताहिक हिन्दुस्तान - मई, 1969.